ध्यान और ज्ञान

ध्यान और ज्ञान

•

प्रवचन :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

•

संकलनकर्त्री :

डॉ० सुशीला मित्तल • 'नारायणी'

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 1100
आराधन महोत्सव
19 से 25 नवम्बर 2008

द्वितीय संस्करण : 1100
नवम्बर 2015

●

●

मूल्य : रु. 90/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

द्वितीय संस्करण :

प्रकाशकीय

'ध्यान और ज्ञान'का प्रथम संस्करण अल्पावधिमें ही समाप्त हो गया।

पाठकोंकी निरन्तर माँगसे द्वितीय संस्करण उपलब्ध कराया जा रहा है–जिज्ञासु लाभान्वित होंगे!

–ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई/वृन्दावन

प्रथम संस्करण : 2008

प्रकाशकीय

'ध्यान और ज्ञान' विषय पर मुम्बईमें प्रातः एवं सायं दो स्थानों पर अलग-अलग दृष्टिकोणसे परम पूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीने प्रवचन किये। श्रोताओंको अत्यधिक पसन्द आये और तत्काल चर्चाके विषय बने।

डॉ० सुशीला मित्तलने बड़े मनोयोगसे सुनकर टेपसे लिपिबद्ध कर लिए, परन्तु दोनों समयके प्रवचन मिश्रित हो गये। जिसको साध्वी कंचनने देखकर पुनः 'नारायणी' बेनसे लिपिबद्ध कराया। अन्ततः महन्त स्वामीश्री सच्चिदानन्दजी महाराजकी प्रेरणासे महाराजश्री की परम कृपापात्र श्रीमती मिथिलेश बहनने मैथिली गोकुलशाह वृद्ध सेवा ट्रस्ट, दिल्ली द्वारा इस पुस्तकके प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान करा दिया।

समस्त साधुजनोंको इस सद्कार्य हेतु साधुवाद!

पाठक पुस्तकके पाठसे 'ध्यान' और 'ज्ञान' की स्पष्टता प्राप्त कर लाभान्वित होंगे।

—ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई/वृन्दावन

अनुक्रमणिका

●
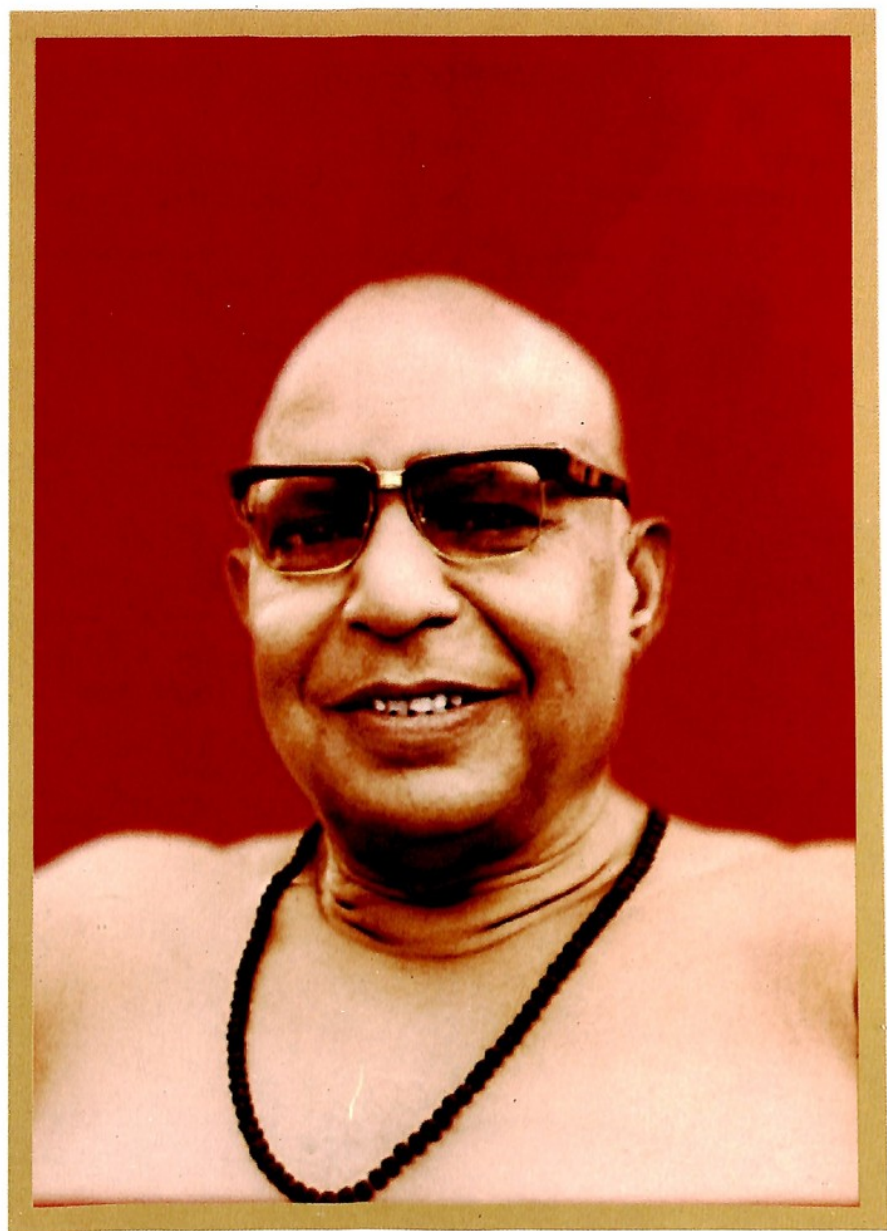
स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

ॐ

ध्यान और ज्ञान

: 1 :

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यनात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमवाद्वयम्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

उद्घाटन-समारम्भाम् वक्तृव्याख्यानमध्यमाम्।
श्रोतृ-श्रवण-पर्यन्तां वन्दे श्रुति-परम्पराम्॥

सबसे पहले एक बात-ये जो शब्द होते हैं—ध्यान, ज्ञान, प्रेम, धर्म, ईश्वर, इनके प्रयोगकी एक परम्परा है। इनके साथ भी एक ऐतिहासिक संस्कृति लगी हुई है। जैसे सूँघनेवाली इन्द्रियको नासिका अथवा घ्राण बोलते हैं, और सुननेवाली इन्द्रियको श्रोत्र अथवा कान बोलते हैं। तो यदि कोई इस बातको उलट दे और सुननेवाली इन्द्रियका नाम तो नासिका रख दें और सूँघनेवाली इन्द्रियका नाम कर्ण अथवा श्रोत्र रख दें और इस ढंगसे कोई बात बोलने लगे, तो श्रोताकी समझमें आना मुश्किल हो जाता है। इसलिए हमारी भाषामें जिस शब्दका प्रयोग होता है, वह जिस अर्थमें शब्दका प्रयोग होता है, अगर उसी अर्थमें उसको ग्रहण किया जाय तो अधिक उसमें गड़बड़ नहीं होती है।

आजकलके उदाहरणके लिए मैं सुनाता हूँ-जैसे अंग्रेजीमें 'कल्चर' शब्द है। उसके लिए संस्कृतमें और हिन्दीमें 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग करते हैं। संस्कृति शब्दका अर्थ निराला है। और 'कल्चर' शब्दका अर्थ निराला है।

जैसे 'रिलीजन' शब्दका प्रयोग करते हैं, तो हमारा संस्कृतका जो 'धर्म' शब्द है, उसका अर्थ 'रिलीजन'में नहीं आता है। तो आजकल बात यह हो गयी कि संस्कृत भाषाकी जो मूल परम्परा है और उसमें जिन शब्दोंका जिस ढंगसे प्रयोग होता रहा है, उसको छोड़कर यदि अंग्रेजीमें-से जो आये हुए शब्द हैं, उनके अर्थके रूपमें हम शब्दोंका अर्थ ग्रहण करते हैं, तो थोड़ी उलटबासी हो जाती है। अंग्रेजीके किसी शब्दके अनुवादके रूपमें आप यदि 'ध्यान' और 'ज्ञान' शब्दका अनुवाद करते हैं और हमारी बात उससे न मिलती हो तो आप उसको उलटा न समझना। और यदि आपने संस्कृतके 'ध्यान' और 'ज्ञान' शब्दको समझकर और अंग्रेजीमें उसका अर्थ लिया है, तब आपसे हमारी बातका कहीं विरोध नहीं पड़ेगा।

पहली बात यह है कि हमारा 'ध्यान' और 'ज्ञान' शब्द परम्परागत है और एक खास अर्थमें उसका प्रयोग होता है। ये पारिभाषिक शब्द हैं संस्कृत भाषाके। अब आपको उदाहरणके रूपसे यहींसे प्रारम्भ करते हैं।

जैसे, ये देखो—फूल, एक पत्ता, रूमाल। एक हाथमें तीन चीजें आयीं, यह हाथकी चंचलता हुई। अब हाथकी चंचलतामें मनकी चंचलता तो है ही और ज्ञानकी चंचलता भी है। वृत्ति ज्ञान, बहता हुआ ज्ञान। वृत्तियोंकी चंचलता भी है, अब तीन चीज मान लो न उठावें, चुपचाप हाथ बैठा है तो हाथ जड़ है ऐसा भी हो सकता है। और, हाथ चेतनसे एक हो गया है, ऐसा भी हो सकता है।

अच्छा, अब हम बार-बार हाथसे रूमालको ही उठावें! एक ही रूमालको, दो, तीन, पाँच रूमालको नहीं। एक बार एक, दूसरी बार दूसरा, तीसरी बार तीसरा, चौथी बार चौथा-ऐसे चार रूमालको चार बार

नहीं उठावें। एक ही रूमालको रखें-उठावें, रखें-उठावें। तो उसको हाथकी 'एकाग्रता' बोला जायेगा भला! अब उसमें मनकी एकाग्रता तो है ही। यदि एक ही रूमालको उठाकर अपने हाथमें रोक लें तो उसका नाम 'ध्यान' हो जायेगा और, हाथमें रूमाल है कि नहीं, माने हाथमें रूमाल लेकर, हाथ और रूमाल दोनोंका अर्थ पकड़ने और पकड़े जानेका खयाल छूट जाय तो ऐसा समझो कि हाथ और रूमाल दोनोंकी समाधि हो गयी। अभी हम ज्ञानको नहीं छूते हैं। ज्ञानके बिना तो कोई व्यवहार होता ही नहीं, जब एक व्यवहार करते हैं तो उसमें ज्ञानको मिला देते हैं। और जब विवेक करते हैं तो ज्ञानको व्यवहारसे निराला करके देखते हैं और जब ज्ञानके स्वरूपका साक्षात् अनुभव हो जाता है तो न ज्ञानका विषय अलग रहता है, न ज्ञानमें अनेकता रहती है। अखण्ड ज्ञान ही परिपूर्ण है। वह अपनी आत्मा है, ब्रह्म है। और जैसे हमें बार-बार देहको याद रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती, कि 'मैं देह हूँ', 'मैं देह हूँ', 'मैं देह हूँ'—ऐसे 'मैं आत्मा हूँ', 'मैं चेतन हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसको कभी याद रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

तो देखो, विकार और उसके लिए संस्कार और संस्कारके बाद अविकृत और असंस्कृत अपना स्वरूप है। ज्ञानकी पराकाष्ठाके सम्बन्धमें शंकराचार्य भगवान्‌ने यह पुराना श्लोक उद्धृत किया है। उनका नहीं है यह—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स जीवन्नपि मुच्यते॥

अपने देहके 'मैं' होनेका जैसा ख्याल एक संसारी मनुष्यको है, उसको कभी चौबीस घण्टेमें याद करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ती कि 'मैं देह हूँ' और देहसे सारे व्यवहार हो रहे हैं। देह सोता है, देह जागता है, देह खाता है, देह पीता है, देह चलता है, देह बोलता है, देह भोग करता है—लेकिन 'मैं देह हूँ' यह वृत्ति बनानेकी जरूरत नहीं पड़ती। इसी तरह अपनी आत्माके सच्चे स्वरूपके सम्बन्धमें जिसको ज्ञान हो जाता है,

उसको न मरते समय, न सोते समय, न सपना देखते समय, न कुछ करते समय कभी भी उसको यह याद करनेकी जरूरत नहीं पड़ती कि 'हम आत्मा हैं' कि 'हम ब्रह्म हैं' कि 'हम चेतन हैं।'

देखो, अभी यह मैंने जो बात सुनायी आपको कि फूल, पत्ता, घड़ी, रूमाल—यह चित्तकी चंचलता है। बार-बार चित्त भिन्न-भिन्न वस्तुओंको पकड़ता है। परन्तु; यदि सच्चा ज्ञान हो गया हो तो इस चंचलतासे कोई हानि नहीं है। भले ही मन हजार-हजार विषयको पकड़ता रहे। उसको 'बाधित' बोलते हैं।

परन्तु सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए क्या करना चाहिए? यह भी तो एक सवाल पैदा होता है। तो—जरा ध्यान देना पड़ेगा। तो आपने जब जैसे पाँच चीजोंको हाथसे उठाया और छोड़ा, वैसे एक ही चीजको मनसे पकड़ो और छोड़ो। तो अब उसमें भी जैसे 'जय रामजीकी', 'जय कृष्णजीकी', 'जय गोपालजी की', 'जय गणेशजी की'—सबको बोलते हैं न? तो वह कैसा हुआ? वह तो पाँच चीज हुई न? पाँच आकार हुआ, पाँच नाम हुआ, पाँच बार बोला गया। उसमें से जब ध्यानके मार्गमें आप चलना चाहेंगे तो किसी एक आकारको पकड़ना पड़ेगा। तो योगीलोग कहते हैं कि भले तुम पत्तेको पकड़ लो, फूलको पकड़ लो। हठयोगी लोग कहते हैं कि एक हीरा रख लो सामने, एक नीलम रख लो। हरी-हरी चीजको वे ज्यादा पसन्द करते हैं। पन्ना रख लो, हीरा रख लो और उसीको बार-बार मनसे पकड़ो और जब वह पकड़में आ जाय, तो उसीको थोड़ी देरके लिए रोक लो। अच्छा, अब इसमें एक आपत्ति है कि जिसमें हम अपने मनको रोक लेते हैं, उसमें माहात्म्य-बुद्धि है कि नहीं? तो यदि माहात्म्य-बुद्धि होगी कि यह महान् वस्तु है और उससे प्रेम होगा। गुण बुद्धि होगी पहले और गुण बुद्धि होनेके बाद प्रेम होगा तब उसमें मनका स्वारसिक प्रवाह हो जायेगा। मनकी धारा उसमें बहने लगेगी।

जैसे 'कृष्ण-कृष्ण' बारम्बार बोलो, 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण'! तो 'कृष्ण'में ईश्वर-बुद्धिकी स्थापना की हुई है। शिव-शिव-शिव इसमें

ईश्वर-बुद्धिकी प्रतिष्ठा की हुई है। जिस साधकको यह साधना बतायी जाती है, उससे यह नहीं कहा जाता है कि 'यह बिल्कुल झूठी है।' यदि उसको यह बात बतायी जाय कि यह बात कल्पना है, झूठी है तो उसकी साधनाकी जो नींव है, वह कट जाती है और, जिस अभिप्रायसे यह साधना की जाती है, उस अभिप्रायका ही लोप हो जाता है। अभिप्राय तो यह है कि उसकी महिमाका हम वर्णन करें, उससे प्रेम हो जाय और बार-बार मन उसीको पकड़े। उसमें एकाग्रता हो जाय।

तो बोलो, भाई, इस एकाग्रतासे क्या फायदा? इस एकाग्रतासे फायदा यह हुआ कि संसारमें वासनाके कारण जो मन कभी स्त्रीमें, कभी धनमें, कभी बच्चेमें भटकता रहता है, तो जब यह बात सुनायी गयी कि 'यह कृष्ण तुम्हारा बच्चा है, यह कृष्ण तुम्हारा पति है, यह कृष्ण तुम्हारा स्वामी है, यह कृष्ण साक्षात् परमेश्वर है'—तो श्रीकृष्णमें ही महत्त्व बुद्धि हो जानेके कारण उसकी वासना हो गयी।

ध्यानमार्गियोंका यह कहना है कि वासना ध्यानसे नहीं कटती। असलमें वासना वासना से कटती है जहाँ तुमको स्वाद आ रहा है। ब्रह्मचर्यकी महिमा मालूम होने पर भी उसका स्वाद मालूम नहीं है। सत्य बोलना महत्त्वपूर्ण होने पर भी उसका स्वाद मालूम नहीं है। उसमें एक स्वाद आता है। जब वह स्वाद आने लगेगा तब मन उसमें ऐसा फँसेगा, ऐसा फँसेगा, कि जो तरह-तरहकी वस्तुओंकी वासना है, वह वासना कट जायेगी। तो उसको काटनेके लिए, चंचलताको काटनेके लिए इन महत्त्वपूर्ण वस्तुओंका ध्यान नहीं किया जाता। किसी वस्तुमें महत्त्वकी स्थापना करके जो ध्यान किया जाता है, वह वासना काटनेके लिए किया जाता है। वासनाका व्यावर्तक होता है प्रेमपूर्ण ध्यान।

अब प्रेमपूर्ण ध्यान यदि किसी लड़कीका करोगे कि लड़केका करोगे तो शारीरिक संगकी संभावना होनेसे उसमें फिर लौकिक वासना आ जायेगी और ऐसेका ध्यान करो जिससे शारीरिक संगकी संभावना नहीं है, तो उसमें लौकिक वासनाका उदय नहीं होगा।

अब आप देखो, हम आपकी आधुनिक बातको पुरानी भाषामें बोलते हैं। हमारे गुरुजी, जिनसे मैंने 18-19 वर्षकी उम्रमें दीक्षा ग्रहण की थी, तो वह क्या करते कि आठ बजे प्रातः काल गंगास्नान आदिसे निवृत्त होकर बैठ जाते। मैंने उनसे विधि-पूर्वक जैसे दीक्षा होती है, दीक्षा ग्रहण की थी। अब हम उनकी सहायता करते। अपने गुरुजीका एक बड़ा भारी चित्र अपने सामने उन्होंने रख लिया था और उसीकी पूजा करते। तो वे क्या कहते कि—'हमारे गुरुजीके शरीरमें-से नारायण निकल कर आते हैं और मैं उनकी पूजा करता हूँ, फिर वे उसीमें समा जाते हैं। हमारे गुरुजीके शरीरमें से शिवजी निकल कर आते हैं, उनकी मैं पूजा करता हूँ और फिर वे उसीमें समा जाते हैं।' राम आते हैं, कृष्ण आते हैं, देवी आती हैं, रामकृष्ण परमहंस आते हैं। सब उसमें-से निकल-निकल कर आते हैं। वे कहते थे कि 'ये जितने भी देवी-देवता हैं, राम-कृष्ण-सीता-राधा-लक्ष्मी-नारायण-गौरीशंकर ये शक्ति और शक्तिमान् ईश्वर, ये सब हमारे गुरुजी महाराजके बच्चे-कच्चे हैं।' ऐसे वे बोलते थे। माने 'नारायणके, शिवके, रामके, कृष्णके, शक्तिके, यहाँ तक कि जिसका नाम ईश्वर सृष्टिमें रखा जाता है, उसके भी पिता हमारे गुरुदेव ही हैं।' ऐसे वे बोलते थे।

अब कोई कहेगा कि ये जितने माने हुए ईश्वर हैं, वह तुम्हारी स्वीकृति है। देखो, अब प्राचीन भाषामें श्रद्धाका भाव होनेसे ये हमारे गुरुजीके संकल्प हैं। ये हमारे गुरुजीके मानसपुत्र हैं। ये गुरुजीने कृपा करके हमारी उन्नतिके लिए आधारके रूपमें हमको दिया है—एक तो यह भाषा हो गयी और एक भाषा यह होगी कि यह हमारे मनकी कल्पना है। तो जो कहेगा कि यह हमारे मनकी कल्पना है, वह इस ध्यानका अधिकारी बिल्कुल नहीं है, क्योंकि जिसकी महत्त्वबुद्धि होगी उसका प्रेम होगा और प्रेम होगा तो उसमें उसके लिए वासना की उत्पत्ति होगी और—

आपसमें समसत्ता जिनकी लखि साधक बाधकता तिनकी।

—(विचारसागर)।

वासना वासनाको काट देगी। बराबरीकी चीज जो होती है, वही बराबरीकी चीज़को काटती है। शरीरमें प्यास लगी हो तो मानसिक जलपान उस प्यासको नहीं काट सकता। और सपनेमें सरोवर भरा हो और शरीरमें प्यास लगी हो तो सपनेका सरोवर नहीं काट सकता। इसलिए जो जिस भूमिकामें बैठा हुआ है, उसके लिए उसी भूमिकाका साधन चाहिए।

देखो, हमने इसलिए बताया कि, जरा आप इसकी संगति पर ध्यान करें। एक व्यक्ति बोलेगा, 'मिथ्या कल्पना है;' एक व्यक्ति बोलेगा कि 'यह तो हमारे गुरुजीके पुत्र हैं, हमारे गुरुजीके संकल्प हैं, हमारे गुरुजीके भात्र हैं और हमारे कल्याणके लिए गुरुजीने हमारे हृदयमें इनको प्रतिष्ठित किया है।' एक श्रद्धाकी भाषा होती है और एक रूखे-सूखे लोग जो ध्वंसके मार्गमें चलते हैं, उनकी भाषा होती है। आपको सीधी-सीधी बात हम सुनाते हैं।

अब आगे चलो—अब मनको कैसे रोकना? तो जिससे प्रेम हो जायेगा बार-बार वही आता है। हमने कोई आराधना की है, भला! हमने पहले कोई ध्यान किया है सगुणका, साकारका, तो हमको ऐसा लगता था कि वह हमारे हृदयसे निकलके बिल्कुल सटा रहता है। तो कभी निकलकर बिल्कुल ऊपर आता है और हमारी आँखको चूम लेता है, हमारे कपोलको चूम लेता है, कभी हमारी आँख-से-आँख मिलाता है और कभी बड़े प्रेमसे हमारे हृदयसे सट जाता है। हमारी यह जो भावना थी, आप अपनी भाषामें—आप लोग आधुनिक युगके व्यक्ति हैं, तो अपनी भाषामें भले इसको कल्पना कह दीजिए, परन्तु कल्पना दो तरहकी होती है। एक वासनाको शिथिल करनेवाली कल्पना और एक वासनाको बढ़ानेवाली कल्पना। तो वासनाको शिथिल करनेवाली कल्पनाको 'भावना' कहते हैं। लेकिन यह देखो—यह प्राचीन शब्द है भला! है वह कल्पना, लेकिन वह हमारे जीवनमें उपयोगी है कि नहीं? वह उपयोगी है।

योगकी भाषामें इसको अक्लिष्ट विकल्प बोला जाता है। अब योगकी भाषामें एकको क्लिष्ट विकल्प बोलते हैं और एकको अक्लिष्ट विकल्प बोलते हैं।

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रास्मृतयः।

ये पाँच वृत्ति हैं और इन पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमें एक क्लेशयुक्त होती है और एक क्लेश मिटानेवाली होती है। विकल्प शब्दका जब तक हम पारिभाषिक अर्थ न बतावेंगे बात समझ नहीं आवेगी! विकल्प माने होता है कि शब्दसे तो ज्ञात होवे; परन्तु वस्तुरूपसे न होवे। उसका नाम योग भाषामें 'विकल्प' है। यह विकल्प हमारे मनमें बार-बार आता रहता है, तो इस विकल्पमें-से जो साधक अंश है, उसको ग्रहण कर लेना और जो बाधक अंश है उसका परित्याग कर देना। तब आपकी ध्यानकी भूमि बनेगी।

अब ध्यानकी भूमि बनानेके लिए आगे क्या करना पड़ेगा? आपको यदि बहुत शौक हो तो वेदान्तकी दृष्टिकी बात बहुत जल्दी सुना दें, लेकिन उसको सुननेके लिए पहले जो पृष्ठभूमि, जो धरातल है वह तैयार होना चाहिए। उसके लिए पहले आप यह बात देखो कि एक ही चीजको बारम्बार पकड़ना—पकड़ना-पकड़ना और उसमें महत्त्वबुद्धि बुद्धि भी हो और प्रेम भी हो। तो उसका नाम एकाग्रता तो हो गया। योगकी भाषामें उसको एकाग्रता बोलते हैं।

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ।—(यो. सू. 3-12)

जो प्रत्यय शान्त हो, वही प्रत्यय उदित हो। जो घटाकर शान्त हो, वही घटाकर उदित हो। घड़ा तो घड़ा ही होता है। लेकिन एक घड़ा वह होता है जिसपर स्वस्तिक बना कर और पल्लव और धान्यकी स्थापना करके और गलेमें सूत्र बाँध करके—'वरुणस्य स्तम्भनमसि' मन्त्रसे वरुणदेवकी प्रतिष्ठा करके और फिर 'यह वरुण देवता हैं', यह कलश नहीं है, वरुण देवता हैं। एक तो उस कलशका ध्यान होगा। तो इसमें महत्त्वपूर्ण बुद्धि हो गयी। क्या हो गयी? कि देवता हो गयी। और देवता

होनेसे उसमें थोड़ा आदर हो गया। और आदर हो जानेसे उसमें थोड़ी भक्ति हो गयी। उसमें भक्ति होनेसे यदि उस समय परस्त्री चिन्तन होने लगे या चोरीका चिन्तन होने लगे तो आप कहेंगे कि—'अरे राम! देवताका स्मरण करते समय यह क्या परस्त्रीका, क्या जुएका, क्या चोरीका, क्या शराबका चिन्तन करता है?' वह जो महत्त्वपूर्ण बुद्धि है, उसमें वह आपकी बुद्धिको वहाँसे, वासनासे मुक्त करनेमें—वासनासे नहीं, ख़ास करके दुर्वासनासे मुक्त करनेमें वह देवता बुद्धि समर्थ, होगी। यदि आप केवल 'घड़ा-घड़ा-घड़ा' बारम्बार घड़ेका ध्यान करेंगे तो उससे भी आपके मनमें एकाग्रता होगी। लेकिन वह दुर्वासना-निवारणमें समर्थ नहीं होगी, क्योंकि जब उस समय परस्त्री मनमें आवेगी, जुआ खेलना मनमें आवेगा, उस समय दुर्वासना मनमें आवेगी तो अकेला घड़ा आपके मनको शुद्ध नहीं कर सकता। जिसमें वरुण बैठा हुआ है, आपके मनमें, वह घड़ा उसको दूर कर सकता है।

नारायण! अब यहाँसे बातको प्रारम्भ करते हैं। अब ध्यान क्या होता है? यह जो एकाग्रतामें बार-बार-बार वृत्तिका प्रवाह है, इसकी जगह पर आप अपनी वृत्तिको एकाकारतामें रोक लीजिये। असलमें निराकारता भी एक आकारता है। आप आकारका अर्थ भी पुरानी बोलीमें पहले समझें। पुरानी बोली क्या है आकारताकी? कि जो एकसे अलग हो मनमें भिन्न-भिन्न दो स्थितियाँ पैदा होती हैं। एक समझो आपका मन एक समय निर्वृत्तिक है, निर्विषय है और एक समय आपके मनमें विषय आता है। तो एक विषयवाला मन और एक बिना विषयवाला मन।

तो सामान्यरूपसे जो गाँवके साधक हैं, वे समझते हैं कि जितने समय घड़ी मनमें रही, उतने समय तक तो विषय मनमें रहा और जितने समय तक घड़ी या घड़ीके भाई बन्धु—बच्चे-कच्चे मनमें नहीं हैं, उतने समय मन निर्विषय रहा। लेकिन तत्त्वज्ञान की दृष्टिसे यह बात ग्राह्य नहीं है। क्योंकि जिस समय मनमें विषय रहा और जिस समय मनमें विषय नहीं रहा, उन दोनों समयोंमें भेद है कि नहीं है? तो दोनों समयोंमें इतनी

देर तक मनमें विषय नहीं रहा, हमारे मनमें तो और वृत्तियोंसे वह निराली वृत्ति हो गयी। उसका एक समय हुआ, उसका एक स्थान हुआ, उसका एक आकार हुआ और वह भी बनायी हुई। कर्त्ताके द्वारा कृत्रिम रूपसे उत्पन्न की गयी और जिस समय आकार रहा कि हम घटाकारको ही अपने हृदयमें स्थापित करेंगे, उस समय भी एक आकार रहा चित्तमें, वह भी कृत्रिम रहा, और वह भी कर्त्ताके द्वारा उत्पन्न किया गया।

तो, चाहे चित्तकी स्थिति आकार सहित हो और चाहे निराकार और दोनोंको जब हम रोक कर रखते हैं, तब उसमें एक प्रकारका प्रयत्न उत्पन्न होता है और जब प्रयत्न उत्पन्न होता है तो वह तनावपूर्ण ही स्थिति कही जायेगी। चाहे आप अपने मनको साकार करके रखें और चाहे निराकार करके रखें। निराकार करके रखनेमें भी जोर लगाना पड़ता है कि हमारे मनमें कोई बात आने न पावे।

समझो, एक आदमीने बिल्लीको घरमें घुसा लिया और डरता हुआ बैठा है कि यह बिल्ली कब दूध पी जाय, कब दही खा जाय, कब कोई चीज गिरा दे! और बिल्लीसे डर रहा है। और, एक आदमी ऐसा है, जो डण्डा लेकर दरवाजे पर बैठ गया और कहा, 'हम बिल्लीको घरमें आने नहीं देंगे।' मनो-वृत्तिकी दृष्टिसे दोनोंमें कर्तृत्व ही है। चाहे आप बिल्लीको घरमें घुसा कर उससे सावधान रहो और चाहे आप बिल्लीको घरके बाहर रख करके उससे सावधान रहो। दोनोंमें कर्त्तापनका थोड़ा-सा हिस्सा लगा हुआ है। और यदि आप दोनोंमें से किसी स्थितिको कायम रखना चाहते हैं तो वह स्थिति थोड़ी देरके लिए कायम हो जायेगी और उसी स्थितिको कहेंगे कि यह ध्यान हो गया।

परन्तु; असलमें यह स्थिति भी ध्यानका बहुत निचला रूप है, बल्कि इसको ध्यान कहनेकी कोई जरूरत नहीं है। ध्यानमें सहजता लानेके लिए ध्यानको समाधिकी ओर उन्मुख करना पड़ता है। अभी द्रष्टा महाराजको मैंने छोड़ रखा है। कहीं संतसमाज में सुनकर आया था। पुराने जमानेकी बात है। उन्होंने बताया कि इन दोनों आँखोंका सूत एक

जगह जाकर मिलता है। माने दोनों आँखोंको एक सूतमें ले लो। एक सूतमें कैसे लो? दोनों आँखोंकी पुतली एक सूतमें नीचे हो गयी और दोनोंमें-से एक-एक सूत निकाल कर एक जगह ले जाकर मिला दो। तो दोनोंकी रश्मियोंका सूत एक जगह मिलता है। तो वहाँ तीसरा तिल त्रिकुटी है और वह शिवजीका ज्ञाननेत्र है।

अब महाराज मैंने क्या किया, कि मैंने बैठ कर ध्यान शुरू किया। जैसे दो आँख हमारे हैं वैसे एक आँख हमारे और है। अब उसमें भी जैसे यह आँख होती है, वैसी तो बनावट मालूम पड़े। और बीचमें यह जो काली-काली जगह हैं, यह भी मालूम पड़े और उसमें काली पुतली मालूम पड़े। मैं उसको ध्यानमें देखूँ। अब आप बताओ, जो मैं काली पुतलीवाली आँख भीतर देख रहा हूँ, वह आँख है कि भीतर देखी जानेवाली वस्तु? असलमें वह तो विषय है। वह जो आँख भीतर दिखायी पड़ रही है। वैसे ही भीतर यह एक आँखकी कल्पना हो रही है। फिर सोचा कि 'इस आँखके द्वारा, बाहर कुछ दिख रहा है? क्या दिख रहा है?' कि 'शिवलिंग दिख रहा है।' इसके द्वारा प्रकाश दिख रहा है। इसके द्वारा खाली जगह दिख रही है। बिलकुल सूनी जगह इसके द्वारा दिख रही है। हमने चाहे जो कुछ भी सोचा हो, आप यह सोचिये कि आप जिस काली आँखके द्वारा, भीतर वाली काली पुतलीके द्वारा यह सब देख रहे हैं, वह आपका दृश्य है कि वह आपका द्रष्टा है? तो वह जैसे रूमाल है, उसी तरहसे वह काली-सी पुतली आपको भीतर दिखायी पड़ रही है। तो वहाँ आप ध्यानकी गहराईमें नहीं जा रहे हैं, बल्कि ध्येयकी गहराईमें घुस रहे हैं। ध्यानका जो विषय होता है वह ध्येय होता है। वह ध्यान नहीं होता है।

हमारे तो योगमतमें ध्यानकी परिभाषा दूसरी है, सांख्यमतमें ध्यानकी परिभाषा दूसरी है, भक्तिमतमें ध्यानकी परिभाषा दूसरी है और मीमांसामतमें ध्यानकी परिभाषा दूसरी है, नारायण! और ये जो उपासकलोग हैं शैव-शाक्त आदि, इनकी ध्यानकी परिभाषा दूसरी है,

और वेदान्तकी ध्यानकी परिभाषा दूसरी है। वे कहते हैं कि ध्यान चाहे जैसा भी करो, ध्यान चाहे जैसा भी रखो, चाहे जितना भी छोड़ो, जो लगानेसे लगा है और बादमें टूट जायेगा, वह ध्यान तो है; परन्तु न वह ज्ञान है और न तो वह वस्तु है। वह सद्वस्तु भी नहीं है। जो लगानेसे मिलता है और छोड़ने पर छूट जाता है। जो छोड़ने पर छूट गया वह कोई दूसरा होगा और जो बुलाने पर आया वह भी कोई दूसरा होगा। वह अपना स्वरूप नहीं होगा।

अब देखो, एक जरा-सी बात और सुनाता हूँ। उसको आप वस्तुकी प्रस्तावना समझ लेना। वेदान्तमतमें ध्यानको विषय-विक्षेपको मिटानेके लिए ही स्वीकार किया जाता है, वस्तुका साक्षात्कार करनेके लिए नहीं। इसमें बहुत फर्क है। वेदान्तकी दृष्टिसे ध्यान वस्तुके ज्ञानका साक्षात् साधन नहीं है। बल्कि अन्य विषयक जो चंचलता है, उस चंचलताके निवारण द्वारा ज्ञानमें सहायक है।

ध्यान ज्ञानमें सहायक है, परन्तु अन्यके निषेधमें सहायक होकर। ज्ञानसे ध्यान होता है यह भी सही है। परन्तु विषयका जैसा-जैसा ज्ञान होगा, उसका वैसा-वैसा ध्यान होता जायेगा, ब्रह्मज्ञान जो है, वह न ध्यानजन्य है और न ध्यानजनक है। न वह ध्यानका पुत्र है, न वह ध्यानका पिता है। ब्रह्मज्ञान न किसीका बेटा है, न किसीका बाप। ब्रह्मज्ञान तो साक्षात् ज्ञानब्रह्म है। जो वृत्तिज्ञान उत्पन्न किया जाता है, उसकी स्थिति दूसरी है। वह तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। वह भी रहनेवाला नहीं है। और ध्यान जो किया जाता है, वह होकर टूट जाता है क्योंकि जो पैदा होता है, वह टूटता है। तो ध्यान ज्ञानमें किस रीतिसे सहायक है?

ध्यान ज्ञानमें अन्य विषयोंको हटानेके द्वारा सहायक है और ज्ञान ध्यानमें कैसे सहायक है? ध्येय विषयक जो ज्ञान है, उसके रूपमें हमारी बुद्धिमें आकरके ज्ञान ध्यानमें सहायक है। तो इसको इष्ट विषयक ज्ञान, विवेकका ज्ञान, अविद्याकी निवृत्तिका ज्ञान और स्वरूपभूत ज्ञान—ऐसे

ज्ञान शब्दका भिन्न-भिन्न रीतिसे प्रयोग किया जाता है। तो आप कहीं जाकर बाजारमें सुन आवें, किसी जगह कि ज्ञान ध्यानका साधन है, तो हम उसका खण्डन नहीं कर सकते। क्योंकि बिना इष्टका ज्ञान हुए ध्यान लगेगा कैसे? परन्तु वह इष्टका ज्ञान होगा अद्वयतत्त्वका ज्ञान नहीं होगा।

अब कोई कहे कि बिना ध्यानके ज्ञान नहीं हो सकता, तो वह ठीक है। बिना दूसरोंको हटाये ज्ञान होगा कैसे? बोले-'भाई ज्ञान और ध्यान दोनों एक साथ रहते हैं।' हाँ, जब समाधि लगती है तो उस समय ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद समाधिमें नहीं रहता है। यह बात भी बिल्कुल ठीक है। लेकिन तुम बाजार में तो सुन आओगे, परन्तु तुम्हारे जीवनमें उतरना चाहिए।

यह जो आपकी जीवनधारा है, वह तो अनन्त, अखण्ड बह रही है। और उसमें एक शरीर जो है, वह पानीमें तरंगकी तरह, पानीमें बुलबुलेकी तरह-जैसे समुद्रमें एक बुलबुला होता है, वैसे ज्ञानकी अखण्ड धारामें यह ब्रह्माण्ड और तुम्हारा शरीर उसके एक बुलबुलेके बराबर भी एक कणके बराबर भी नहीं है। तो ऐसी स्थितिमें अनन्त ज्ञानस्वरूप ज्ञान और जीवन एक। भला! जीवन माने दैहिक जीवन नहीं! जो माँ-बापसे पैदा हुआ और एक दिन आगमें जला दिया जायेगा। व्यष्टिका समष्टिमें लय कर दिया जायेगा। मिट्टीमें गाड़ दो या पानीमें बहा दो और आगमें जला दो, हवामें सुखा दो, वह नहीं। एक दिन चाहे यह सूखे चाहे रहे। मेंढक गर्मीके दिनोंमें मर जाता है और बरसातके दिनोंमें फिर पैदा हो जाता है तो ऐसे जीवनकी अखण्ड धारामें यह शरीर मृत्युकी गर्मीमें झुलस जाता है और फिर जब वासना की बरसात आती है तो फिर पैदा हो जाता है।

तो यह जीवन, यह जो शरीर है, यह तो बनता और बिगड़ता है, परन्तु इसके भीतर जो अखण्ड जीवनकी धारा है, वह अखण्ड जीवनकी धारा देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ही है और उसको बनाना नहीं है, वैसा। वह तो वैसा है-ही-है। तो, नारायण! ध्यान जो है, ध्यान और

ज्ञान, इसमें सामान्य रूपसे मानसिक कृतित्व जहाँ रहता है, उसका नाम ध्यान होता है और जहाँ मानसिक कृतित्वका लोप हो जाता है, उसका नाम समाधि होता है। और जहाँ तत्त्वज्ञानके द्वारा कृतित्व बाधित हो जाता है, वहाँ तत्त्वज्ञान होता है। तत्वज्ञान!!

तो, मानसिक कृतित्वकी उपस्थितिका नाम ध्यान है और मानसिक कृतित्वकी शान्तिका नाम समाधि है और मानसिक कृतित्वके अधिष्ठान ज्ञानके द्वारा—अन्ध ज्ञानके द्वारा नहीं—स्वयंप्रकाश आधिष्ठान ज्ञानके द्वारा जो कृतित्वका बाध है, उसको ज्ञान बोलते हैं। इसको हम धीरे-धीरे आपके सामने भिन्न-भिन्न रीतिसे ज्ञान-ध्यान कैसे होता है, वह सुनावेंगे।

आज मैं सबेरे पढ़ रहा था, वह हमको याद आगयी। मैंने कल 'दादा'से पुस्तक निकलवायी—'पद्मपुराण'। 'पद्मपुराण'के 'भूमिखण्ड' में वर्णन आया है कि जीवात्माजीसे आकर बुद्धिने कहा—'हे जीवात्मा! पाँच चोर तुम्हारे पास आवेंगे तुम जरा उनसे सावधान रहना!' तो जीवात्माने कहा—'ठीक बात है।' बोले—'तब हमको करना क्या चाहिए?'

बोले कि 'दो महात्मा निवास करते हैं एकका नाम है ध्यान, एकका नाम है ज्ञान। उन दोनों महात्माओंका तुम सत्संग करो। तुम्हारा कल्याण रहेगा और यदि तुम दोनोंका सत्संग छोड़ दोगे तो तुम्हारा बड़ा अमंगल होगा।'

अब महाराज, इसके बाद वह जो पाँचों चोर हैं, बड़े मीठे-मीठे बन कर, सुन्दर-सुन्दर रूप बना करके जीवात्माके पास आये, और अब जीवात्माने मना किया कि 'भाई, हमको तो मालूम है कि तुम लोग बड़े भयंकर हो। हम तुमसे दोस्ती नहीं करेंगे।'

अब उन्होंने अपनी तारीफ करनी शुरू की कि—'हम तो धरती हैं, हम पानी हैं।' धरतीने कहा—'हम बढ़िया सुगंध देंगे तुमको।' पानी ने कहा—'हम बढ़िया स्वाद देंगे तुमको।' तेजने कहा—'हम

तुमको बढ़िया रूप देंगे।' वायुने कहा—'बढ़िया सुकुमार स्पर्श देंगे।' आकाशने कहा-'हम संगीत सुनावेंगे।' तो प्रलोभन दिया उसको और वह उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तो फिर बुद्धि आयी और बोली कि—'आखिरमें तुमने ध्यान और ज्ञानका संग छोड़ दिया न? ये बड़े भयंकर हैं। इनके अन्दर एक मोह बैठा हुआ है। मोह! इनके अन्दर मोहका जहर है, वह तुमको चढ़ जायेगा। उनके भीतर तुम फँसना मत!' अब ऐसे कहकर फिर बुद्धि चली गयी। और फिर चली गयी तो फिर ये पाँचों आये और अन्तमें जीवात्माजीने इनकी बात मान ली। मान ली तो वे बोले कि—'देखो, हम लोगोंका भोग करनेके लिए शरीरधारी होना पड़ेगा।'

तो जीवात्माजीको गर्भमें ले आये। तो इनको बड़ी तकलीफ होय! बोले—'हम तो जाते हैं बाबा!'

वे बोले—'नहीं बाबा, थोड़ी तकलीफ तुम सह लो! मीठी-मीठी चीज खानी पड़ती है तो थोड़ी प्रतीक्षा तो करनी ही पड़ती है, बिना तपस्याके तो कोई फल मिलता नहीं है। तो गर्भवासका दुःख तुम सह लो। और, शरीरको ग्रहण कर लो। तो बादमें चलकर हम लोग तुमको बहुत-बहुत सुख देंगे।' ऐसा करके वे जो पाँचों हैं, वे जीवात्माको फँसा करके शरीरमें ले आये।

अब फिर बुद्धि आयी। बोली कि—'तुमने बड़ी गलती की जो तुमने ज्ञान और ध्यानको छोड़ दिया।' उसका नाम ही 'ध्यान-ज्ञानका अध्याय है।' तो वह बड़ी विस्तृत पाँच अध्यायोंमें कथा है। मैं थोड़ी-थोड़ी करके किसी-किसी दिन सुनाया करूँगा।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 2 :

हमारे जो उपासक लोग हैं, वे ऐसा ध्यान किया करते थे कि हमारे शरीरके भीतर एक पापपुरुष है, पुरुषाकार पाप। जैसे हम हैं आदमीके रूपमें, ऐसे ही आदमीके रूपमें एक पाप निवास करता है। उसका ध्यान करते हैं। उसका रंग बड़ा भयंकर काला है और मुँह बड़ा विकट है। आँखोंमें लाली है और हाथमें अस्त्र-शस्त्र हैं। वह हमें मारनेके लिए उद्यत है। इसके बाद क्या करते?

एक मंत्र पढ़कर मन-ही-मन उसके ऊपर जलका छींटा मारते तो वह मर जाता। तो उसका मुर्दा बन गया। मुर्दा बन गया तो उसके ऊपर चार घड़ा पानी डाल दिया, धो-पोंछकर फिर एक चिता बनायी। चितापर उसको चढ़ा दिया सबके मंत्र हैं अलग-अलग। फिर 'रं' मंत्र पढ़करके उसमें आग लगायी गयी। तो पापपुरुषकी होली जल रही है, चिता जल रही है। राख हो गयी, बिलकुल राख हो गयी। तो फिर अमृतसे उसको सींच दिया। फिर उसका पिण्ड बन गया। तो फिर एक पुतला बनाया गया उसके पुण्यका। फिर उसमें प्राणप्रतिष्ठा की पुण्य-पुरुषकी।

हम भी कुछ सिद्धान्त आपके पास रखना चाहते हैं। ये गाँवके लोग इस बारेमें कुछ जानते नहीं हैं। तो, जो आता है वही उनको बेवकूफ बनाकर चला जाता है। क्योंकि कुछ होता-हवाता तो है नहीं। क्योंकि इसकी एक पद्धति होती है।

एकने कहा कि 'यह हमारी पत्नी है और यह हमारा पति है।' और बीचमें एक गाँवका आदमी आगया। तो उसने कहा—'यह बिलकुल

गलत है। तुम दोनों एक घरमें पैदा नहीं हुए, एक साथ पैदा नहीं हुए, एक समय पैदा नहीं हुए। यह कहाँ और वह कहाँ? तुम जो अपनेको पति-पत्नी मानते हो, यह तो तुम्हारी स्वीकृति है। तुम्हारी स्वीकृति, तुम्हारी मान्यता है।'

बोले—'लो, यह तो बिलकुल ठीक कहता है।'

तो अब इससे जो दुश्चरित्र थे उनको यह मौका निकला कि पति-पत्नी तो दरअसल कुछ नहीं हैं। केवल एक स्वीकृति, एक मान्यता मात्र है। पापियोंके एक लिए एक मौका निकला कि नहीं निकला? 'अरे, यह तो एक मान्यता-मात्र है, स्वीकृति-मात्र है। कुछ नहीं है। इसके बन्धनमें पड़ना पिछड़े हुए बेवकूफ लोगोंका काम है। पुराने ढंगके लोगोंका काम है।'

आप नाराज मत होना! हम आपके मनकी जो दशा है, उसका चित्रण करना चाहते हैं। आप उस दृष्टिसे बिलकुल मत देखिए कि पति-पत्नी स्वीकृति है कि सत्य है? एक परमात्माके सिवाय अपने आत्मतत्त्वके सिवाय दूसरी कोई वस्तु सत्य सृष्टिमें न हुई, न है, न हो सकती है। अखण्ड सत्य तो अपना आत्मा ही है। यदि परमात्मा भी अन्यके रूपमें होगा, तो वह बिलकुल स्वीकृति होगा। यह दो टूक बात आपको सुनाता हूँ, लेकिन यह जो स्वीकृति है पति-पत्नीकी, यह फायदेकी है कि नुकसानकी है? तो जो भोग चाहने-वाला दुश्चरित्र व्यक्ति है, जो नयी-नयी स्त्रीसे प्रतिदिन सम्बन्ध करना चाहता है, उसके लिए पति-पत्नी भावकी स्वीकृति दुःखदायी है। वह कहेगा, क्यों इसमें फँस गये तुम? परन्तु जो सच्चरित्र होना चाहता है मनुष्य, उसके लिए यह जो पति-पत्नीकी स्वीकृति है, यह उसकी वासनाके घेरेको छोटा बनाने-वाली है। और, जो उसकी वासना अनेक पुरुषमें जाती थी स्त्रीकी और अनेक स्त्रीमें जाती थी पुरुषकी, उसको घेर करके उसने एक स्त्रीमें, एक पुरुषमें कर दिया। तो यह धर्मीय स्वीकृति हुई।

धर्मानुकूल स्वीकृति और यह धर्मानुकूल स्वीकृति दुश्चरित्रताको

मिटानेवाली और सच्चरित्रताको बढ़ानेवाली है। इससे वासनाका क्षेत्र कम होगा। केवल भोगका क्षेत्र ही कम होगा यह बात नहीं, इससे वासनाका क्षेत्र कम होगा। यह स्वीकृति-स्वीकृति करके जो धर्ममें उत्पात मचानेवाले, उपद्रव मचानेवाले जो हिप्पीलोग हैं, ये मनुष्यकी वासनाको निर्बन्ध करके उनको वासनाकी आगमें झोंक देनेवाले हैं। तो यह बताया आपको दृष्टान्त!

आप स्वीकृति मान करके पति-पत्नी भावको छोड़ तो नहीं सकते न! व्यवहारमें उसकी जरूरत है कि नहीं? अरे! पति-पत्नीको जाने दो। आप कोट पहनते हैं। यह आपका 'मेरा' है। आप 'मेरा' कोट पहनते हैं। यह आपका, वह मेरा है। 'यह कोट मेरा है'—यह आपकी कोई स्वीकृति है कि ठोस पदार्थ है? नहीं तो फिर कोई किसीका कोट पहन ले। यह आपका मकान है—'यह मेरा है' यह आपकी स्वीकृति है कि क्या है? बोले-नहीं, रजिस्टरमें, सरकारी रजिस्टरमें लिखा हुआ है। चलो रजिस्टरको मानना भी एक स्वीकृति है। नहीं, यह कानूनके अनुसार मेरा है। कानूनको मानना भी एक स्वीकृति है। भिन्न-भिन्न देशके भिन्न-भिन्न कानून होते हैं। ईश्वरीय कानून तो सृष्टिमें नहीं होता। होटलका भी एक कानून होता है, धर्मशालाका भी एक कानून होता है। तो बोले—'हमने अपने पैसेसे खरीदा है। तो पैसा मेरा है, यह क्या है? पैसा मेरा है यह भी तो एक स्वीकृति है न? तो स्वीकृतिको दो विभागमें आप बाँटिये एक क्लिष्ट स्वीकृति, एक अक्लिष्ट स्वीकृति, यह शास्त्रीय भाषा है। एक क्लेशदायिनी स्वीकृति और एक क्लेशनिवारिणी स्वीकृति। समाजके क्लेशको, वर्गके क्लेशको मिटानेवाली मान्यता। आप इसको मंजूर कीजिये, भला! तो आप देखो! अब इसी तरहसे आप मनमें चलो। मनमें आप कृष्णका ध्यान करते हैं, रामका ध्यान करते हैं। हम धर्मके क्षेत्रको बढ़ाते नहीं हैं। दुश्चरित्रके क्षेत्रको सीमित करते हैं। आप भी इस हिसाबसे उसको देखिये!

कल किसीने हमको कहा कि 'जब आप पति-पत्नीके सहवासको

भी यज्ञ बताते हैं। 'छांदोग्य उपनिषद्'में है न! तो इससे धर्मका क्षेत्र विस्तृत हो गया।' विस्तृत नहीं हो गया, दुश्चरित्रताका जो क्षेत्र है वह क्षेत्र सीमित हो गया और जहाँ दुश्चरित्रताका क्षेत्र सीमित हो गया, वहाँ धर्म आगया। धर्म वही है जो दुश्चरित्रताके क्षेत्रको सिकोड़ दे, समेट दे। दीवालीके दिन जुएकी अनुमति दे देना, यह धर्मके क्षेत्रको बढ़ाना नहीं है। यह रोज-रोज जो जुआ खेलना है, उसको सीमित करना है।

जो यज्ञस्थलमें-सौत्रामणि-यज्ञमें जो सुरापान है, वह सुरापानके क्षेत्रको विस्तृत करनेके लिए नहीं है, सीमित करनेके लिए है। हम सनातन धर्मकी, शास्त्रकी जो मूलभूत बात है—वह आपको सुनाते हैं। होलीके दिन जो गाली देनेका क्षेत्र है, वह धर्मके क्षेत्रको अधर्मके क्षेत्रमें ले नहीं जाता है। बल्कि रोज गाली नहीं देनी चाहिए सिवाय होलीके दिन अधर्मके क्षेत्रको वह सीमित करता है। इसका क्या अर्थ होता है? जो गाली नहीं देते, वे बहुत अच्छे! लेकिन यदि गाली दिल-दिमागमें भरी हुई हो तो उसको निकालनेके लिए एक अवसर चाहिए।

अच्छा, हम पुराने ऐसे-ऐसे मकान देख आये हैं जिसमें पनाले नहीं, एक भी नाली घरमें-से नहीं निकलती थी। उस घरमें लोग लघुशंका नहीं कर सकते। उस घरमें-से बाहर निकलकर लघुशंका करना पड़ता है। बल्कि बरसातका पानी इकट्ठा करनेके लिए कुण्ड बना देते हैं। और जब ज्यादा पानी होता है तो बाल्टीसे निकाल कर फेंकते हैं। आप क्या निश्चय करते हैं कि घरमें एक लघुशंका करनेके लिए जगह होना आवश्यक है कि नहीं है? और वह घर-गृहस्थीके धर्मके अनुरूप है कि नहीं है? जो धर्मके विपरीत है, दुःखदायी है और अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेशसे प्रेरित है वह दुर्वासनाको बढ़ानेवाला अधर्म है, वह क्लिष्टवृत्ति है और जिसमें अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश छुड़ानेवाली विद्या है, दुर्वासनाको सीमित करनेवाली, नियंत्रित करनेवाली जो विद्या है, उसका नाम होता है अक्लिष्ट। जिसमें क्लेश न हो सो अक्लिष्ट।

अच्छा, अब आप ध्यानके क्षेत्रमें चलिये। एक दशा तो यह है कि मनमें जो वृत्ति आवे उससे मिलते चलो। वेश्याकी स्थिति यही है। वेश्या स्त्री, वेश्या पुरुष ऐसे समझो! जो मनमें आकार आया, उससे मिलते गये। क्रोध आया तो क्रोधसे एक हो गये। काम आया तो कामसे एक हो गये। लोभ आया तो लोभसे एक हो गये। मोह आया तो मोहसे एक हो गये। स्त्रीका वर्णन करना है तो वेश्याकी स्थिति यही होगी। पुरुषका वर्णन करना हो तो अत्यन्त पामर, दुश्चरित्र पुरुषकी स्थिति यही होगी। यह मनोवृत्तिके लिए मैं बोल रहा हूँ। आप जो खाना आता है सो ही खा लेते हैं कि उसमें छाँटकाट करके जो आपके शरीरके लिए हितकारी होता है सो खाते हैं? आपके सामने जो काम आते हैं वही कर लेते हैं कि जो आपके लिए हितकारी होता है वही करते हैं? आपके मनमें जो आता हैं सो ही बोल देते हैं कि अपनी भलाई सोचकर बोलते हैं। तो इन मनोवृत्तियोंके बारेमें जो छँटाई करके उनको स्वीकृति देना है, इसका नाम ध्यान है। जो अच्छी वृत्तियाँ हैं उनको स्वीकृति दीजिये और जो बुरी वृत्तियाँ हैं उनको स्वीकृति मत दीजिये।

कहो कि ऐसा कैसे होगा? तो वह आप एक सद्‌वृत्तिसे कर लेंगे। एक इष्टाकार वृत्ति हो और इष्टाकार वृत्तिको जाग्रत् करनेके लिए एक मंत्र हो और उस मंत्र और वृत्तिमें निष्ठा रखनेके लिए एक गुरु हो और उसमें आपकी रुचि हो, प्रीति हो। तब आप दूसरी वृत्तियोंपर विजय प्राप्त करेंगे।

अच्छा, तो यह क्या है कि हम अपने जीवनमें शक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं, नहीं तो ध्यान करनेकी कोई जरूरत नहीं है। आप जैसे हैं वैसे रहिए। एक ध्यानकी खास वृत्ति अपने जीवनमें उत्पन्न करना है। तभी तो ध्यानार्थी बनकर आवेंगे न! जब आप अपने हृदयमें खास ध्यानकी वृत्ति उत्पन्न करना चाहते हैं तो ध्यानकी वृत्ति उत्पन्न करना चाहेंगे और आप यह मत समझना कि हम देखते रहते हैं, देखते रहते हैं—चाहे जो वृत्ति आवे, चाहे जो वृत्ति जाय! देखना भी एक वृत्ति है। अगर आपको मालूम

नहीं है तो किसी समझदार आदमीसे सलाह करके आप इसको समझिए। यह देखना भी एक वृत्ति है, क्योंकि वह जतनसे रखी जाती है। अवधान रखोगे तो रहेगी, अवधान नहीं रखोगे तो टूट जायगी। वह तो आपके कर्त्ताके प्रयत्नसे पैदा हुई है और सुषुप्तिमें वह देखनेवाली वृत्ति नहीं रहती है कि हम देख रहे हैं। तो असलमें आप जिसको द्रष्टाकी दृष्टि करके बैठते हो, वह एक स्वीकृति है, वह भी मान्यता है। आपका स्वरूप द्रष्टा है, उसमें आपको कुछ अवधान देनेकी जरूरत नहीं है; फिर तो आप वैसे रहो और यदि आपको किंचित् भी अवधान देनेकी आवश्यकता पड़ती है, तो वह वृत्ति कृत्रिम है, बनावटी है, प्रयत्नपूर्वक पैदा हुई है। तो, वृत्तियोंका भेद समझना ध्यानके लिए जरूरी है। बात जरा कड़वी है, लेकिन आपको उदाहरण देकर समझाना जरूरी है। आप शालिग्रामकी एक शिला अपने सामने रखते हैं और उसमें विष्णुबुद्धि करते हैं। तो यह क्या है? कौन-सी वृत्ति है? यह प्रमाण है कि विपर्यय है, कि विकल्प है, कि निद्रा है, कि स्मृति है?

शालिग्रामकी शिलाको सामने रखते हैं और उसको स्नान कराते हैं—'ॐ विष्णवे नमः।' चन्दन चढ़ाते हैं—'ॐ नमो नारायणाय।' उसपर तुलसीका पत्ता रखते हैं—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' क्योंजी? सामने तो आपको एक 'गण्डकी' नदीमें पत्थर मिला काला-काला और उसको आप विष्णु, नारायण मान करके पूजा करते हैं। यह क्या है?

एकने कहा—'भाई, पत्थर-तो-पत्थर ही है। यह तो गाँवके लोग विष्णु मान करके पूजते हैं। छोड़ो, इसको छोड़ दो। अच्छा, छोड़ दिया। अब क्या करें? तो बोले कि आपने बालोंमें कंघी करो, अपने मुँहमें तेल लगाओ। और बिल्कुल बिन्दी लगाओ अपने सिरपर और आप वस्त्राभूषण पहनो। यह तो ठीक है, बहुत बढ़िया। यह तो करना ही चाहिए, बहुत जरूरी है। तो बोले कि भाई! शालग्राम पर चन्दन चढ़ाना और तुलसी चढ़ाना और उसको स्नान कराना तो बेवकूफी थी। पर सबसे

बड़ी बुद्धिमानी तो यही है न कि अपने शरीरका शृंगार-पटार किया जाय। आपको समझानेके लिए आपको एक नमूना बता रहे हैं; यह नहीं समझना कि हम कोई शालग्रामकी पूजाका ध्यान बता रहे हैं। आप ऐसा मत समझो योगदर्शनकी दृष्टिसे यह कौन-सी वृत्ति है? ध्यानकी दृष्टिसे यह कौन-सी वृत्ति है जो हम शलिग्रामकी पूजा करते हैं? तो यह प्रमाणवृत्ति नहीं है। क्यों? क्योंकि किसी भी प्रमाणके द्वारा शालग्राम शिला विष्णुके रूपमें नहीं दिख रही है। आँखसे, नाकसे, जीभसे शालग्राम प्रमाणित ही नहीं होते हैं। उनका विष्णुपना जो है, वह जीभसे चाट कर समझोगे कि यह शालग्राम है? कि नाकसे सूँघ कर समझोगे कि आँखसे देख कर समझोगे? कि त्वचासे समझोगे? बोले कि शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध होगा कि यह शालग्राम है।

तो बोले कि शास्त्रप्रमाणमें कुरानको मानोगे तो नारायण सिद्ध नहीं होगा। बाईबिलको मानोगे तो नारायण सिद्ध नहीं होगा। हम अपने शास्त्रसे देखेंगे तब न यह नारायण सिद्ध होगा? तो यह हमारा शास्त्र है, यह स्वीकृति है, यह तो मान्यता है। बात बिलकुल कट गयी तो अब देखो, प्रमाणवृत्ति से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि शालग्रामकी शिला नारायण है। तब यह हमारी कौन-सी वृत्ति है? आपको ध्यानके लिए मैं यह बात सुना रहा हूँ। इसको योगदर्शनकी दृष्टिसे विपर्ययवृत्ति बोलते हैं।

एक तो महाराज, आपने शत्रुको मित्र समझ लिया, यह भी विपर्यय वृत्ति है, भला! और विषको अमृत समझ लिया, वह भी विपर्यय है। और एक शालग्राम शिलाको विष्णु समझ लिया, यह भी विपर्यय है। आपको दोनोंमें कोई फर्क पड़ता है कि नहीं? विषको अमृत समझकर पिओगे तो मर जाओगे। और शत्रुको मित्र समझ लोगे तो वह तुम्हें धोखा देगा। और मित्रको शत्रु समझोगे तो एक मित्रसे हाथ धोओगे। हानि है न? लेकिन यदि शालग्रामकी शिलाको आप विष्णु समझ लोगे तो यह क्लिष्ट विपर्यय नहीं है। अक्लिष्ट विपर्यय है। माने यह साधन है। यह साधक विपर्यय है। परन्तु यह नुकसानदेह नहीं है। यह लाभकारक

विपर्यय है। आपकी भलाई के लिए यह विपर्यय है। आप बाजारमें सुनकर मत आना। हम आपको जैसे सुनाते हैं, उसको ध्यानसे सुनो!

इसमें अक्लिष्ट विपर्ययपना क्या है? माने इसमें-से क्लेश नहीं निकलेगा, सुख निकलेगा। कैसे निकलेगा? शालग्राम तो रखे हुए हैं आपके सिंहासनपर आपकी डिबियामें और 'यह नारायण हैं' यह वृत्ति रखी हुई है आपके हृदयमें। दोनोंको आप अलग-अलग कर लो। तो शालग्रामके निमित्तसे आपकी वृत्ति जो नारायणाकार बनती है, विष्णवाकार बनती है, इससे उस शालग्रामने आपके मनको बाहर बिखरनेसे रोक करके भीतर-वालेमें कर दिया। आप ध्यानकी एक कक्षा पार कर गये। आपका मन किसी स्त्रीकी ओर जाता था, पुरुषकी ओर जाता था, पैसेकी ओर जाता था, जगह-जगह जाता था और समय-समयमें भटकता था। कभी भूतकी बात आपका मन सोचने लगा कि बचपनमें हमारा एक मित्र ऐसा था, वह हमसे ऐसा प्रेम करता था। भविष्यमें हमारे पास ऐसा धन, ऐसा मकान हो जायेगा। वर्तमानमें हमारी श्रीमतीजी हमसे लड़ती हैं, यहाँ आपका मन जाता था।

अब वह शालग्रामकी शिलाने क्या किया कि भूतमें-से आपके मनको खींच लिया, भविष्यमें-से आपके मनको खींच लिया, पेरिसमें जिससे प्रेम करके आप आये हैं, वहाँसे आपका मन खींच लिया। और जो धन-दौलतमें आपका मन जाता था, वहाँसे उस शालग्रामशिलाने आपके मनको खींच लिया। एक ऐसा माध्यम (मीडियम) आपको मिला जिसने दुनियामें-से आपको बिखरनेसे रोककर, मनको खींचकर आपके हृदयके भीतरके बीचके माँय एक नारायण जो बैठे हुए हैं, उनमें आपका मन लगाया। तो इसको क्या बोलेंगे? है यह विपर्यय-शालग्रामको नारायण समझना विपर्यय है। परन्तु उस विपर्ययने आपका ऐसा काम बनाया, ऐसा काम बनाया कि आपके मनको दुनियामें बुरी-बुरी जगहसे, दुःखदायी विषयसे समेट करके आपके हृदयमें कर दिया इसका नाम 'अक्लिष्ट-विपर्यय' है।

अच्छा, एक अब दूसरे ढंगका विपर्यय बताते हैं। 'मैं साधक हूँ', यह मैं जानबूझ कर आपको बोल रहा हूँ। अच्छा 'मैं ध्यानी हूँ।' हम पुराने ढंगकी बात बोलते जरूर हैं। 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह पुराने ढंगकी बात है। 'मैं संन्यासी हूँ'—आप क्या समझते हैं इस वृत्तिको? यह परमार्थ है कि झूठी है? बिल्कुल झूठी है 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह भी झूठी है, स्वीकृति है, विपर्यय है, क्योंकि देहमें 'मैं' हुए बिना 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अभिमान कैसे रहेगा? अच्छा, 'मैं संन्यासी हूँ'—आश्रममें अभिमान हुए बिना 'मैं संन्यासी हूँ' यह बात कैसे रहेगी? और 'मैं साधक हूँ'—अरे! और कोई नाम रख लो! यह आजकलके लोग ऐसे-ऐसे नाम रख देते हैं कि हमें मालूम नहीं है। 'मैं साधक हूँ', 'मैं ध्यानी हूँ'—यह क्या है? यह कौन-सी वृत्ति है? प्रमाणवृत्ति है? 'मैं ब्राह्मण हूँ', यह प्रमाणवृत्ति है? यह निद्रा वृत्ति है? निद्रावृत्ति भी नहीं है और प्रमाणवृत्ति भी नहीं है। 'यह ब्राह्मणका शरीर है', यह तो विकल्पवृत्ति है। भला! विकल्पवृत्ति है माने ब्राह्मण और ब्राह्मणका शरीर जुदा-जुदा होता ही नहीं है। यह तो एकमें आपने जुदा-जुदाका भेद बना दिया। अच्छा 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह एक मान्यता है आपकी परम्परागत मान्यता है, शास्त्रीय मान्यता है।

'मैं संन्यासी हूँ', यह भी महाराज, संस्कारमूलक परम्परागत मान्यता है। और 'मैं साधक हूँ'?—आप तो बचपनमें जब माँके पेटमें रहे होंगे, तब 'मैं साधक हूँ'अपनेको तब 'मैं साधक हूँ' यह समझते रहे होंगे? अरे, जब पैदा हुए होंगे, तब 'मैं साधक हूँ' ऐसा समझते रहे होंगे? अरे, यह तो बाबाजी लोगोंने चेला बनानेके लिए आपके कानमें भर दिया कि 'तुम साधक हो', 'तुम साधक हो!' अच्छा, अब 'मैं साधक हूँ' यह विपर्यय वृत्ति है, जैसे शालग्रामकी शिलामें 'यह नारायण हैं' यह विपर्यय वृत्ति है। लेकिन वह विपर्यय वृत्ति हमारी बुद्धिको बिखरनेसे रोक करके, पापमें जानेसे रोक करके, जगह-जगह जानेसे रोक करके, इधर-उधर जानेसे, समय-समयमें, भूत-भविष्यमें जानेसे रोक कर और दूसरे स्त्री-पुरुषमें जानेसे रोक कर, धन-दौलतमें जानेसे

रोक कर और वह हमारी चित्तवृत्तिको नारायणाकार करनेमें निमित्त है; इसलिए विपर्यय होनेपर भी वह अक्लिष्ट-वृत्ति है शालग्राम।

इसी प्रकार मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ और मैं साधक हूँ, मैं ध्यानी हूँ, और मैं ज्ञानी हूँ—यह सच्ची वृत्ति है क्या? बिल्कुल झूठी है। 'मैं ज्ञानी हूँ' यह भी झूठी, मैं ध्यानी हूँ यह भी झूठी। अच्छा मैं जीव हूँ यह भी झूठी। मैं दृष्टा हूँ यह भी झूठ और-और कहो—और आगे बढ़े मैं ब्रह्म हूँ यह भी झूठी। बोले—'मैं जीव हूँ'—यह वृत्तिको काटनेके लिए 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति पैदा की जाती है। मैं आत्मा हूँ, मैं सत्य हूँ, मैं परमार्थ हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं त्रिकालाबाधित हूँ—यह तो जो मैल लगी है, उसको दूर करने के लिए यह सब साबुन है। मैं मलिन हूँ—इसको छुड़ानेके लिए, मैं शुद्ध हूँ। मैं परिच्छिन्न हूँ—इसको छुड़ानेके लिए मैं अपरिच्छिन्न हूँ—ये सब वृत्तियाँ पैदा की जाती हैं। तो आप जरा ऐसी कोई वृत्ति बताओ जो विपर्यय न हो।

तो महाराज! धमाचौकड़ी क्यों मचाते हो? यह मेरी पत्नी है, यह विपर्यय है। मैं पति हूँ, यह विपर्यय है। मैं ब्राह्मण हूँ, यह विपर्यय है। छोड़ो इन सब विपर्ययोंको। तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर! कोई विपर्यय मत स्वीकार करो। अब मैं धनी हूँ। क्योंजी! ये आजकलके जो प्रगतिशील लोग होते हैं न, वे कहते हैं, हम परम्परासे आयी हुई कोई चीज कबूल नहीं करते; हम बड़े क्रान्तिकारी हैं, बड़े प्रगतिशील हैं। तो मैंने उनसे कहा कि—'अच्छा, तुम बड़े प्रगतिशील हो, तो बाप-दादासे आया हुआ धन जो है, उसको तुम मत स्वीकार करो। तुम कहो कि हम कमा कर खायेंगे। यह बुर्जुआ जो बाप-दादाओंका जो धन है, हम नहीं लेंगे।

बोले कि नहीं महाराज! यह बात नहीं, बोले कि धर्मके लिए तो तुम क्रान्तिकारी हो गये और धनके लिए क्रान्तिकारी नहीं हुए। कहा कि हम बापका धर्म तो नहीं मानेंगे, लेकिन बापका धन लेंगे। तो क्या हक है तुमको? तो महाराज, मीठा-मीठा गप और कड़ुआ-कड़ुआ थू।

आप अपनेको ब्राह्मण माननेको तैयार नहीं हो, अपनेको संन्यासी

माननेको तैयार नहीं हो, अपनेको जीव माननेको तैयार नही हो! एक आदमीने एक दिन हमको इतना व्याकुल किया कि क्या बताऊँ। अपनी जानमें मैं उसको जो बताऊँ, वह कहे कि यह तो वृत्त्यन्तर है। एक वृत्तिकी जगह आप दूसरी वृत्ति पैदा कर रहे हैं। और इसको मैं मान लूँ तो वह मेरी मान्यता हो जायेगी। हमको तो स्वीकृति नहीं चाहिए, हमको तो मान्यता नहीं चाहिए, हमको तो वृत्त्यन्तर नहीं चाहिए।

अच्छा तो भाई, तुम जो हो, वही ठीक है। बोला कि यह तो आप हमारे संतोषके लिए कहते हैं। लो, अब सिर फोड़ो। वृत्त्यन्तर चाहिए नहीं तो सिर फोड़ो। तो देखो, यह बात आपको सुनायी। अब शुरूमें चले आओ कि पापपुरुषकी एक विपर्यय कल्पना की गयी और उसको भस्म किया गया। मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ, यह क्लिष्ट विपर्यय है। इसको काट दो और 'मैं शुद्ध हूँ', 'मैं शुद्ध हूँ'—यह पुण्य विपर्यय है। एक पुण्य विपर्यय पैदा करो। वेदान्तमें इसको मानते हैं संवादी-भ्रम। मैं शुद्ध हूँ यह भी भ्रम है; परन्तु यह सत्यके अनुरूप भ्रम है, लेकिन हम चाहते है कि आप किसी भी स्वीकृतिके फन्देमें न फँसें। लेकिन आप अच्छी स्वीकृतियोंको छोड़ दें और बुरी स्वीकृतियोंको पकड़ कर बैठे रहें तो इसमें आपका बड़ा भारी नुकसान होगा। आप ध्यानके द्वारा जो अपने जीवनमें परिवर्तन चाहते हैं, जो रासायनीकरण चाहते हैं, आप विषको अमृत बनाना चाहते हैं, आप दुःखको सुख बनाना चाहते हैं, आप विक्षेपको शान्ति बनाना चाहते है; आपका जो उद्देश्य है, आपका जो लक्ष्य है, उसके लिए जब कुछ पाना है, तो कुछ करना भी है।

अच्छा, आओ, तो आप पहले विपर्यय नहीं, आप प्रमाण वृत्तिको स्वीकार कीजिये। यह विपर्ययवृत्ति नहीं है; यह प्रमाणवृत्ति है। ये जो शरीरमें पाँच चीजें हैं व्यष्टिमें-मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश। इसमें हमारी जिद्द नहीं है कि ये पाँच ही हैं। आपको पाँच न जँचते हों तो आप चार ही मानो! और छह मानो! हमारा पाँचपर कोई आग्रह नहीं है। गिनतीमें हमारा तात्पर्य नहीं है। इस बातपर हम बिल्कुल लड़ाई नहीं

करते कि भूत पाँच हैं कि चार हैं। भागवतमें एक मान कर भी समझाया है, दो मान कर भी समझाया हुआ है, पाँच मानकर समझाया हुआ है, छह-सात मान कर समझाया हुआ है—भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें। वह तो हम लोग सप्ताहमें सोचते हैं कि इसको बढ़ाकर सुनाने लग जायेंगे तो सात दिनमें या पन्द्रह दिनमें कैसे पूरा होगा? तो संख्यामें हमारा कोई आग्रह नहीं है। तो यह जो आकृति बन गयी है, आपके शरीरके भीतर रहनेवाला जो मैटर है न मैटर! इस मैटरमें एक आकृति गढ़ी गयी है। आकृति माने शकल-सूरत। क्या बढ़िया तोतेकी-सी नाक। बिम्बाफ़ल सरीखे होंठ। कितना भी काला हो, पर महाराज उस पर रंग लगाकर वह चमकाते हैं! क्या बढ़िया कनेरके फूलकी तरह कान! क्या सुन्दर बनाये गुलाबके दो फूल लगा दिये, यह आँख बन गयी!

अब इसमें यह देखना है कि गुड़िया तो बहुत बढ़िया बनी है। परन्तु वह प्लास्टिककी है कि पीतलकी है, कि सोनेकी है कि चाँदीकी है, अब यह देखना है। तो तुम्हारे शरीरमें मसाला क्या है? इस छोटे मसालेको जो तुम्हारे शकल-सूरतके भीतर भरा हुआ है, इसको बड़ेके साथ मिला देना। यह पाँच प्रकारकी प्रकृति होगी। तो कोई कहेगा, माटीमें मिला दिया। यह शरीर तो कुछ नहीं है, माटी है। ठीक है। जब शरीर आपका माटीमें मिल जायेगा, तो उसके बाद 'यह शरीर मैं हूँ', यह वृत्ति भी नहीं रहेगी। और, 'यह शरीर मेरा है', यह वृत्ति भी नहीं रहेगी। इससे सम्बद्ध जो मकान है, जो धन है, जो स्त्री है, जो पुत्र है, जो जात है, जो पाँत है, जो विचार है, उसके साथ जो आपका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वह भी नहीं रहेगा। यह शरीर जैसे मर गया। जैसे पानीमें बह गया, कहीं निकाल लिया गया, कहीं यह चिता पर चढ़ा दिया गया या आगमें जला दिया गया। नारायण! ठीक है, इस शरीरमें बिल्कुल शास्त्रीय है। कुलका मतलब यही है कि आकाश आकाशमें, हवा हवामें, तेज तेजमें, पानी पानीमें, मिट्टी मिट्टीमें मिलकर व्यष्टि रूपसे एक टुकड़ेके रूपमें, एक कतरेके रूपमें, एक बूँदके रूपमें आपका शरीर नहीं है। यह

पंचभूतमें आपका शरीर मिल गया। आपका अलग 'मैं' अलग मेरा, अलग जात, अलग पाँत, अलग नाम, अलग कुल, अलग गोत्र, अलग मेरा, सबका लोप हो गया। इसको 'तत्त्वध्यान' बोलते हैं। भागवतके दूसरे स्कन्धके पहले ही अध्यायमें यह तत्त्वध्यानका वर्णन है।

तत्त्व माने, जिसमें आकारकी कल्पना की जाती है, उसका नाम होता है तत्त्व। और आकार फूट जानेपर भी जो रहता है, उसका नाम होता है 'तत्त्व'। जैसे मिट्टीमें घड़ा बना लिया। तो जिस मिट्टीसे घड़ा बना, उस मिट्टीको तत्त्व कहेंगे। घड़ा जो है वह शकल-सूरत है। तो घड़ा बना और घड़ा मिट गया तो क्या रहा? पहले भी मिट्टी, बीचमें भी मिट्टी और बादमें भी मिट्टी। आप ध्यानके लिए अपने चित्तको, अपने चित्तको इस भूमिकामें ले चलिये जहाँ अलग-अलग शरीर नहीं हैं; केवल आकारके आरोप और अपवादका अधिष्ठान, केवल तत्त्व है।

तत्त्वध्यानकी पद्धति यह है। और इसमें आप देखो कि यदि किसी अपने मित्रके लिए आप रो रहे थे तो वह मिट जायेगा। पैसेके लिए रो रहे थे? मिट जायेगा। मकानके लिए रो रहे थे? मिट जायेगा। शरीरमें रोगके लिए रो रहे थे? मिट जायेगा। क्यों? यहाँ आप तत्त्वसे एक हो रहे हैं। तच्च-तच्च-तच्च तानि—वह, वह, तेषां तनु-विस्तार-भाव: तत्त्वं जो अनेकमें एकता है, उसका नाम तत्त्व है। तनोति इति तत्—जिसमें आकृतियोंका जाल बनता है उसका नाम 'तत्' है और वह जाल, वह जाल, वह जाल और सब जालोंमें जो एक उपादान मैटर, उसका नाम 'तत्त्व'।

मिट्टी, पानी, तेज, वायु, आकाश—लो, आपको तत्त्वका ध्यान सुनाते हैं। हमने पहले भी आपको सुनाया होगा। 'खन्ना' में एक महात्मा रहते थे। उनका नाम था 'त्रिवेणीपुरी'। वे नंगे ही रहते थे। तो नंगे रहनेका अर्थ भी आप सब लोग जानते होंगे। नंगे रहनेका अर्थ यह होता है कि लंगोटी तो छोड़ देते हैं। हमारे एक अवधूतजी थे इलाहाबादमें। वे लंगोटी नहीं पहनते थे। कटिवस्त्र नहीं पहनते थे। पर दुशाला अगर चार

हजार रुपयेका भी हो तब भी वह उसको ओढ़ते थे। ऐसे कहो कि ओढ़ा देते थे। पर वे सम्हाले रहते थे। बद्रीनाथ गये थे तो बड़ा बढ़िया दुशाला ओढ़कर गये थे। कोई चार रुपयेका कम्बल ओढ़ते हैं, कोई चार हजार रुपयेका कम्बल ओढ़ते हैं। अब आप देखो—वह बड़ा मस्ताना था महात्मा। एक तो उसकी यह विद्या थी कि चाहे कोई शब्द उसके सामने बोलो, उस शब्दका अर्थ परब्रह्म है, परमात्मा है, परमार्थ है, सत्य है—यह बात उसी शब्दसे वह निकाल लेता था। संस्कृत व्याकरणकी दृष्टिसे नहीं, उसमें चाहे किसी भी भाषाके शब्द द्वारा, संस्कृतके व्याकरणसे निकालता था वह नहीं। कैसे भी, जो शब्द बोलो। तो मैंने सुनाया था आपको कि कभी मैंने इलायचीकी पुड़िया लेकर पूछा कि 'यह क्या है?' तो बोले—'ब्रह्म है।'

दूसरे दिन क्या हुआ कि मैं सबेरे ही चार बजे उनके पास जाकर बैठ गया, तो क्या हुआ कि मेरे शरीरपर उनका प्रभाव पड़ा। हमको ऐसा लगे कि जैसे मेरे भीतरसे आनन्दकी एक हूल उठ रही है। जैसे फुहारे चलते हैं न, फुहारे! ऐसे मालूम पड़े कि कोई आनन्दकी, रसकी धारा हमारे हृदयमें-से ऊपरको छलक रही है और यह सारे वातावरणको आनन्द, आनन्द, आनन्द ऐसा बना रही है। उसमें न कोई स्त्री, न पुरुष, न कोई पेड़, न पौधा, न मकान, न घर, न कुछ। बस आनन्द ही आनन्द! वैसे परमार्थकी दृष्टिसे यह कोई उच्च स्थिति नहीं है। परमार्थकी दृष्टिसे यह आनन्दाकार वृत्तिका प्रवाह है और यदि इसको समाधिके अन्तर्गत गिनें तो सम्प्रज्ञात-समाधिमें तीसरे नम्बरकी समाधि है यह। अस्मितानुगतसे भी नीची है। समाधिके भी भेद होते हैं। हमारे गाँवमें ओझा लोग खेलते हैं। नवरात्रिमें वे महाराज ऐसे नाचते हैं, ऐसे नाचते हैं। खड़े होकर हाथ फैलाकर ऐसे नाचते हैं। वह धरतीपर हाथ पटकते हैं। उनके भी ध्यान आता है। बचपनमें जा-जाकर बैठकर—हमने बहुत देखा है। वह भी कहते हैं कि हमको देवताका ध्यान हो रहा है। तो हाथ पटकना, चिल्लाना और जैसे किसीने पकड़ रखा हो वैसे व्याकुल होना

सब देखा है मैंने। पर यह आनन्दानुगत जो है, इसमें दृश्य नहीं है, विचार नहीं है, भिन्न-भिन्न विषयोंका आकार नहीं है, परन्तु है यह वृत्ति। केवल आनन्दानुगत वृत्तिका यह विलास है कि आनन्द ही आनन्द है। बड़ा आनन्द आया। तो वह कोई बीस मिनट, आधा घण्टा उनके सामने बैठा रहा। बादमें मैंने उनसे पूछा कि ध्यान कैसे करना चाहिए?

तो उन्होंने कहा कि ध्यानकी एक बहुत आसान रीति सुनाते हैं। वह आसान रीति यह है कि मिट्टी अथवा मिट्टीसे बनी हुई कोई चीज दुनियामें नहीं है। अपने ख्यालमें-से तुम मिट्टीको निकाल दो। यह लोग कहते हैं न कि शून्य देखो, भाषाका ही तो भेद है न! अपने मनको निर्विषय कर दो। यह पुरानी भाषा हो गयी। अपने मनको निर्विषय, निर्वृत्तिक, निःसंकल्प निर्विकल्प कर दो। तो जरा नयी भाषा होनेसे थोड़ी सनसनी भी पैदा होती है। अच्छाजी, अब आओ, उन्होंने कहा कि तुम अपने मनसे मिट्टी और मिट्टीसे बनी हुई चीज इसका ख्याल निकाल दो।

आप समझो इस बातको। मिट्टीके बिना पशु-पक्षी, मनुष्य किसीका भी शरीर नहीं हो सकता। मिट्टी निकल गयी तो शरीर सब निकल गये। पेड़, पौधा नहीं हो सकता, मकान नहीं हो सकते। अच्छा, धरती नहीं हो सकती। तो बोले-देखो, तुमको एक मजेकी बात बताता हूँ। सारी सृष्टिमें केवल जल-ही-जल लहरा रहा है। केवल रस-ही-रस, केवल रस-ही-रस। खारा पानी नहीं, यह खारा पानी जो है, यह जलकी उपाधि है। जल खारा नहीं होता, जलमें खारापन औपाधिक है। भला देखो, शास्त्रकी भाषामें बोल रहा हूँ—ब्रह्ममें, आत्मामें जैसे कर्त्तापना औपाधिक है, बुद्धिकी उपाधिसे कर्त्तापना है। भोक्तापना भी बुद्धिकी उपाधिसे है। आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता है। इसी प्रकार जल जो है, न खारा है न खट्टा है। कोकाकोलाका जो स्वाद है, वह जलका स्वाद नहीं है, और शराबका जो स्वाद है, वह जलका स्वाद नहीं है। वह तो सड़ांधका स्वाद है। सड़ी हुई शराब—शरा माने सड़ा और आब माने

पानी। शराब माने सड़ा पानी है। वह जो पानीकी सड़ांध है, उसका स्वाद है। 'पंजाबमें' भी जो 'आब' है उसका माने पानी है। जो संस्कृतका 'अप्' शब्द, उसका 'आब' बन जाता है।

तो अब देखो आप, जो जल है उसमें जितने स्वाद हैं, सब-के-सब औपाधिक हैं। शक्करमें-से मिठास आ जाय, अंगूरमें-से, नींबूमें-से खट्टापन आजाय, इमलीमें-से खट्टापन आजाय, नमकमें-से नमकीनपन आजाय। तो सोचो कि न मिट्टी, न कोई मिट्टीकी बनी चीज न तुम्हारा शरीर न तुम्हारे रिश्तेदार, न मकान, न पेड़, न पौधा। अच्छा, तो क्या सोचते हो कि ग्रह-नक्षत्र होंगे मिट्टीके बिना? ये ग्रह नक्षत्र भी नहीं हो सकते। तेजसे अनुगत जल, वायसे अनुगत जल, एक महान अवकाशमें, यह आकाशकी अनुर्गात हुई और हिलता हुआ, यह वायुकी अनुगति हुई और चमचम चमकता हुआ, यह तेजकी अनुगति हुई और रसका एक महान् समुद्र स्वादात्मक रसका, जो जीभसे चखा जाता है सो। पानी माने जो आँखसे देखा जाता है सो नहीं। आँखसे देखा जानेवालेमें तो तेज अंश देखा जाता है और जो हाथसे छुआ जाता है, उसका स्पर्शांश छुआ जाता है। उसमें जो गंध होती है, वह पृथिव्यांश होता है। तो पृथिव्यांशरहित केवल जल-ही-जल यह तत्त्वध्यान होगा। इससे तुम्हारा 'मैं' परिच्छिन्न नहीं है। तुम्हारा 'मेरा' परिच्छिन्न नहीं है। तुमको सुख-दुःख देनेवाली दुनियाकी कोई भी चीजें नहीं है। केवल रस, केवल रस।

बोले—'यह तो एक कल्पना हुई।' कौन बोलता है कि कल्पना नहीं हुई। जो बापुरा कहे कि कल्पना नहीं है, वह झूठा है। परन्तु यह कल्पना क्लिष्ट कल्पना नहीं है, अक्लिष्ट कल्पना है। जिस क्लेशदायिनी कल्पनामें आप फँसे हुए हैं, यह मेरा यह तेरा; यह दोस्त-यह दुश्मन, तो मर गया और वह जिन्दा है और उससे राग है, और उससे द्वेष है। यह तो अनेकतामें माया है। देखो इसने क्या किया? तुम्हारे विक्षेपके जितने स्थल हैं; उनको इस कल्पनाने मटियामेट कर दिया। बल्कि भागवतमें

इसका ऐसे ध्यान आता है। आप अनुवाद पढ़ोगे उसका तो आप बाँच जाओगे। एक दिनमें पंचदशी पूरी बाँच कर आ जाते हैं लोग। वे तो देखते हैं कि ये शब्द-इसे मैं जानता हूँ। और यह विभक्ति मैं पहचानता हूँ।

यह 'राम' शब्द है, यह 'रामकी है'—पर राम क्या है? 'रामकी है'. माने कुछ मालूम नहीं है। तो देखो, ध्यान ऐसे होता है। पृथिवीका ध्यान। बोले—ठीक है, पृथिवी-पृथिवी मालूम पड़ती है। जलका ध्यान-मालूम पड़ता है। फिर प्रकाश ही प्रकाश-यह ध्यान, यह मालूम पड़ता है। अच्छा, फिर सुकुमार स्पर्श-ही-स्पर्श! यह भी मालूम पड़ता है। अवकाश-ही-अवकाश। यह भी मालूम पड़ता है। अब विषयको निकाल दो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधको निकाल दो। तो निर्विषय हो गया। आप ध्यानकी पद्धतिको, यदि कहीं भी स्वीकार करोगे, तो आपको एक कल्पना स्वीकार करनी पड़ेगी और उसका नाम 'साधक-कल्पना' होगा।

'त्यजैव ध्यानं सर्वत्र' मत करो ध्यान। 'अयमेवहिते बन्धः समाधिमनुतिष्ठति।' मत लगाओ समाधि। मत बैठो कहीं अपने स्वरूपमें। बैठोगे तो बोर हो जाओगे, बैठे-बैठे मत चलो अपने स्वरूपमें चलोगे तो थक जाओगे। मत पकड़ो किसीको। तुम्हारे हाथ और मन दुखने लगेंगे। अरे बाबा, सब तो ठीक है। पहले हाथ खाली तो करो। जो पकड़े हुए हो, वह हुकुम देनेसे थोड़े छूटेगा?

पिछले साल नासिकसे एक विद्वानने चिट्ठी लिखी थी। साधना-साहित्यका बड़ा विद्वान् था। उसने यह लिखा कि—'स्वामीजी, एक गुरु यह बताते हैं कि वैखरीवाणी तो जीभमें होती है और मध्यमावाणी गलेमें होती है और पश्यन्तीवाणी हृदयमें होती है और परावाणी मूलाधार चक्रमें होती है। तो आप वैखरीसे मध्यमामें, और मध्यमासे पश्यन्तीमें, पश्यन्तीसे परामें—ऐसे जाकरके मूलाधार चक्रमें शान्त हो करके बैठ जाओ। कीनाराम्‌जी, बताते हैं कि नाभिमें निःसंकल्प होकर

बैठ जाओ। जैन भी बताते हैं कि नाभिमें शून्य होकर बैठ जाओ।' भक्तलोग कहते हैं, हृदयमें ध्यान करो। और, ये सन्तपंथवाले जो हैं, राधास्वामी, कबीर, वे लोग कहते हैं, आज्ञाचक्रके ऊपर ध्यान करो। योगदर्शनवाले जो हैं, वे कहते हैं कि षट्चक्रभेदन करो। तो मूलाधारसे षट्चक्रमें-मूलाधारसे स्वाधिष्ठानमें, वहाँसे मणिपूरकमें, वहाँसे अनाहतमें, वहाँसे विशुद्धमें, विशुद्धसे आज्ञाचक्रमें, आज्ञाचक्रसे सहस्रारमें, सहस्रारसे भी ऊपर शून्यशिखरमें, ब्रह्मरन्ध्रमें ऐसे। तो हम आपसे यह पूछते हैं कि—एक तो बताता है कि वैखरीवाणीसे नीचेकी ओर चले जाओ मूलाधारमें परमात्मा मिल जायेगा। मूलाधारमें मिलेगा, स्वाधिष्ठानमें मिलेगा, मणिपूरकमें मिलेगा, अनाहतमें मिलेगा। कोई-कोई तो कहता है, नीचेकी ओर जाओ, और कोई कहते हैं बिल्कुल ऊपरकी ओर जाओ तो ब्रह्मरन्ध्रमें मिलेगा। तो आप हमको बताओ कि असलमें परमात्मा है कहाँ? नीचेकी ओर है कि ऊपरकी ओर है? बीचमें हृदयकी ओर है, मणिपुरकमें कि नाभिमें है? यह हिल रहा है, महाराज! हिल रहा है तो नाभिकी ओर है।

मैं जबलपुर गया था, तो वहाँ एक माताजी आयीं हमारे पास। माताजी आयीं, तो बोलीं कि—'महाराज! मैं तो बल्लभसम्प्रदायकी हूँ। पहले अपने गोपाललालका ध्यान करती थी। गोदमें लेकर खिलाती थी, चूमती थी और उनके बाल सँवारती थी, और वह किलकारी मारकर हँसते थे हमारी गोदमें। अब एक संत आये। उन्होंने हमको बता दिया कि यह जहाँसे साँस चलती है, हिलती है, वहाँ एक नाभिके पास एक शून्य है। सो महाराज, अपना जब उसमें मैंने मन लगाया, तो जो हमारी गोदमें बालगोपाल थे, सो भी चले गये और शून्यमें तो कुछ मिला ही नहीं। मैं तो बिल्कुल खाली हो गयी, खाली हो गयी। अब हम क्या करें?'

मैंने कहा—'अरी माता!' बड़ी उम्रकी हैं। 'अरी माता, तुम अपने बालगोपालको मत छोड़ो न! वह नाराज हो गये हैं तुमसे। तू तो बस

उन्हींको अपनी गोदमें लेकर खिला। कुल कहनेका मतलब क्या है कि आप ध्यानमें एक स्थिति बनाइये। वह कल्पित होगी बिल्कुल। मैं जाती-आती वृत्तियोंका दृष्टा हूँ—यह भी कल्पित वृत्ति है और मैं सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओंसे अतीतपूर्ण ब्रह्म हूँ—यह भी कल्पित-वृत्ति है भला! कल्पित माने शास्त्रजन्य, गुरुवाक्यजन्य कल्पित वृत्ति है। पर एक वृत्ति आप निश्चित, सुनिश्चित बनाइये। चाहे आप द्रष्टा होकर रहिए, चाहे ब्रह्म होकर रहिये, भला! चाहे आप दासी होकर रहिये, चाहे सखी होकर रहिये। आप लोगोंको सखी होनेका मन हो, जिसका मन हो, तो यह जो हमारे अमेरिकन मित्र आये हैं न, हाँ, 'भक्तिवेदान्तजी' वे तो वृन्दावनके हैं—यह जो लोग संकीर्तन करते हैं। आप लोगोंको सखी बननेकी इच्छा हो तो 'अतुलकृष्णजी महाराज'से पूछ लीजिये कि सखी कैसे बना जाता है? वे बतायेंगे। वे तो हमारे बड़े मित्र हैं। वे आपको सखी बनना बता देंगे।

किसी योगी गुरुसे आपको दीक्षा लेनी हो तो आपको वे षट्चक्र-भेदनकी प्रक्रिया बता देंगे। कृष्णका ध्यान करना हो तो कोई हृदयमें बता देगा। यह सब है ध्यान, पर इस ध्यानका तत्त्व यही है कि आपको एक स्वीकृति, एक मान्यता और एक श्रद्धाविश्वासपूर्वक एक निष्ठा स्वीकार करनी पड़ेगी, तब आपका ध्यान बनेगा। इसके बिना ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञानके साथ तुलना करके हम आपको आगे बतायेंगे।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 3 :

'ध्यानं व्याख्यास्यामः'—अब ध्यानकी व्याख्या करते हैं। ध्यान तीन प्रकारका होता है। ममतानुबंधी, समतानुबंधी और अहंतानुबंधी। तो ममतानुबंधी ध्यानके अधिकारी सब होते हैं, पर हमारा कहना यह है कि कोई भी धर्म हो, संस्कृति हो, चाहे आध्यात्मिक, चाहे आधिदैविक, चाहे आधिभौतिक, जैसे संविधान राज्यके सभी प्रजाके लिए होता है, वैसे जो शास्त्र, जो संस्कृति, जो धर्म सारी प्रजाके कल्याणके लिए मार्ग बतायेगा, वह तो होगा पूर्ण। जो कहेगा केवल सफेद कपड़ेवाले इसमें आवें, केवल पढ़े-लिखे लोग आवें, इतनी आमदनीसे ज्यादा हो तो आवें, तो वह संविधान सारे देशके लिए नहीं होगा, कुछ लोगोंकी छँटाई कर देगा, वह अधूरा होगा।

असलमें पूर्ण संस्कृतिकी साधना वही होती है जिसमें सबका अनुप्रवेश होता है। इसमें भी एक बात है। 'महात्मा गाँधी'से किसीने कहा-कि 'फर्स्ट क्लासमें बैठो।' तो बोले कि—'जिसमें गरीब नहीं बैठ सकते उस क्लासमें हम नहीं बैठेंगे। गरीबोंके साथ बैठनेमें हमको आनन्द है। हम तो थर्ड क्लासमें बैठेंगे।' तो वे अपनेको जनताके साथ, प्रजाके साथ मिलाकर, सबके साथ तादात्म्य करके चलना चाहते हैं।

अब एक सेठ हैं, उसने कहा कि—'हम प्रेमकुटीरमें सत्संग' करनेके लिए आवें? राम-राम! राम!! वहाँ सबके साथ नीचे बैठना पड़ता है। और सबकी साँस अपनी साँससे मिलती है। हाँ, आप कभी-कभी हमारे घर पधारा कीजिए, यहाँ हमारी बड़ी रुचि है सत्संगमें।' रुचि

हो तो तकलीफ न उठावें, ऐसा कैसे होगा? तो कई साधकोंको अपनी श्रेष्ठताका अभिमान होता है कि—'हमारा अन्तःकरण अधिक शुद्ध है, हमारी समझ बहुत ज्यादा है।' तो यह जो अभिमानसे ग्रस्त होकरके, साधारण साधनोंका परित्याग करके, अपने लिए केवल विशेष साधन ही स्वीकार करते हैं वे असलमें अभिमानसे ग्रस्त होनेके कारण साधन क्षेत्रके उत्तम अधिकारी ही नहीं हैं। और इसका फल यह होता है कि छोटे साधनोंसे जिन दोषोंको दूर किया जाता है, जैसे-'राम-राम' कहनेसे गाली देना बन्द होगा। आप साधारण रूपसे यह समझ लो, आपकी जिह्वा किसीकी निन्दा नहीं करना चाहेगी। और, भगवान्‌से प्रेम करनेपर किसी स्त्रीसे, पुरुषसे आपका प्रेम नहीं होगा। तो छोटे-छोटे साधनोंके करनेसे अपने जीवनमें जो दोषोंकी, दुर्गुणोंकी निवृत्ति होती है, उन श्रेष्ठ साधनोंके अभिमानियोंमें-से वे दोष नहीं जाते हैं। वे जब ध्यान करेंगे तो कहेंगे कि 'हम ब्रह्म हैं, हम दृष्टा हैं, तटस्थ हैं, हम कूटस्थ हैं, शान्त हैं, शून्य-ही-शून्य हैं।' लेकिन जब व्यवहारमें जायेंगे तब थोड़ी-थोड़ी बातके लिए राग करेंगे, द्वेष करेंगे, मोह करेंगे, तो उनके अन्दरके जो छोटे-छोटे दोष हैं, वे निवृत्त नहीं होंगे। ये क्यों निवृत्त नहीं होंगे? क्योंकि उन्होंने कुछ साधनोंको छोटा समझकर उनका अनादर कर दिया है। तो उस अनादरका फल उनको भोगना पड़ता है। जिन्दगीभर उनको दुःख भोगना पड़ेगा।

ये जो बड़े साधन हैं, वो छोटे साधनोंके लिए जो निवर्त्य हैं उन दोषोंको निवृत्त नहीं करते हैं। हाथी हल जोतनेके काम नहीं आता है। बिगड़ जाय महाराज, तो हलवाहा और हल धरे रह जायेंगे।

ज्ञान केवल अज्ञानको निवृत्त करता है। योग केवल विक्षेपको निवृत्त करना है, भक्ति केवलं वासनाको, निवृत्त करती है और धर्म दुश्चरित्रताको निवृत्त करता है। अगर आप दुश्चरित्रता परित्याग न करें, केवल वासनाके परित्यागका अभ्यास करें, तो ऐसे कहने लगेंगे कि 'हम तो निर्वासन हैं, दुश्चरित्रता है तो रहने दो। यह तो छोटे स्तरमें है।'

यदि आप विक्षेपको रोकने लग जायेंगे तो कहेंगे अच्छा, कभी-कभी वासना आ जाती है तो कोई बात नहीं है और यदि केवल अज्ञानकी ही निवृत्तिमें लग जायेंगे और बोले-'वासना आवे चाहे जाय, हम तो कूटस्थ हैं, हम तो एकररस हैं, तटस्थ हैं।' तो इस तरहसे होता यह है कि क्रम-क्रमसे सोपानपर न चढ़नेके कारण दोषोंकी निवृत्ति नहीं हो पाती इसलिए आप अपने अपने जीवनकी परीक्षा करके देख लो।

जो साधक इन्द्रियोंके संयमसे प्रारम्भ करेगा उसकी आँख इधर-उधर नहीं जायेगी और जो साधक केवल विवेकसे ही प्रारम्भ करेगा, वह कहेगा, 'आँख इधर-उधर गयी तो क्या हो गया?' तो ऐसे हमको हजारों आदमी मिलते हैं। इसलिए साधनकी कक्षा जो है, वह सबके लिए होनी चाहिए और सब कोटिके लोगोंके लिए होनी चाहिए। हम सारे भारतवर्षके लिए नहीं, सारी मानवताके लिए हैं। और, वह भी केवल वर्तमान मानवताके लिए नहीं, भूत और भविष्यकी मानवताके लिए भी जो कल्याणकारी है, उसका आदर करते हैं उसका सम्मान करते हैं, उसको काटते नहीं हैं।

हम ऐसे भी कहते हैं कि एक राजा है। वह एक सहस्र स्त्रियोंके साथ दुष्टता कर सकता है, तो यदि उसने चार विवाह करके या दस विवाह करके अपने आपको सीमित कर लिया तो एक सहस्र स्त्रियोंको दूषित करनेकी अपेक्षा दस स्त्रियोंके साथ विवाह कर लेना—इसको हम धर्म मानते हैं। और दससे न करे, दो से करे तो और बड़ा धर्म हो गया। दो से न करे, एक से ही करे तो श्रेष्ठ धर्म हो गया। एक से भी करे और उसमें भी एकादशी, आमावस्या, पूर्णिमा आदिका परित्याग करे, स्थान-विशेषका परित्याग करे, धर्मानुसार चले तो और बड़ा-बड़ा धर्म हो गया। जितना-जितना वह अपनेको सीमित, मर्यादित करता जायेगा, उतना-उतना ही वह साधनाके क्षेत्रमें आगे बढ़ता जायेगा।

इसलिए जो लोग धर्माधर्मके विवेकको त्याज्य मानते हैं, वे मूर्ख हैं गैरजिम्मेवार हैं। और, किससे प्रेम नहीं करना, प्रेम किससे करना है?

‘प्रेम तो कीजिये नन्दनन्दनसे’—यह ममतानुबंधी ध्यान है। आपकी जहाँ-जहाँ ममता है, स्त्रीसे ममता है, पुत्रसे ममता है, पतिसे ममता है, तो भगवान्से ममता कीजिए। हमारा मतलब-मकानसे ममता है, तो धामसे कीजिए। भगवान्के साथ ममता जोड़िये। उनके साथ, और किसीके साथ न रहे ममता। वे मेरे मित्र, वे मेरे पुत्र, वे मेरे पिता, वे मेरे गुरु। यह जो ममतानुबंधी ध्यान है, वह संसारके ममत्वको छुड़ा देगा। इसमें भी पन्थ होते हैं। एकने कहा—‘राम ही का करना, कृष्णका मत करना।’ गैरजिम्मेवार बिल्कुल। ‘कृष्ण ही का करना, रामका मत करना।’ ये पन्थ हैं। पंथमें पूर्णता नहीं है। असलमें राम भी वही है, कृष्ण भी वही है, शिव भी वही है, शक्ति भी वही है। वे तो अपने-अपने चेलोंमें भरती करानेके लिए दूसरोंकी निन्दा करते हैं। उसका कोई महत्त्व नहीं है।

यह जो दृश्य हमारे सामने देखो—तत्-पदार्थको प्रत्यक्षमें स्थापित करके उससे ममता करना, यह तो ममतानुबंधी है। माने ईश्वरसे ममता करना, संसारसे नहीं। अच्छा, अब समतानुबन्धी ध्यानकी चर्चा आपसे करते हैं। समतानुबंधी और अहंतानुबंधी है। और समता क्या है? इसमें प्रत्यक्षमें परोक्षकी स्थापना करना आवश्यक नहीं है। आओ, जरा प्रत्यक्षपर ही ध्यान दो कि यह क्या है?

भौतिकरूपसे सब सम हैं। भूतरूपसे सब सम हैं। सत्तासामान्यकी दृष्टिसे सब सम हैं। दृश्य होनेसे सब सम हैं। भानरूप होनेसे सब सम हैं। विवेक करो। यह सृष्टि जो तुम देख रहे हो, यह दृश्य है, तुमसे अलग जो कुछ तुम्हें दिखायी पड़ता है, वह क्या है?

असलमें उसमें रागद्वेष करके आप दुःखदायी क्षेत्रमें गिर जाते हैं। राग और द्वेषको मिटानेकी एक पद्धति हुई कि परमेश्वरसे रागद्वेष करें और संसारसे रागद्वेष छोड़ें। परमेश्वरसे किया हुआ जो रागद्वेष है, वह संसारके रागद्वेषको छुड़ा देगा। परन्तु यदि आप यह चाहते हों कि रागद्वेष किसीसे न हों। तो या तो तत्त्व-ध्यान करना पड़ेगा। माने दृश्य क्या है?

इसका विवेक करना पड़ेगा। विवेक करके और अपने आपको दृश्यमें कहीं रागद्वेषसे युक्त नहीं करना पड़ेगा।

मूल बात यह है कि रागद्वेष शिथिल हुए बिना तत्त्वज्ञानका होना दुर्लभ है। यह जो हमारे सामने दिख रही है सृष्टि यह क्या है? बोले- देखो, रागद्वेषका हेतु क्या है? स्त्रियोंने अपना एक समाज बना लिया। बोले—पुरुषोंसे सावधान! बड़े धोखेबाज हैं। और पुरुषोंने एक अपना समाज बना लिया—'भाई! ये शासन नहीं कर सकतीं, ये विश्वसनीय नहीं हैं, इनका मन जल्दी डिग जाता है। सावधान!' क्या हुआ? स्त्रियोंने पुरुषोंसे पुरुषोंने स्त्रियोंसे—ये हम समाजके रूपमें यों ही बोल रहे हैं। इसको एक्का-दुक्का भी समझ लो। स्त्री-पुरुषका मत समझो। ऐसे समझो कि पुरुष पुरुषसे, स्त्री स्त्रीसे—स्त्री पुरुषसे, पुरुष स्त्रीसे रागद्वेष करते हैं—वेदोंमें ऐसा वर्णन है।

'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत, मा स्वसारमुत स्वसा।'

भाईसे भाई द्वेष न करे, बहनसे बहन द्वेष न करे। भाई बहन परस्पर द्वेष न करें।

सहृदयं साम्मनस्यमा विद्वेषं कृणोमि वः।

सरपंच बोलता है, जनपद सभामें बैठकर 'आपके हृदयमें आपका अभिप्राय एक हो, आशय एक हो, आपका संकल्प एक हो, आपमें विद्वेष न हो।' सहृदयं माने आशय एक हो। साम्मनस्यं माने संकल्प एक हो और अविद्वेषं माने फूट न पड़े। यह हम प्राणप्रतिष्ठा करते हैं। 'साम्मनस्य, सहृदयता और अविद्वेषकी प्राणप्रतिष्ठा हम आपके हृदयमें करते हैं।'

अन्योऽन्यं अभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

जैसे तत्काल पैदा हुए बछड़ेसे गाय प्रेम करती है। तो किसी भी हालतमें हृदयमें जब तक राग रहेगा, तब तक सच्चाईके ज्ञानमें बाधा पड़ेगी और द्वेष रहेगा तब भी सच्चाईके ज्ञानमें बाधा पड़ेगी। अब उस रागद्वेषको मिटानेके लिए क्या करना चाहिए? तो रागद्वेषको मिटानेके

लिए सर्व-साधारणके लिए ममतानुबंधी ध्यानकी जरूरत है। सर्व-साधारणके लिए—उसमें यह नहीं कि पढ़े-लिखे लोग, बड़े-बड़े सेठ एयरकंडीशनमें बैठ कर थोड़ा सिर सीधा करें और कहें—'हमारा ध्यान लग गया।' वह नहीं। ममतानुबंधी ध्यान सर्वसाधारणके लिए है। जैसी ममता तुम संसारमें करते हो, वैसी ममता ईश्वरमें करो। इससे संसारके प्रति रागद्वेष मिट जायेगा।

अब दूसरी बात है समतानुबंधी ध्यान। समतानुबंधी ध्यान क्या है? भौतिकत्वेन सब सम। यह स्त्री है, यह पुरुष है। यह क्या बात है? शरीरकी बनावटमें एकके दाढ़ी-मूँछ आगयी एकके नहीं आयी। थोड़ा-थोड़ा फर्क है। शरीरकी बनावटमें थोड़ा-थोड़ा फर्क पड़ गया। एक प्लास्टिककी स्त्री बनावे और एक पुरुष बनावे तो स्त्री-पुरुषकी शकलमें फर्क होगा, प्लास्टिकमें फर्क नहीं होगा। तो आप अपने सुखस्वादकी दृष्टिसे सृष्टिको मत नापिये, तत्त्वकी दृष्टिसे सृष्टिको नापिये। यह समतानुबंधी ध्यान होगा।

तो, सब पंचभूतके पुतले हैं, इसलिए सब समान हैं। तब रागकी ओर आपके अन्तःकरणका पलड़ा दबे नहीं और द्वेषकी ओर उठे नहीं। द्वेषकी ओर उठे नहीं और रागकी ओर दबे नहीं। आपके अन्तःकरणके तराजूका जो पलड़ा है, जो तुला है, वह समत्वमें रहे। उसमें यह है कि ममतानुबंधी ध्यानमें क्या है कि संसारकी ओर बहुत झुका हुआ है। तो ईश्वरकी ओर जब इसको झुकाने लगेंगे तब समतापर आ जायेगा।

हमारे गाँवमें जब अनाज पैदा होता था, तो लोग तौलते थे न, तो हम भी कभी-कभी तौलनेके लिए बैठ जाते थे, भला! तो तराजू हाथसे, मुट्ठीसे पकड़ कर—सबको पकड़ना भी नहीं आता है और घुटनेपर कोहनीका बल लगाकर उठाते थे। तो एक ओर जब तराजू भारी होता था, तो दूसरी ओर जब कोई चीज डालते थे तो वही एक बार नीचे चला जाता था। जैसे इधर भारी हो गया। लेकिन थोड़ी देरमें फिर समता आ जाती थी।

तो, जो संसारकी ओर पलड़ा भारी हो गया है, उसको एक बार ईश्वरकी ओर भारी करो। ईश्वरकी ओर भारी करोगे तो फिर थोड़ी देरके बाद दोनों समान हो जायेंगे। यही समत्वका सिद्धान्त है और जबतक एक ओर पलड़ा झुका रहेगा, तबतक बीचमें जो ज्ञानकी धारा बहती है, सुषुम्नाकी जो धारा बहती है, उसका छेद बन्द रहेगा।

बिना चित्तमें समता आये, चाहे ममतासे और चाहे तत्त्वविवेकसे, चाहे आत्मज्ञानसे, जब तक सुषुम्नाकी धारामें समत्व नहीं आवेगा, जन्म-मरणमें एकता, मृत्यु और जीवनमें एकता, सम्पत्ति और विपत्तिमें एकता, सुख और दुःखमें एकता, विक्षेप और समाधिमें एकता जबतक समताका उदय नहीं होगा नारायण! तब तक वह ज्ञानका द्वार, स्रोत, ज्ञानकी धारा जो बन्द हो गयी है, खुलेगी नहीं। उसको खोलनेके लिए समताकी जरूरत है।

तो अब देखो—सब-के-सब भौतिक हैं। अब इसको एक दृष्टान्त देकर समझाते हैं। अकबरने बीरबलकी बेटीको पसन्द कर लिया। उसके पास बीरबल नहीं थे। समाचार भेज दिया कि तुम हमारे पास आओ। हमसे मिलो। बीरबलकी बेटीने कहा—'जहाँपनाह! आप ही हमारे घरमें पधारिये। सबसे बड़ा सौभाग्य यही होगा हमारा।'

अकबरने कहा, बहुत बढ़िया बात। उसके घर गये। घर गये तो अच्छी-अच्छी रूमालसे ढँक कर—सोने-चाँदीकी पचासों तश्तरी रूमालसे ढँक कर रखी हुई थी। उसने एक लाकर पेश किया, तो नींबू था। नींबूपर नमक-मिर्च और उसमें पीला रंग था। दूसरी लायी तो लाल रंग था। तीसरी लायी तो हरा रंग था। लेकिन था सब नींबू।

अब जहाँपनाहने पूछा—'यह क्या, शरारत है? यह क्या वाहियात काम है?' तो वह बोली—'हजूर! जहाँपनाह! ये जितनी लड़कियाँ हैं संसारमें, उनके पीला-लाल-सफेद रंगमें ही फर्क है, स्वादमें कोई फर्क नहीं है। सब नींबूका रस है। यह जो आप जगह-जगह नयी-नयी लड़कीकी तलाश करते हैं, यह आप सिर्फ रंग देखते हैं। स्वादपर

आपकी दृष्टि नहीं है।' तो बोला बाबा, यह बीरबलकी बेटी है। इससे पार पाना कठिन है। अपना-सा मुँह लेकर लौट गया।

तो यह जो संसारमें शकल-सूरतकी बनावट अलग-अलग, मकानकी डिजाइन अलग-अलग, सब सिमेण्टके बने हुए, माटीके बने हुए हैं। ऐसे बर्फकी डली अलग-अलग हैं, पर सब पानीकी बनी हुई हैं। तो यह जो भौतिकत्वेन साम्य है सृष्टिमें, यह समतानुबंधी ध्यानकी पद्धति है। कहीं किसीसे राग-द्वेष मत करो। सब भौतिक मसालेसे बने हुए इधर-उधर घूम रहे हैं।

बच्चेके लिए हजार रुपयेके नोटमें और एक रुपयेके नोटमें कहाँ फर्क है? वह तो दोनोंको कागज समझता है और फाड़ देता है। वह गिनती नहीं पहचानता है कि यह हजार है कि एक है। तो आपको यदि अपने हृदयको रागद्वेष रहित करना है तो (1) भौतिकत्वेन सबमें समता देखिये। सब भूतसे बने हुए हैं। (2) दूसरा भूतत्वेन समता देखिये। पंचभूत ही हैं सब। यह उससे ऊँची है। और फिर (3) सत्ता सामान्य, पाँच भूत नहीं हैं। अस्ति-अस्ति-अस्ति। भौतिक नहीं भूत है, भूत नहीं, सबमें एक सत्ता है। उस सत्ताका नाम प्रकृति रख दो, परमाणुओंका समूह रख दो। मारो गोली-शून्यमें-से निकला हुआ रख दो। कुछ भी हो, पर है सब एक, सत्ता सामान्य रूपसे सब एक है। अब देखो, (4) दृश्यरूपसे सब एक है। देखो—सत्तामें और दृश्यमें क्या अन्तर हो गया? सत्तामें और दृश्यमें यह अन्तर हो गया कि जहाँ सत्ता सामान्य देखते समय यह ज्ञानैक प्रकाश्य है, यह दृष्टि नहीं थी, वहाँ उस सत्ता-सामान्यको ज्ञानैक प्रकाश्य, आत्मैक्य प्रकाश्य उसमें प्रकाश और सत्ताका मिश्रण हो गया। फिर भी सब एक हैं। (5) अच्छा, दृश्यकी जगहपर अब देखो वह भानमात्र है। अच्छा दृश्य होनेमें और भानमात्र होनेमें क्या फर्क है? चेतन और जड़के मिश्रणसे दृश्य भासता है और भानमात्र कहनेपर क्या होता है कि केवल ज्ञान ही है। केवल ज्ञान ही है। जड़ सत्ता नामकी दूसरी जो वस्तु है, वह प्रातीतिक है। इस तरह

देखो दृश्यका विचार करते-करते आपकी वृत्तिमें समत्वका उदय हो गया। इससे दृश्यमें ज़ो राग-द्वेष था, वह मिट गया। अभी हम ज्ञानकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

यह कल सुना चुके हैं आपको कि जब एक स्थितिसे मनको हटाकर दूसरी स्थितिमें करना है; जब आप पहले ही निर्णय कर लेते हो, कि चंचलता बुरी है और स्थिरता अच्छी है, और जब पहले ही यह निर्णय कर लेते हो कि दृश्यता बुरी है और द्रष्टापन अच्छा है, तो भेदको ध्यानमें रख करके ही तो आप कोई ध्यानकी स्थिति उत्पन्न करना चाहते हो। इसमें निर्विशेष ज्ञानकी खिचड़ी करनेकी तो जरूरत ही नहीं है। क्योंकि यदि विशेष न होता तो एक स्थितिसे हटा करके दूसरी स्थिति क्यों? दृश्यसे हटाकर दृष्टा क्यों? चंचलतासे हटाकर स्थिरता क्यों और अनेकतासे हटाकर एकता क्यों?

यदि तुम्हें एकता और अनेकतामें भेद नहीं है, दृश्यता और द्रष्टापनमें भेद नहीं है, चंचलता और स्थिरतामें भेद नहीं है, तो निर्विशेष ज्ञानका उदय हो करके विशेषका भेदभ्रम नष्ट हो जानेके बाद ध्यानका सवाल कहाँ पैदा होता है?

परन्तु, जब तक निर्विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, तब्र तक उस ज्ञानके उदयके लिए, अन्तःकरणमें जैसी भूमि बनानी चाहिए वैसी भूमि बनानेके लिए अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा भूत न हो तो भौतिक कहाँसे? और भौतिकके बिना भी भूत रहता है। सत्तासामान्य न हो तो भूत कहाँसे? भूतके बिना भी सत्तासामान्य रहता है। दृश्य न हो तो सत्तासामान्य कहाँसे? और सत्तासामान्य न हो तब भी दृश्य रहता है। और दृश्यमें दृष्टि और दृश्यका भेद न हो, केवल प्रतीतिमात्र ज्ञानमात्र हो। उसको भी पकड़ कर यदि रखना पड़े, वह भी यदि कृत्रिम हो तो वह ध्यानकी स्थिति होगी, इसलिए अन्तःकरणमें रागद्वेषका जो शैथिल्य है, उसको अभाव नहीं बोलते हैं। यह तो आजकल लोग अपने मनसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं। हम तो जबसे उस शब्दका उद्भव हुआ तबसे

लेकरके क्या परिभाषा बनाकर उस शब्दका प्रयोग किया गया, जानते हैं। तो उस शब्दका स्वरूप और तत्सम, तद्भव और देशी, ये भेद होते हैं। हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें इनका निरूपण है। तो किसी भी अन्तःकरणमें अन्तःकरणके रहते राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव नहीं होता है। अन्तः-करणके अत्यन्ताभावका जो अधिष्ठान है, स्वरूप, ज्ञान मात्र, उसीमें रागद्वेषका अत्यन्ताभाव होता है। इसलिए ममतानुबंधी ध्यानके द्वारा कि सब ईश्वर हैं और समतानुबंधी ध्यानके द्वारा कि सब सम हैं। अन्तः-करणमें राग-द्वेषको शिथिल कर देना, यह ध्यानका प्रयोजन है।

अभी हम दूसरे पक्षकी कोई भी बात नहीं सुना रहे हैं। मनमें आती है, मगर उसको रोक लेते हैं। क्योंकि ज्ञान जो है, वह वस्तुको ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता है। और ध्यान जो है, वह अपनी पसन्दगीको रोकता है। ध्यान माने जो स्थिति चाहे, वह शून्य हो और चाहे वह प्रियतम हो, चाहे वह निर्विषय शून्य स्थिति हो, समाहित स्थिति हो, चाहे वह प्रियतम हो, दोनोंमें-से किसीको रोक लेना और नहीं तो सब दृश्य बहता जा रहा है और मैं द्रष्टा अचल हूँ यह अपनी अचलताको ही रोक लेना। तो रोकनेमें ध्यान है और प्रकाशनमें ज्ञान है। तो अनुकूलतया प्रकाशित जो पदार्थ है, वह विशेषका ज्ञान है, क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूलमें-से अनुकूलको प्रकाशित करना दूसरी चीज और प्रतिकूलको प्रकाशित करना दूसरी चीज। तो प्रकाशित जो अनुकूल है उस अनुकूलको रोक रखना उसका नाम ध्यान है। वेदान्ती लोग इसको ज्ञान नहीं बोलते हैं।

वेदान्ती लोग तो इसको सविशेषका ज्ञान बोलते हैं। विशेषका ज्ञान। निर्विशेषके ज्ञानमें यह जाय कि यह रुके—जब दोनों एक सरीखे ही हैं, तो किसको जाने दें और किसको रोकें? बिल्कुल बिना तनावकी स्थिति तत्त्वज्ञानमें, ब्रह्मज्ञानमें होती है। तो अभी हम आपसे आपके स्वरूपके प्रकाशमें और इष्टरूपसे इष्ट माने राम-कृष्णका नाम नहीं लें, भला! हम लोग 'इष्ट' शब्दका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थमें करते हैं।

आपकी पसन्दमें कोई आकृति है कि नहीं है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि आप निराकार स्थितिको ही पसन्द करते हैं, निर्विषय स्थितिको ही पसन्द करते हैं। तो इसमें भी तीन विभाग होंगे। इनकी भी गणना होती है, भला! आप लोग ताली नहीं पीट लेना। इसमें विभाग होता है कि आप स्थिर किसको करना चाहते हैं? किसी विषयको जान कर, अच्छा समझकर हृदयमें स्थिर करना चाहते हैं कि किसी स्थानको हृदयमें स्थान-विशेषको देखना चाहते हैं। खाली स्थानको देखना चाहते हैं या भरे हुए स्थानको देखना चाहते हैं? और उतने कालको खाली रखना चाहते हैं कि भरा रखना चाहते हैं। तो जितने कालको आप खाली रखेंगे वह निर्विषय ध्यान हो जायेगा। और जितने देशको आप खाली रखेंगे, वह भी निर्विषय ध्यान हो जायेगा। विषयरहित हृद्देश और विषयरहित क्षणादि काल। आप एक क्षण तक, दो क्षण तक, सात क्षण तक किसी भी विषयका चिन्तन मत आने दीजिये। यह भी एक ध्यान हुआ।

अब हम समझते हैं कि इसमें कोई भी विषय नहीं है, स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है, शब्द नहीं है, स्पर्श नहीं है, रूप नहीं है, रस नहीं है, लेकिन जो हम समझते हैं कि—'इतने काल तक नहीं रहा'—वह काल भी असलमें विषय ही है, क्योंकि वह विषयसे घिरकर ही कालकी परिच्छिन्नता है—यदि आपको ऐसा मालूम पड़ता है कि—आधे घण्टे तक या पन्द्रह मिनट तक हमारा चित्त निर्विषय रहा या हमने शून्यको देखा, तो वह आधे घण्टेसे घिरा हुआ जो काल है, वह काल असलमें अपने पहले और पीछे दोनों ओर विषयको लेकर काल प्रकाशित हुआ। वहाँ आपकी कालकी वासना जो है वह मिटी नहीं।

अच्छा, आपको इतने देशमें हृदयमें, नाभिमें या मूलाधारमें या शिरोभागमें—यह सब तो आकाशमें है—ये सब-की-सब कल्पना हैं। आकाश तो जो इस कमरेके भीतर है, या कमरेके बाहर है, वही आकाश इस शरीरके भीतर भी है। कोई दूसरा आकाश तो है नहीं।

मूलाधार खाली कर लो, स्वाधिष्ठान खाली कर लो, मणिपूरक खाली कर लो, नाभिके पास खाली कर लो या हृदयके पास खाली कर लो, या गलेके पास खाली कर लो, या दोनों आँखके बीचमें खाली कर लो, या ब्रह्मरंध्रके पास खाली कर लो—जहाँ भी आप कहीं आप ख़ाली करोगे, असलमें जो देशमें आपको सीमा भास रही है, खालीकी हुई, वह तो दिक् है वह शुद्ध चेतन नहीं है। वह तो शुद्ध ब्रह्म नहीं है वह शुद्ध स्वरूप नहीं है। आपने तो देश और कालको उसके साथ जोड़ ही रखा है। वह तो अविवेकके कारण मालूम पड़ता है कि यह स्थिति निर्विषय हो गयी।

अब विषय क्या होता है और विषयी क्या होता है? विषयी माने विषयको ग्रहण करनेवाला। द्रष्टा नहीं, विषयीको द्रष्टा नहीं बोलते हैं। विषयी कूटस्थ नहीं है, विषयी साक्षी नहीं है, विषयी ब्रह्म नहीं है। यह विषय-विषयी-भाव तो ज्ञाता और ज्ञेयभावके समान द्वैधात्मक है। वह तो अध्यासमें ही विषय-विषयीभाव है, जो लोग वेदान्तदर्शनकी पहली पंक्ति पढ़ते हैं—विषय और विषयी प्रकाश और तमस्‌के समान विरुद्धस्वभाव तो ये विषय और विषयी विरुद्धस्वभाव हैं। एक विषय है और एक विषयी है। तो देश भी विषय है और आत्मा विषयी है। काल भी विषय हैं और आत्मा विषयी है। नामरूप भी विषय है और आत्मा विषयी है।

तो, यदि आप यह कल्पना करते हैं कि हमारे हृदयका यह देश इतना बड़ा निर्विषय है, तो असलमें देश भी विषय है। यदि यह सोचते हो कि इतने काल तक हमारा अन्तःकरण निर्विषय, तो वह भी विषय है। तो ध्यानका अर्थ क्या होता है?

अब आप देखो—ध्यानका अर्थ होता है कि निर्विशेषकी चर्चा छोड़ो। अभी पहले सविशेषको ठीक-ठीक समझो। वह खाली देश सविशेष है कि निर्विशेष? हजारों आदमी ऐसे हैं कि जिनको निर्विशेष और निर्विषयका विवेक नहीं हैं। निर्विशेष क्या होता है और निर्विषय क्या होता है?

निर्विषय जो है वह सविशेष ही होता है। आप याद कर लो इसको। जो निर्विषय होगा वह सविषयकी अपेक्षासे निर्विषय होगा। एक स्थिति सविषय है और एक स्थिति निर्विषय है। दोनों दो जगह हैं, या दोनों दो समयमें हैं या दो रूपमें हैं?

निर्विषय स्थिति भी सविषय ही है। तो इसीलिए निर्विषय स्थिति भी बनायी जाती है। तो निर्विषय स्थिति बनानेके लिए एक ध्यान होता है।

तो अब आप देखो-साकार ध्यान भी सविशेष है और आकारको हटाकर आकाशाभाव देशका ध्यान भी सविशेष है और आकाराभावके कालका ध्यान भी सविशेष है। दिक्-काल-वस्तुसे रहित जो स्थिति है, वह भी सविशेष स्थिति है, वह भी थोड़ी देर रहती है और थोड़ी देरमें टूट जाती है। देश-काल-वस्तुका अत्यन्ताभाव भी सविशेष है। क्यों सविशेष है? भावकी अपेक्षासे अभाव है। तो आप अब ध्यानको अपनी कक्षामें ले आइये।

कोई पूछे कि—'महाराज! आप ध्यान तो कराते नहीं, और ध्यानकी बात सुनाते हैं। कई लोग तो यह आशा लेकर आये होंगे कि हम चलकर ध्यानका व्याख्यान सुनेंगे और हमारा ध्यान लग जायेगा।' अच्छा, पहली बात आपको यह सुना दें कि जितनी देर तक आप ध्यानका व्याख्यान सुनेंगे, उतनी देर आपका ध्यान लग नहीं सकता। व्याख्यान सुनते समय आपका मन भिन्न-भिन्न शब्दोंको सुनेगा। कानकी श्रोतृवृत्ति आपकी जाग्रत् रहेगी। और भिन्न-भिन्न शब्दोंको आप ग्रहण करते रहेंगे। उसका नाम यदि आप ध्यान रखते हैं, तो भगवान् आपका भला करें।

ध्यानके सम्बन्धमें यदि इतनी ही जानकारी है कि हम भिन्न-भिन्न शब्दोंको सुनते भी रहें, श्रोतृवृत्ति जाग्रत् भी रहे और शब्दका श्रवण भी होता रहे। तो शब्द है, शब्दाकार वृत्ति है, शब्द-प्रतिपाद्य अर्थ है और बारम्बार-बारम्बार शब्द भिन्न-भिन्न अर्थोंका प्रतिपादन कर रहा है, और

आप ऐसे भलेमानुष बुद्धिमान हैं कि आपको इस श्रवणके द्वारा शब्दोंको विषय बनाते हुए भी अपनी चित्तवृत्तिको निर्विषय समझते हैं।

ऐसे ध्यान भी हमने किये हैं, महाराज! हमने बड़े पापड़ बेले हैं। हमारे एक सेठजी थे, वे ध्यान कराते थे। घण्टे-घण्टे भर, डेढ़-डेढ़ घण्टे हमारे तो कभी-कभी हाथ-पाँव शरीर सो जाता था। उठता नहीं था, हाथ उठता नहीं था, पाँव हटते नहीं थे, शरीर जड़ हो जाता था। तो सुनते-सुनते ध्यान होता था। जब मैं पूछता था कि ध्यान कैसे हुआ? तो बोलते कि नहीं, ध्यानके बारेमें आपका एक आइडिया था कि 'ध्यान ऐसा होता है, ध्यान ऐसा होता है।' एक आइडिया बनानेके लिए श्रवण होता है। श्रवण माने ध्यान नहीं होता है। श्रवण और ध्यान दोनों एक समय कैसे होगा?

अच्छा, तो आप हमारी बात सुनते-सुनते ध्यान लगा लें, यह तो तब हो सकता है जब हम वर्णन करना शुरू करें—'किसी साकार वस्तुका, किसी स्थानका, किसी वस्तुका—'क्या सुहावना समय है! सूर्योदय हो रहा है। क्या हरियालीका वन-प्रदेश है! क्या हर-हर-हर दुग्ध-धवन जलकी धारा बह रही है!' यह क्या हुआ। यह समय हुआ—सुहावना समय हुआ सूर्योदयका और नारायण! वन प्रदेश स्थान हुआ और उसमें बहती हुई जलकी धारा वस्तु हुई। यह तो देश-काल-वस्तुका ध्यान हुआ। 'यमुनाजी बह रही हैं। सूर्योदय हो रहा है। क्या हरियाली है वृन्दावनकी और उसमें मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए, पीताम्बर फहराते हुए भगवान् श्रीकृष्ण विचरण कर रहे हैं।'

अरे, चलो न, यदि आपको देश-काल-वस्तुका ही ध्यान करना है तो हमारे पास इसका टोटा थोड़े है? उसकी कोई कमी नहीं है।

तो नारायण! असलमें ध्यानके बारेमें ठीक-ठीक समझ पैदा करनेके लिए व्याख्यान होता है। अब आप ठीक-ठीक ध्यानको समझें। यदि हम आपको ऐसा ध्यान करावेंगे न, 'यह वृन्दावन है, यह अयोध्या है, यह राम हैं, यह कृष्ण हैं—तो यह तो जैसे गुरु अपने शिष्योंको ध्यान

करनेके लिए उपदेश करता है, यह पंथका उपदेश होगा। यह ध्यानका उपदेश नहीं होगा। कहा—'आप समके ध्यानमें आजाओ, आप कृष्णके ध्यानमें आजाओ, आप निराकारके ध्यानमें आजाओ, आप शून्यके ध्यानमें आजाओ।' वह तो अपने पंथमें दीक्षित करनेके लिए ऐसा ध्यान बताया जायेगा। और यदि आपको सामान्य रूपसे ध्यानके बारेमें ज्ञान देना है, अथवा ज्ञानजनक ज्ञानकी प्राप्तिमें उपयोगी ध्यानकी शिक्षा देनी है अर्थात् दो बात है—(1) ऐसा ज्ञान जो ध्यान प्राप्त करनेमें सहायक है, उसको सविशेष ज्ञान कहेंगे। (2) ऐसा ध्यान जो निर्विशेष ज्ञानकी प्राप्तिमें उपयोगी हो। इन दोनोंका दो विभाग कर लीजिये।

तो आओ, यह समतानुबंधी जो ध्यान है, यह कहता है कि सब भौतिक है, इसलिए राग-द्वेष मत करो। सब पंचभूत है, सत्तासामान्य है, इसलिए राग-द्वेष मत करो। और यह जब आपका निश्चय हो जायेगा, राग-द्वेषसे मुक्त होनेपर अनेक बातें आपके जीवनमें ऐसी आवेंगी, ऐसी आवेंगी, आपको क्या बतावें? इसी धरती पर और इसी जीवनमें आपको साक्षात् परमात्माका दर्शन होगा। साक्षात् परमार्थका दर्शन होगा।

कारण यह है कि अपनी मान्यताएँ जो हैं, वे हमारे दिमागमें छायी रहती हैं। हम 17-18 वर्षकी उम्रके थे। तो कनखलमें स्वामी भागवतानन्दजी महाराजके यहाँ ठहरे हुए थे। उनकी जवानी थी उस समय। वह भरा हुआ चेहरा और बैठते थे आनन्दसे। हम लोग हाथमें फूल लेकरके—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

बोलते थे। याद है हमको, जब एक मन्त्र बोला जाता था, हम चुप हो जाते थे। कौन-सा?

स मे कामान् काम कामाय मह्यं,
कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु।

जब यह मन्त्र बोला जाता था, तब उस समय हम चुप हो जाते थे। 'काम कामाय मह्यं' था न! कि 'मैं कामका कामी हूँ और यह कामेश्वर

वैश्रवण हमारी कामनाको पूरी करे।' तो हमारे मनमें आता था, हम निष्काम हैं, हमें कुछ नहीं चाहिए। हम क्यों कहते—'काम कामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु।'

हम 'कठोपनिषद्'का 'शांकरभाष्य' पढ़ते थे। उनकी जवानी थी, हम बच्चे थे। तो नारायण! वहाँ रहते-रहते मैंने एक संत मतके आचार्यको एक चिट्ठी लिख दी कि हम आपसे ध्यान सीखना चाहते हैं। तो उनका पत्र आगया उत्तरमें और उन्होंने लिखा—कि 'अभी तककी अपनी सब मान्यताओंको छोड़नेके लिए तुम तैयार हो? तैयार होओ, तब तो हमारे पास आनेसे तुमको लाभ होगा।' माने, उनका मतलब था, हम अपनी मान्यताओंको तुम्हारे दिमागमें भरेंगे तो तुम अपनी मान्यताओंको छोड़ो। हमारी मान्यताओंको अपने दिमागमें भरो—उनका मतलब यह था। और यदि अपनी मान्यताओंको छोड़नेके लिए तैयार नहीं हो तो हमारे यहाँ आनेसे कोई लाभ नहीं है।

यह चिट्ठी महाराज भागवतानन्दजीके हाथमें पड़ गयी, तो नाराज हुए। और बोले कि—'अरे! ब्राह्मण, इतने पढ़े-लिखे, इतने समझदार, वेदान्तका स्वाध्याय करते हो। अरे, वे तो तुम्हारी एक मान्यता छुड़ा करके अपनी मान्यता तुम्हारे दिमागमें भर करके गड़बड़ ही तो पैदा करना चाहते हैं न? एक मान्यता अच्छी है और दूसरी मान्यता बुरी है—ये मान्यताओंमें ही अच्छाई और बुराईका भेद पैदा करके तुम्हारे मनमें वह राग-द्वेष उत्पन्न करना चाहता है।'

ये भेदवादी लोग हैं, महाराज! भेदवादियोंके संसर्गसे बचना चाहिए। नारायण! तो ध्यान करना है तो भेदवादी लोग तुम्हारे हृदयमें तुम्हारे हृदयके तराजूको बिगाड़ देते हैं। उसमें समता-तुलाका जो न्याय है, जो तराजूका न्याय है, वह रहने नहीं देते हैं। एक तरफ झुका देते हैं। और, इसके झुकानेका फल यह होता है कि सुषुम्णाका संचार बन्द हो जाता है। न समाधि लग सकती उससे। ध्यान तो हो सकता है मान्यतामें, पन्थाई पनमें ध्यान तो हो सकता है, परन्तु समाधि नहीं लग सकती,

क्योंकि सुषुम्णाका संचार नहीं होगा और न वैराग्य हो सकता। राग-द्वेषकी निवृत्ति नहीं हो सकती। तो ध्यान हमारा ऐसा होना चाहिए कि जो हमारे राग-द्वेषको निवृत्त करके और ज्ञानकी जो धारा अवतीर्ण हो रही है हमारे हृदयमें, उसमें जो रुकावटें हैं, उनको दूर कर दे और स्वयं उसपर अपना रंग न चढ़ावे।

ध्यान ऐसा होना चाहिए जो हमारे रागद्वेषको दूर करे। ज्ञानधाराके प्रकाशमें जो अवरोध हैं, उनको दूर करे और अपना रंग ज्ञानपर न चढ़ावे। ज्ञान और ध्यानमें यह फर्क होना चाहिए कि ज्ञान जो है वह ध्यानको पीसनेमें समर्थ हो। ध्यान ज्ञानको अभिभूत करनेमें समर्थ न हो, आपको हम यह छुट्टी देते हैं कि यह खम्भा जो सीमेण्टका बना है, यह सोनेका है, ऐसा ध्यान कीजिये। ज्योतिर्मय स्तम्भ है ऐसा ध्यान कीजिए। जिससे यह होगा कि आपके अन्त:करणमें जो ऊलजुलूल बातें भरी हैं, वे निकल जायेंगी। ठीक है, उनके निकल जानेमें ये बातें समर्थ होंगी। उसको ज्योतिस्तम्भके रूपमें, या यह ध्यान कीजिए कि जितनी दूरमें खम्भा है, उतनी दूरमें कुछ नहीं है। शून्य ही है, यह खम्भा नहीं है। शून्य है, ऐसा भी आप ध्यान कर लीजिये यह साकार नहीं है, निराकार है, ऐसा भी ध्यान आप कर लीजिये। यह मलिन नहीं है, यह ज्योति है, ऐसा भी ध्यान कर लीजिये।

परन्तु; यह आपका ध्यान वास्तविकताके ज्ञानमें आड़े ना आजाय, प्रतिबन्ध न उपस्थित कर दे। यह सच्चे ज्ञानके उदयमें बाधक न हो जाय। आप खम्भेका ध्यान कीजिए, परन्तु खम्भेसे राग मत कीजिये। आप यह सोना है, यह ध्यान कर लीजिए, परन्तु यह सिमेण्ट है, इससे द्वेष मत कीजिये। नहीं तो सच्चाईका ज्ञान नहीं होगा। यदि आप सोनेका ध्यान करेंगे और सिमेण्टसे द्वेष करेंगे तो सत्यका ज्ञान नहीं होगा। तो नारायण! ध्यानके लिए ध्यान हमेशा ही ऐसा रहना चाहिये कि एक दिन आप जो ध्यान कर रहे हैं उसमें एक दिन ज्ञानकी दियासलाई लगायी जायगी। और यह भेद लेकरके जो ध्यान बैठा हुआ है। बिना भेदके ध्यान नहीं

बैठता उस दिन आपको यह मालूम पड़ेगा कि जिसको हम छोड़ रहे थे सो, जिसका ध्यान कर रहे थे सो, दोनों एक ही हैं। यह ज्ञान होनेवाला है आपको।

तो ध्यान कहीं आपको ध्येयमें अनुरक्त न कर दे और अध्येयसे द्वेषी न बना दे—इसका ध्यान रखते हुए आप कोई भी ध्यान—निराकारका ध्यान करो, साकारका करो, पत्थरका करो, शून्यका करो—जैसा हो वैसा ध्यान करो। परन्तु; वह ध्यान रागद्वेषको मिटानेवाला होना चाहिए। नहीं तो वह ध्यान ज्ञानकी रोशनीसे; ज्ञानाग्निसे प्रज्वलित नहीं होगा, जलेगा नहीं। तो यह हुआ—एक तो ईश्वरमें ममता करके रागद्वेष मिटानेकी प्रक्रिया बिलकुल सबके लिए है। यह राह चलते हुएके लिए है। यह चिड़ियाके लिए है, गीधके लिए है—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा।

गीधके लिए भी यह ध्यान है—ममतानुबंधी ध्यान कि 'भगवान् मेरे हैं' और समतानुबंधी ध्यान विवेकशील पुरुषोंके लिए है और अहंतानुबंधी ध्यान वेदान्तियोंके लिए है। उसकी चर्चा अभी हम आपको सुनावेंगे। परन्तु यह तो अन्तःकरणकी तैयारी है जहाँ चींटीका शरीर भी और ब्रह्मका शरीर भी, दोनों या तो प्रतीति-भान है, या तो दृश्य है, या तो सत्ता-सामान्य है या तो भूत है। या तो भौतिक हैं। क्या शकल हुई छोटी और क्या शकल हुई बड़ी? क्या उम्र, कुछ चार दिन बड़ी, क्या चार दिन छोटी हुई और घेरा थोड़ा बड़ा हुआ और घेरा थोड़ा छोटा हुआ। लेकिन; है यह सब-का-सब दृश्य एक ही। दृश्यके एकत्वका जो चिन्तन है—'ध्यै चिन्तायाम्'-ध्यै चिन्तायाम् संस्कृत भाषाका ध्यान शब्द जो है न, चिन्तासन्तान-परम्परा **महत्त्वबुद्ध्या प्रत्ययैक-तत्रैकतानता ध्यानम्।** (3-2) यह योगदर्शनका सूत्र है।

'रागोपहति ध्यानम्'।

यह सांख्यदर्शनका सूत्र है। रागद्वेष न होने पावे कहीं, यह ध्यान है। महत्त्वबुद्धिसे कि यह हमारी भिन्न-भिन्न आसक्तियोंको मिटा देगा,

इसके लिए एक तत्त्वका चिन्तन। एकतत्त्वाभ्यास जो है, यह भी रागद्वेषको मिटानेवाला होता है। ध्यानका प्रयोजन भेदबुद्धिको दबाना है और इसमें सफलता उन लोगोंको बिलकुल नहीं मिल सकती जो पहलेसे संकल्प तो रखेंगे कि जब ऑफिसमें जायेंगे, बाजारमें जायेंगे, दुकानपर जायेंगे तो दूसरोंका जेब काटेंगे। जब जुआ घरमें जायेंगे तो बेईमानी करके दूसरेको जीत लेंगे। और, स्त्रियोंसे मिलेंगे तो अनाचार-व्यभिचार करेंगे। अपनी वासनाओंको तो रखना चाहता हो संपुष्ट और करना चाहता हो रागद्वेष मिटानेवाला ध्यान, तो उसका ध्यान भले पाँच मिनट, दस मिनटके लिए लग जाय; लेकिन उसके जीवनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जब परिवर्तनके लिए ध्यान किया जायेगा तब उस ध्यानकी प्रक्रिया विलक्षण होगी और वह आपके जीवनको बिलकुल साबुनकी तरह बिलकुल निर्मल कर देगा, उज्ज्वल कर देगा। और इतने उज्ज्वल, इतने उज्ज्वल हो जायेंगे कि परमात्मा कहेगा कि जितने उज्ज्वल हम इतने उज्ज्वल यह है! तो यह अलग रहेगा तो हमारी बराबरी करेगा हमसे स्पर्धा करेगा। नहीं-नहीं, अब हम इसको बिलकुल अलग नहीं रहने देंगे।

आपकी उज्ज्वलतापर मुग्ध हो जाय परमात्मा और आप सोचने लगें कि जब मैं इतना उज्ज्वल हूँ तो और दूसरेको क्या वरण करूँ? आओ, इस परमात्मामें मैं समा जाऊँ। इतनी उज्ज्वलता इस ध्यानके द्वारा प्राप्त होती है। यह ध्यान ही असलमें अन्तर जीवनका साबुन है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

●

: 4 :

जो ध्यान राग-द्वेषको बिलकुल मिटा देता है उसको समतानुबंधी ध्यान कहते हैं। सब मिट्टी, सब पानी, सब आग, सब हवा, सब आकाश, सब परमात्मा, सब आत्मा। यह तत्त्वानुचिन्तन है। और, अहंतानुबंधी जो ध्यान होता है, वह 'अहं इदं न अहं इदं न'='मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ' तो उसके दोनों पहलू चलते हैं। 'अयं अहम्' यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ। क्योंकि बिना एकको पकड़े, दूसरेको छोड़ा नहीं जा सकता है। तो जब प्राणमयकी उपाधिसे चेतनको पकड़ेंगे तो तब अन्नमय उपाधिवाला छूटेगा। और जब मनोमय उपाधिवाले चेतनको पकड़ेंगे तब प्राणमय उपाधिवाला छूटेगा। तो एकको पकड़ना और एकको छोड़ना और इस तरह शुद्ध चेतनके रूपमें अपनेको जानना। शुद्ध चेतनमें देश कल्पना, कालकल्पना, द्रव्यकल्पना नहीं है। इसलिए आत्माका जो वस्तुस्वरूप है, उसीका बोधन वेदान्त करता है। शासन नहीं करता, शंसन करता है। वह आज्ञा नहीं देता है, बल्कि यथार्थका वर्णन करता है।

परन्तु; इसके पहले आपको सुनाया एक ममतानुबंधी ध्यान। अहंतानुबंधी, समतानुबंधी और उससे भी पहले ममतानुबंधी ध्यान। बल्कि ममतानुबंधी ध्यानसे भी पहले कुछ होता है। उसकी चर्चा भी करना जरूरी है। जो लोग अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करते हैं और ज्ञानका अभिमान कर लेते हैं, उनके जीवनमें कहीं-न-कहीं पतन अवश्य आता है। क्योंकि अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना मन कहीं-कहीं भटका देता है। इसीसे हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने एक क्रम रखा। सबसे पहले तुम्हारा ध्यान जाना चाहिए उन वस्तुओंपर जिनका तुम भोग करते हो। माने खानेकी चीज है, पहननेकी चीज है, स्त्री-पुरुषका परस्पर वर्तन है, सहवास है। तो भोगकी वस्तुपर पहले ध्यान जानेका अर्थ क्या है? वह वस्तु क्या है, यह देखनेका नहीं होता। जैसे कोई कहे कि प्याज बहुत गुणकारी है, तो आयुर्वेदकी दृष्टिसे प्याजके

गुणकारी होनेमें कहाँ सन्देह है? वह तो विज्ञानसे सिद्ध है कि शरीरमें अमुक-अमुक रोगको प्याज मिटा देता है, परन्तु जब शास्त्र कहता है कि प्याज मत खाओ, तो उसका मतलब यह होता है कि गुणकारी वस्तुकी ओर मन:प्रवृत्ति बहुत जल्दी हो जाती है। तो देखना यह है कि तुम्हारा मन कण्ट्रोलमें है कि नहीं? नियन्त्रणमें है कि नहीं?

तो धर्म यह नहीं कहता कि प्याज बहुत बुरी चीज है। जैसा कि आजकल लोग कहते हैं कि इसमें उत्तेजना होती है, इसमें अमुक होता है, अमुक होता है। उसमें क्या-क्या दोष हैं यह बताकर आपको धर्म वहाँसे निवृत्त नहीं करता है। यदि दोष बताकर निवृत्त करे तब तो आप मशीनसे भी उसके दोष जानकर निवृत्त हो सकते हैं। अनुभवसे भी उसके दोष जानकर निवृत्त हो सकते हैं कि भाई, इसके खानेसे यह-यह दोष हो सकता है।

आपकी जानकारीमें पूरा गुण हो, तब भी धर्म आपसे कहेगा— 'इसे मत खाइये।' यह तो मैंने प्याजका नाम ले लिया। दुनियाकी सब चीजें समझिये। तो उसमें क्या अभिप्राय है। उसमें वस्तुके गुणदोषके निरूपणके लिए वह कोई विज्ञान नहीं है। बल्कि आपके भीतर मनको रोकनेकी शक्ति जाग्रत् हो जाय-इसकी एक प्रक्रिया है कि आप अपने मनको रोक सकें।

देखो हम बहुत छोटे दर्जेसे इस बातको शुरू करते हैं। धर्मका यह काम नहीं है कि तुम्हारे शरीरके लिए प्याजमें क्या हित है, क्या अहित है। इसका विश्लेषण करके लेबोरेटरीमें बतावे और कहे कि तुम्हारे लिए यह बहुत नुकसानदेह है, हानिकारक है, इसको मत खाओ। शारीरिक दृष्टिसे धर्म निरूपण नहीं करता है। धर्म निरूपण करता है अन्तरात्माकी दृष्टिसे। तो इसमें देहकी अपेक्षा अन्तरंगमें जायँ यह भी एक ध्यान है।

जीवनमें धर्मका अवतरण भी एक ध्यान है। सबसे पहली यह बात आती है। जैसे आप कहते हैं, प्याज बड़ा गुणकारी है, इसलिए हम खायेंगे। अच्छा, तो क्या यही दृष्टि स्त्रीके सम्बन्धमें, पुरुषके सम्बन्धमें

रख सकते हैं? क्या आप यह सोच सकते हैं कि यह स्त्री बड़ी सुन्दर है, बड़ी मधुर है, बड़ी गुणवती है, इसलिए हमारे संभोगके योग्य है? क्या ऐसी व्यवस्था आप कर सकते हैं? नहीं। स्त्री गुणवती होनेसे आपके लिए भोग्य नहीं होगी। वह मर्यादानुकूल, धर्मानुकूल, संविधानानुकूल यदि आपको प्राप्त होगी, तब वह संभोगके योग्य होगी। संविधान यह नहीं कहता है कि यह चीज खानेसे या भोगनेसे तुमको यह रोग हो जायगा, इसलिए तुम्हें हम मना करते हैं। संविधान वस्तुके गुणदोषका ध्यान रखकरके तुम्हारे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निरूपण नहीं करता। बल्कि वह व्यवहारकी, मर्यादाको देखकरके कर्त्तव्य या अकर्त्तव्यका निरूपण करता है। इसलिए धर्म जो है, वह संविधान स्वरूप है। वह स्त्रीके गुण-अवगुण, पुरुषके गुण-अवगुण देखकरके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निरूपण नहीं करता। वह केवल मर्यादा देखकरके गुण-अवगुणका निरूपण करता है।

यह बात यदि आपको मालूम हो तो ईश्वरकी बड़ी कृपा है। यदि नहीं तो आप धर्म क्या है, धर्म क्या नहीं है, इसकी जाँच लेबोरेटरीमें करने लगते। थर्मामीटर लगाकर करने लगते। खूनकी जाँच करके करने लगते। तो नारायण! धर्म आपके मनमें रोक लगानेके लिए होता है कि आपका मन उच्छृङ्खल न हो जाय! सुन्दरी-से-सुन्दरी, गुणवती-से-गुणवती, किशोरी-से-किशोरी, मधुमयी, रसमयी स्त्री आपके सामने उपस्थित हो, परन्तु आपके हृदयके भीतर बैठा हुआ धर्म आपको मना कर दे कि नहीं, यह धर्मानुसार हमारे संभोगके योग्य नहीं है। धर्मका काम गुण-अवगुणको बताना नहीं है। धर्मका काम तुम्हारी क्रियाको और तुम्हारे मनको रोकना है।

यह बात हमको हमारे गुरुजीने बारह वर्षकी उम्रमें उनके पास पढ़नेके लिए आया था और सत्रह वर्ष तक समझो, उनके पास पढ़ता रहा और इस बीचमें उन्होंने हमारे दिमागमें बिलकुल भर दी कि शास्त्र शाश्वत संविधान है, वह गुण-अवगुणकी परीक्षा करके वैसा डॉक्टरोंके

विज्ञानके जैसे सिद्धान्त बदलते हैं, वैसा बदलनेवाला सिद्धान्त नहीं है। वह हमारे कर्मको रोकनेवाला है। वह हमारे मनको रोकनेवाला है।

अब यदि धर्म परसे आपकी आस्था टूट जायेगी तो आपके अन्दर चार प्रकारकी उच्छृङ्खलता आवेगी—1. वाणी 2. कर्म 3. भोग 4. संग्रह। एक तो बोलनेमें आप अपनी जबानको रोक नहीं सकेंगे। बस, यह समझ लो, अशुभ लक्षण जीवनमें आया। जो बोलनेमें अपनी जबानको नहीं रोक सकेगा, वह मारनेमें अपने हाथको भी नहीं रोक सकेगा। वह चलनेमें अपने पाँवको भी नहीं रोक सकेगा। वह भोगनेमें अपनी मूत्रेन्द्रियको भी नहीं रोक सकेगा। वह खानेमें अपनी जीभको नहीं रोक सकेगा।

तो नारायण! वाणीकी अमर्यादा, उच्छृङ्खलताको मिटाना और (2) भोगकी (3) कर्मकी, संग्रहकी अमर्यादाको मिटाना। वस्तुओंका संग्रह होता है। द्रव्य माने वस्तुएँ और क्रिया होती है कर्मेन्द्रियोंसे और भोग होता है ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे। शब्द व्यवहार होता है वागेन्द्रियकी प्रधानतासे। इन चारों वस्तुओंको कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके रूपमें विभक्त करके कर्त्तव्यमें स्थापित करना, यह धर्मका काम होता है। इसमें गुण-अवगुणकी बात नहीं है। यह अपने मनको रोकनेकी बात है। जैसे गुणवती होनेसे स्त्री आपके भोगके योग्य नहीं हो जाती, वैसे संसारका कोई भी पदार्थ गुणवान होनेसे आपके संग्रहके योग्य और भोगके योग्य, आचरणके योग्य अथवा भाषणके योग्य नहीं हो जाता। आपको यह देखना है कि आप अपने मनके मालिक हैं कि नहीं? यह धर्म आपको ऐसे सिंहासनपर बैठाता है जहाँ आप भोगको नियन्त्रित करते हैं। माने आप राजा हैं। हम इस भोगको अपने सामने आने देंगे। इसको नहीं आने देंगे, आप राजा हैं। यह चीज हम लेंगे, यह चीज हम नहीं लेंगे। यह काम करेंगे, यह काम नहीं करेंगे। मालिक तो तब हैं न? यह बोलेंगे, यह नहीं बोलेंगे। आप इस देहराज्यके सिंहासनपर बैठ करके अपने जीवनको नियन्त्रित करते हैं।

अच्छा, अब एक दूसरी बात यह देखो कि इसमें ध्यानका कोई स्थान है कि नहीं? इसमें अप्रमाद जो है, वही ध्यानका स्थान है। हर समय जो आपको सावधान रहना पड़ेगा—यह जो अवधान है न इसमें सावधान माने जिसमें अवधान हो। तो यह काम तो मैं भूल गया—यह प्रमाद नहीं होना चाहिए। हमेशा ही अप्रमाद-जीवन व्यतीत करना चाहिए।

चार आदमी बैठे हैं और उसमें-से आप निकलते हैं। तो एक ओर तो आपका ध्यान है कि प्रणाम करेंगे तो धर्म होगा और दूसरी ओर जो बैठे हुए लोगोंको आपका जो पाँव लगता जाता है, वह अधर्म होता जाता है। तो प्रणामकी वासना होनेपर भी जो दूसरोंको पाँव छू जानेका प्रमाद होता है, वह प्रमाद आपको अधर्ममें ले जाता है, क्योंकि आपने अपने पाँवको नियममें नहीं रखा। आप एककी तारीफ करते समय जो दूसरेकी निन्दा कर बैठते हैं वह प्रमाद हो जाता है। यह प्रमाद तो तमोगुणी है। इसको निवृत्त किये बिना आप चाहते हैं ध्यान? बाहरकी स्थूल वस्तुके साथ तो आप सावधान रहते नहीं हैं और मनोवृत्तियोंके साथ रहना चाहते हैं।

सावधान! अरे! मोटी-मोटी वस्तुओंके साथ पहले अपने अवधानको पक्का करो, तब होगा ध्यान! हमारे प्राचीन ऋषियोंका जो मत है, वह आपको सुनाया और हमको बहुत युक्तियुक्त लगता है। अनुभवपूर्ण लगता है और शास्त्रका तात्पर्य तो इसमें है ही। बीसवीं शताब्दीमें और इतने बर्गलानेवाले लोगोंकी बात सुनकर और पढ़कर भी हमारी यह आस्था नहीं टूटती है कि जीवन धर्मानुसार ही होना चाहिए। यदि आप ध्यानकी महिमाको स्वीकार करते हैं तो अवधानकी महिमाको स्वीकार कीजिये। हर समय आपको खयाल रहना चाहिए कि किसीको तकलीफ न पहुँच जाय। पाँवसे, बोलीसे तकलीफ न पहुँच जाय। इसमें आपका मन सावधान रहेगा। प्रमादी मन ध्यानमें नहीं जा सकता। सावधान मन ध्यानकी स्थितिमें जा सकता है। यह पहली भूमिका है।

अब दूसरी बात देखो—ध्यानकी। आपके मनमें केवल विक्षेप ही है कि वासना भी है? आपके अधिकारको बिलकुल विश्लिष्ट करके, हम उसकी एक लिस्ट बना देंगे। विश्लिष्टमें लिस्ट तो है ही। लिस्ट बना देंगे कि आपका मन इधर कि आपका मन उधर? आप डरिये मत। आप शान्त हृदयसे समझिये कि आपके मनमें केवल विक्षेप-ही-विक्षेप है— विक्षेप माने चंचलता। विक्षेप माने मनको यहाँसे वहाँ जैसे फेंक दिया हो। आपका मन तिजोरीके पैसेमें चला गया कि बैंकके खातेमें चला गया, दुकानमें चला गया, मालमें चला गया, रिश्तेदारमें चला गया, जगह-जमीनमें चला गया, आपका मन आखिर गया कहाँ?

आपको सुनाते हैं—हमारे पास कई साधक ऐसे आते हैं जो कहते हैं—'महाराज! हमारा मन निश्चित जगहमें कहीं नहीं जाता है। हमारा कोई दोस्त नहीं है जिसकी याद करें। हमारा कोई दुश्मन भी नहीं है जिसकी याद करें। लेकिन मन-हमारा बिना किसी दुश्मनीके, बिना किसी दोस्तीके ऊटपटाँग इधर-से-उधर, उधर-से-इधर जाता-आता रहता है। जब हम बैठते हैं भजन करने।'

तो अमेरिकासे क्या राग है? लेकिन महत्त्वबुद्धि तो है जरूर। क्योंकि भारतीय व्यक्ति खूब प्रेमसे कीर्तन करे और उसकी आँखमें आँसू आवे, उसके शरीरमें रोमांच हो, वह भगवान्‌में तन्मय हो जाय, तो आप उसको महान् समझनेमें संकोच करेंगे। लेकिन एक विदेशका व्यक्ति आजाय तो आप उसको देखकरके मुग्ध हो जायेंगे कि—'अरे! वह विदेशी ऐसा करता है। यह मुसलमान होकर भगवान्‌का भजन करता है!'

एक मुसलमान देवी हैं—सन्' 38 की बात है। सन् आप जोड़ लेना, बत्तीस वर्ष हो गये होंगे। उन दिनोंमें देवीकी बड़ी ख्याति थी। मैं तो गया नहीं उनके पास, लेकिन अन्य कई महात्मा गये, हरिबाबाजी भी गये। उनका दर्शन करनेके लिए उनको इलहाम आता था। वह खूब भगवत्प्रेमकी बात करती थीं। वे राम-कृष्णकी खूब प्रेमसे बातें करती

थीं। अब हरिबाबाजी दर्शन करने गये। देखते ही महाराज बरस पड़ीं कि 'तुम साधु लोग धरतीके भार हो! निकम्मे रहते हो। क्यों गेरुआका वेश बना रखा है?'

अब हरिबाबाजीने सोचा कि मैंने सोचा कि कोई भगवान्‌की प्रेमिका हैं, जायेंगे तो कोई प्रेम-नेमकी बात सुनावेंगी। अब यह तो प्रेमकी बात नहीं सुना रही हैं। समाज सेवामें जो साधु लोग हैं वे धरतीके भार हैं, यह बात सुना रही हैं। थोड़ी देर बैठे रहे चुपचाप। बोले नहीं उससे, थोड़ी देर बैठे रहे, चुपचाप फिर चले आये। तो नारायण! गरीब लोग अपनी भलाईके लिए विदेशकी ओर ताकते हैं। वे चीन, रूस, पाकिस्तानकी ओर देखते हैं। और धनी लोग जो हैं वे अपनी भलाईके लिए अमेरिका, इंग्लैण्डकी ओर देखते हैं। कनाडा, फ्रान्सकी ओर देखते हैं। उनकी नजर भी विदेशकी ओर है न! और अब भगत लोग भी, ज्ञानी लोग भी जब विदेशसे भक्त, ज्ञानी आये, तो इन लोगोंकी भी महत्त्व बुद्धि ईश्वरकृपासे वहीं चली गयी है।

देखो, बात हम दो टूक कहते हैं। भाषा भी—यदि अंग्रेजीमें बात कही जाय तो बड़ी उत्तम हो गयी। अरे भाई! ज्ञान उत्तम होता है, भाषा उत्तम नहीं होती है। तो अब विदेशी भाषाका महत्त्व है, विदेशी धर्मका महत्त्व है, विदेशी कामका महत्त्व है। यह बात जो है, लोग कहते हैं—'महाराज! हमारा कोई राग नहीं है, द्वेष नहीं है, लेकिन ध्यान करनेके लिए बैठते हैं तो मन गया अमेरिका, मन गया रूस, मन गया फ्रान्स। हे भगवान्! 'हमारे राग-द्वेष तो नहीं है, केवल मनोराज्य होता है।'

तो यदि केवल मनोराज्य है, आपके मनमें राग-द्वेष नहीं है तो हम एक मिनटमें आपका मनोराज्य बन्द कर सकते हैं। आपके मनमें बिलकुल चंचलता नहीं आवे, स्थिरता आजाय। एक क्षणमें, हम आपका मनोराज्य बन्द कर सकते हैं। यदि आपके मनमें राग-द्वेष न हो और यह कहो कि आप अकेलेमें दो पैसेकी फूलमाला, चन्दन और पत्ता लेकर एकान्तमें हमारे पास आओगे तब हम तुमको ध्यान सिखा देंगे और

कोई मन्तर बता देंगे सो बात नहीं। एक सज्जन बड़ा कोलाहल करते थे कि 'आओ, हम एक मिनटमें, तीन मिनटमें ध्यानकी शिक्षा देते हैं।' अब महाराज, तीन मिनटमें ध्यानकी शिक्षा लेनेके लिए कोई गये तो बोले—'कल आना। चन्दन लाना, फूल लाना, भेंट लाना और हमको गुरु बनाना। तब हम तुमको गुरुमन्त्र देंगे। तब तुम्हारा ध्यान लगेगा।' यह भी हो गया। मन्त्र भी बता दिया। तो मन्त्र बता कर कहा कि—'जब छह महीना इसका जप करोगे तब ध्यान लगेगा।'

अब छह महीने मन्त्रका जप करेंगे, तब ध्यान लगेगा। जब नहीं लगा, तो बोले—'अभी तुम्हारा मन ध्यान करनेके लिए तैयार नहीं है।' जरा वर्ष- दो वर्ष अभ्यास करोगे तब ध्यान लगेगा। तो उसने कहा कि—'हमारे गुरुजीने एक मन्त्र पहले बता रखा था कि धीर-धीरे इसका जप करनेसे तुम्हारा ध्यान लगने लगेगा। तो यह तुमने हमको वहाँसे हटा कर अपने मन्तरमें क्यों लगा दिया? हमारे गुरुजीका मन्तर तुमने क्यों छुड़ा दिया? जाओ, हम आजसे तुम्हारा मन्तर छोड़ते हैं'—ऐसा! यह देखो! इतनी सब भूमिका मैं इसलिए बना रहा हूँ कि इसमें कोई एकान्तकी बात नहीं है। आपको मैं यह बात खुली सभामें बताता हूँ कि यदि आपको केवल मनोराज्य ही मिटाना है, राग-द्वेष न हो और केवल मनोराज्य मिटाना है तो आप शरीरको सीधा करके, बिल्कुल सीधा करके बैठ जाइये। शरीर हिलने न पाये। बस! इतना ही आप ध्यान रखिये कि आपकी आँख न हिलने पाये। सिर न हिले, शरीर न हिले। केवल देहकी स्थिरतासे ही आपका मनोराज्य जो है, वह बन्द हो जायेगा। इसके लिए दो-तीन महीने अभ्यास करना पड़ेगा।

बोले—'आप तो कहते थे, हम एक मिनटमें बताते हैं।' अरे भाई! पहले तीन महीने वाली दवा बतायी। एक मिनटवाली बताता हूँ, भला! पर होना चाहिए केवल मनोराज्य।

आपके बच्चेकी याद आनेसे वह नहीं रोक सकता। आपकी स्त्रीकी याद आनेसे वह नहीं रोक सकता। क्यों? क्योंकि उसमें तो राग

है। आपको किसीसे दुश्मनी है, गालीगलौज करके आये हैं और बोले— 'स्वामीजीने ध्यान बताया है, हम बैठते हैं हमारा मन एकाग्र हो जायेगा। नहीं होगा। तो एक मिनटवाली बात यह है कि आप बैठिये शान्तिसे और हमारी आँखकी पुतली हिलने न पावे। केवल इतना ही ध्यान रखिये कि आँखके तारे, आँखकी पुतली, नेत्रकी कनीनिका—संस्कृत भाषामें इसको 'नेत्रकी कनीनिका' बोलते हैं। नेत्रकी कनीनिका, आँखका तारा और आँखकी पुतली हिलने न पावे। आप शान्तिसे बैठिये, एक मिनटमें आपका मनोराज्य बन्द हो जायेगा।

मनोराज्य आसनसे भी वह बन्द होता है। प्राणायाम करें तो उससे भी बन्द होगा, भला! प्राणायाममें या तो श्वासको थकानेके लिए पूरक और रेचकका अभ्यास करें अथवा केवल कुम्भक करें। कुम्भक दोनों तरहका होता है—बाह्य भी और अन्तर भी। प्राणायामसे भी मन वशमें होता है, प्रत्याहारसे मन वशमें होता है। बारम्बार मनको जगह-जगहसे लौटाकर ले आइयेगा। एक जगह धारणा करनेसे भी मन वशमें होता है। एक वस्तुके ध्यानमें संलग्न होनेसे भी होता है। शान्त होनेसे भी होता है, द्रष्टा होनेसे भी होता है। लेकिन; आपके मनमें वासना नहीं होनी चाहिए।

अब यदि वासना हो तो क्या करना चाहिए? यह देखो, अभ्यासकी बात बतायी। अभ्याससे केवल वही मन वशमें हो सकता है जिसमें वासना नहीं है और वासना तो वासनासे कटेगी। इसीको हम 'ममतानुबंधी ध्यान' बोलते हैं। मकानके लिए धाम लो, अपने रूमके लिए निकुंज लो। प्रियतमकी जगहपर राधा-कृष्ण, सीता-राम, गौरी-शंकरको लो। यह सब पंथ है, भला! जैन हों तो तीर्थंकरको लें। वीतराग तीर्थंकरका ध्यान करो—

वीतराग विषयम्भां चित्तम्।

प्रेम करना पड़ेगा उससे। बौद्ध हों तो बुद्धको लें। तांत्रिक हों तो शक्तिसंवलित शिवरूप गुरुदेवको लें। नारायण! तो यह बात है। तो क्या

होगा? फिर वासनाका जो मुँह है, मुड़ जायेगा और जब वासनाका मुँह मुड़ जायेगा, तो फिर स्वाद आने लगेगा और स्वाद आनेसे रस आ जायेगा। सीता-रामकी उपासना, राधाकृष्णकी उपासना, गौरीशङ्करकी उपासना, लक्ष्मी- नारायणकी उपासना साम्बसदाशिवकी उपासना, शक्तिकी उपासना, शिवकी उपासना वासनाको मिटानेके लिए होती है।

जैसी-जैसी वस्तुसे आपकी ममता होती है, उस ममताको उधरसे हटा कर भगवान्‌के साथ, भगवद्वस्तुके साथ जोड़िये।

अब कुछ थोड़ा सत्यका आभास हो जाता है। सो भी, श्रवण करनेसे उधार लिया हुआ ज्ञान बहुत लोगोंको होता है। ऊँची-ऊँची बात सुनते हैं, अपनी स्थिति परसे नजर हट जाती है। ज्ञान पोथीमें लिखा हुआ है कि ज्ञान गुरुसे सुना हुआ है, कि ज्ञान रटा हुआ है कि ज्ञान याद किया हुआ है?

नहीं; केवल आप अपने अन्तःकरणमें-से अपने मैलको हटा दीजिये और ज्ञानका खजाना आपके भीतर है। वह बिलकुल जाहिर हो जायेगा। उसकी बाढ़ आ जायेगी आपके जीवनमें। केवल मैल-भर हटानेकी जरूरत है। ध्यान बुलानेकी जरूरत नहीं है। ज्ञान बुलानेकी जरूरत नहीं है। वह तो ज्ञान जब वासनामें-से छन कर निकलता है। आप ऐसे समझो, जैसे सिनेमामें एक रोशनी आती है, परन्तु पहलेसे भरी हुई जो फिल्म है न, उससे जब प्रकाश निकलता है, तो वह प्रकाश स्त्री बना देगा, पुरुष बना देगा, प्यार बना देगा, मकान बना देगा। कौन बनावेगा? यह फिल्मसे निकलने वाली रोशनी और यदि फिल्म न हो, केवल रोशनी निकले तो क्या बनावेगी? तो हमारी वासनाओंकी फिल्म भरी हुई है हमारे भीतर। इनमें-से जब रोशनी निकलती है तो तरह-तरहके दृश्य दिखाती है और यदि उन वासनाओंकी जो फिल्म है, उस फिल्मका अपवाद कर दिया जाय, उसको हटा दिया जाय, भरे हुए संस्कार, भरी हुई फिल्म, उसका यदि अपवाद कर दिया जाय, तो प्रकाश शुद्ध-रूपमें, बिना किसी नामरूपके प्रकाशकी धारा आपके हृदयमें बहने

लगेगी। परन्तु वह धाराका बहना भी हृदयकी उपाधिसे है। वहाँ भी एक हृदय नामकी मशीन काम कर रही है।

प्रपंचका भाव और प्रपंचका अत्यन्ताभाव दोनों इसी हृदयमें ही दिखते हैं और तत्त्व जो है, उसका वास्तविक स्वरूप न भावके रूपमें न अत्यन्ताभावके रूपमें—थोड़ी देर तक संसारका भाव दिखता है और थोड़ी देर तक अभाव दिखता है केवल आप ध्यान कर लें। जाग्रत्‌में आत्मा है कि नहीं? है, परन्तु वह देहकी उपाधिसे सारे व्यवहारको देख रही है। सबमें है और सबसे निराली है।

अच्छा, स्वप्नमें आत्मा है कि नहीं है? वह मनकी उपाधिसे मनके समग्र दृश्योंको देख रही है। उसमें है भी और उससे अलग भी है। विलक्षण भी है। इसी प्रकार जब सुषुप्तिमें सब सो जाता है तब सुषुप्तिमें भी आत्मा है और जब सुषुप्ति टूट जाती है, तब भी आत्मा है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि सुषुप्तिका टूटना और होना, स्वप्नका होना और टूटना, व्यवहारका होना और न होना—यह जितना द्वैत है, यह व्यावहारिक है और जो परमात्माका स्वरूप है, वह तात्त्विक है।

तो ऐसी स्थितिमें जब आपको ध्यान करना है; ध्यान—आप चाहते हैं कि जो ध्यान एक मिनट पहले नहीं था, वह अब आ जाये और कि यह ध्यान आधा घण्टा हमारे हृदयमें रहे और फिर चला जाय, यह भी चाहते हैं।

एक बात तो यह है कि जो यह चाहता है कि हमारे हृदयमें ध्यान आकर चला जाय, उसके हृदयमें ध्यानकी गाढ़ता आती नहीं है। यह ध्यान सिद्धान्त है, नोट कर लो इसको। प्रयत्न-शैथिल्य जबतक नहीं होगा, प्रयत्न—

शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् (यो० 2-47)

जैसे, हमको याद है, एक बार हम 'बिल्वपुरम्' स्टेशनपर गये और योगी अरविन्दके यहाँ जाना था। 'बिल्वपुरम्'से 'पाण्डिचेरी'के लिए गाड़ी बदलती है। ऐसा ही हमको स्मरण है, बात बहुत पुरानी है।

तो रातको मालूम हुआ कि दो बजकर पाँच मिनटमें गाड़ी आती है और हम तो वहाँ नौ-दस बजे ही पहुँच गये थे। तो प्लेटफॉर्म पर अपना चदरा बिछाया और सो गये। और मनमें संकल्प किया कि दो बजकर तीन मिनटमें हमारी नींद टूट जाय और सो गये। दो बजकर तीन मिनटमें हमारी नींद टूट गयी और दो मिनट बाद गाड़ी आगयी। तुरन्त उसमें जाकर बैठ गये। तो अब सोचो कि आयी तो नींद, लेकिन जो दो बजकर तीन मिनटमें उठनेका संकल्प था, वह निद्रावस्थामें भी बीज रूपसे रहा और अपना काम करता रहा। आप इसको निद्राकी गाढ़तामें प्रतिबन्ध समझें, गाढ़ी नींद आती तो चार बजे टूटती, पाँच बजे टूटती। लेकिन उस संकल्पने निद्राके वेगको, उसकी गाढ़ताको ढीला कर दिया।

तो ऐसे ही जब आप ध्यान करनेके लिए बैठते हैं कि आधे घण्टे बाद दुकानपर जाकर यह काम करना है और अमुक रईससे मिलना है, अमुक कर्त्तव्य पूरा करना है, तो यह जो संकल्प है, वह आपके ध्यानको गाढ़ होनेसे रोक देता है। तो पहली बात ध्यानमें आवश्यक है कि यदि कोई भक्त हो तो ऐसे कहे कि—'हे भगवान्! अब हम दुनियाका काम छोड़कर आपका ध्यान करनेके लिए बैठते हैं और हमने तो दुनिया छोड़ दी। आप चाहें तो हमेशाके लिए हमें अपने साथ मिला लें। फिर हमको दुनियामें आनेकी जरूरत नहीं है अब तो मैं सबको नमस्कार करके आया हूँ। *'खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।'* हमारी मातृ भूमिके प्यारे लोगों! तुम खुश रहो। अब हम भगवान्से मिलनेके लिए जाते हैं।'

ऐसा दृढ़ संकल्प करके यदि ध्यानमें बैठनेके लिए जाओ—तो बात बनेगी।

जब क्रान्तिकारियोंका युग था, जब यह लखनऊके पास, काकोड़ीके पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल'ने गाया था—

'खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं।'

फाँसीके तख्तेमें चढ़नेके लिए उसने यह गीत गाया था। हम तो

अब फाँसीके तख्तेमें चढ़ रहे हैं। इस दुनियाँसे निवृत्त होकर परमात्मामें मिल रहे हैं। ऐसा दृढ़ संकल्प, गाढ़ संकल्प चाहिए।

अच्छा, ईश्वरको माने बिना भी ध्यान हो सकता है भला! ऐसा नहीं समझना। ये बौद्ध लोग जो हैं वे ईश्वरको माने बिना ध्यान करते हैं। वो तो ईश्वरको माने बिना तो क्या आत्माको माने बिना ध्यान करते हैं। वे कहते हैं जगत् शून्य है, ईश्वर शून्य है, आत्मा शून्य है। वेदान्तियोंने तो बड़ा कटाक्ष किया है। वे कहते हैं—शून्य भी कहते हो और 'है' भी कहते हो। शून्यमासीदिति ब्रूते.....जाने हुए शून्यमें हम अपनेको नहीं मिटा सकते। जाना हुआ शून्य हमारी आत्मामें मिट जायेगा।

एक तर्क-वितर्ककी बात आपको सुनाते हैं। तो जैन लोगोंने कहा कि नहीं-नहीं, 'जगत् है, उसको हमने अलग छोड़ दिया। और यह जगत् चूँकि नित्य है, इसलिए इसको बनानेवाला कोई नहीं है। जगत् स्यात है। स्यात् माने शायद था कि शायद नहीं था।' वैसे हम इसको, प्रश्न सूचक नहीं बोलते हैं। 'एक अपेक्षासे 'था' ऐसा कह सकते हैं। एक अपेक्षासे 'नहीं था' ऐसे कह सकते हैं। ईश्वरके बारेमें कोई हमारा अनुभव नहीं है।' ऐसे ये बोलते हैं।

वह अनुभवका विषय नहीं है, हो सकता नहीं है। लेकिन आत्मा है इस बातको काटा नहीं जा सकता। ऐसे आत्माके अस्तित्वको जैन लोग मानते हैं।

बौद्ध लोग आत्माको भी शून्य कहते हैं। जैन लोग आत्मवादी होते हैं। आत्मसत्ताको स्वीकार करते हैं। अब वह आत्मा वस्तुतः कर्मसे लिप्त है या अलिप्त है तो सम्बन्धको वस्तुतः वे काट देते हैं और वीतराग तीर्थंकर हो जाते हैं।

अब आपको ध्यान करना है तो ध्यानकी बातको देखो। नारायण! पहले इसी पक्षको हम ले लें कि यह सृष्टिमें एक द्रव्य है, एक मैटर है, एक धातु है और कर्मके द्वारा उसमें नानात्व बनाया जाता है। जैसे एक प्लास्टिक है। कारीगर उसको मशीनमें डालकर तरह-तरहके खिलौने

उसके निकाल लेता है या एक लोहा है, उसको लोहार हथौड़ेसे गढ़कर उसमें तरह-तरहके खिलौने, सोनेमें, चाँदीमें गढ़ लेता है। तो कर्मजन्य जो आकृति होती है, वह तत्त्वके स्वरूपमें कोई अन्तर डाल सकती है क्या?

हम समतानुबंधी ध्यानके लिए यह प्रश्न करते हैं कि यदि पीतलको गलाकर तरह-तरहके साँचेमें तरह-तरहका खिलौना बना दिया गया। साँचेमें डाल-डालकर ताँबेका खिलौना बना दिया गया। तो वह जो माटी है, सोना है, चाँदी है, वह भी क्या बदल गयी? केवल शकल-सूरत तो बदली न?

कर्मके द्वारा तत्त्वमें जो आकृति पैदा होती है, वह तत्त्वको बदलनेमें समर्थ नहीं होती है। तो यद्यपि जैन लोग सृष्टिको कार्मिक मानते हैं, कर्मजन्य! कर्मजन्य है भला! और द्रव्यमें कर्मजन्य बौद्ध लोग भी यद्यपि इसको व्यावहारिक सांवृतिक दशामें कर्मजन्य मानते हैं, और हमारे पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक भी कर्मजन्य मानते हैं, नैयायिक और वैशेषिक भी इसको कर्मजन्य मानते हैं। लेकिन इससे धातुकी समतामें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता है।

तो नारायण! अब देखो ध्यानकी पद्धति क्या हो? ध्यानकी पद्धति क्या हो? ध्यानकी पद्धति यह होगी कि आप यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ भटकते हो, यह बिलकुल ठीक नहीं है। मनके लिए जो मुम्बईमें है, वही कलकत्तामें है और मनके लिए वही यूरोपमें है। वही अमेरिकामें है। तो मनीरामको इधर-उधर व्याकुल क्यों होने देना? तो यदि तुम्हारी ममता तुम्हें कष्ट देती हो, ममता! तो ममताका पेट अपने इष्टदेवसे भर लो।

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'

रामसे भर लो, कृष्णसे भर लो, शिवसे भर लो। जो तुम्हारा प्यारा है।

अब हमसे लोग आकर पूछते हैं—'मैं क्या इष्ट बनाऊँ?' तो मैं पूछता हूँ—'तुम्हारा क्या इष्ट है?' माने इच्छाका विषय, इष्ट माने जिसको हम चाहते हैं, उसका नाम होता है इष्ट। तुम किसको चाहते हो? अरे,

तुम बताओ। बाबा! तुम्हारी इच्छा किसके लिए है? यह हमसे मत पूछो कि हमारा इष्ट कौन है?

तो यदि आपके मनमें ममता हो, वासना हो...और है भला!

कुछ थोड़ेसे ध्यानी-ज्ञानी, उच्चकोटिके योगियोंको छोड़ करके आपके मनमें वासना है और ममता है। इसलिए, सार्वजनिक रूपसे सब भक्तिके अधिकारी होते हैं। इष्टदेवका ध्यान करो। इसका अर्थ होगा कि एकसे जब प्रेम होगा, तो दूसरेसे प्रेम कटेगा और जब एकसे प्रेम होगा, तब दुश्मनी करनेमें रुचि ही नहीं रहेगी। जितनी देर हम दुश्मनकी याद करते हैं उतनी देर तक हमारा इष्टदेव, हमारा प्यारा छूट जाता है। जो द्वेष करता है, वह किसीका प्रेमी नहीं है। न उसके देवता हैं, न उसके गुरु हैं, उसके पत्नी भी नहीं है, और उसके पति भी नहीं है। जो पत्नी सदा अपनी सौतके ही ख्यालमें लगी रहती है, उसका पतिसे प्रेम कहाँ है? वह तो रोटी बनावेगी अपने पतिके लिए और याद करेगी अपनी सौतकी।

तो जिसके मनमें द्वेष है, वह ईश्वरका प्रेमी भी नहीं है और ईश्वरका प्रेमी हो जाने पर दूसरेका प्रेमी हो नहीं सकता। तो यह हुआ सामान्य। अब मैंने यह कहा कि केवल आत्माके अभिमुख होना। यह भी ध्यानकी एक रीति है कि अन्यका चिन्तन छोड़ करके हम आत्माके अभिमुख होवें। इसके लिए यह जरूरी है कि बाहरसे कोई नोचनेवाला न हो। बाहरसे यदि कोई नोचनेवाला होगा तो ध्यान नहीं होगा।

हमारे एक महात्मा रहते थे जंगलमें। उन्हें अकेलापन खलता। यह आप लोगोंको मालूम नहीं कि कई साधु लोग भी अकेले नहीं रहते हैं। तो उन्होंने एक हरिण पाल लिया। अब वह हरिण जब पाल लिया तो— ध्यान करनेके लिए बैठे तो हरिणका बच्चा घूमता-फिरता हुआ आवे और कभी अपनी सींग लगाकर उनकी पीठ खुजलाने लगे, कभी चाटने लगे। तो अब उनकी आँख अपने आप ही खुल जाय। तो जब बाहर कोई नोचनेवाला रहेगा—आप कहीं बच्चे-कच्चेकी बात मत सोचना। हम तो केवल मनकी बात बोलते हैं, मनकी।

एक चिड़िया पालकर बैठ जाओ, ध्यान करने। वह चिड़िया या तो चीं-चीं करेगी या तो आपकी गोदमें आकर बैठ जायगी, सिरपर बैठ जायगी, कन्धे पर बैठ जायगी। तो आप अपने मनमें जो बहुत सारी चिड़ियाँ पाल रखी हैं, आपके मनमें जो बहुतसे हरिण हैं, आपके मनमें जो बहुतसे कुत्ते हैं वे आपके मनको शान्त नहीं होने देंगे। वे परमात्मामें लगने नहीं देंगे। तो मन जब निर्मम होता है, और निर्वासन होता है तभी मन निर्विषय होता है। जिसके मनमें दुनियाकी ममता और वासना भरी है, उसका मन निर्विषय नहीं हो सकता।

एक हमारे महात्मा थे, वृन्दावनमें। उनका पेट बड़ा था, हमारे पेटसे बड़ा और नाटे थे। तो जब वे बैठते थे सत्संगमें, तो जरा-सा सहारा लेकरके ऐसे कर लेते और अपने सिरको पेटपर टिका लेते थे। और बादमें घर्र-घर्र नाक बोलने लगी, और मुँहसे कभी-कभी उनके फेन भी निकलने लगता था।

कोई कहे अरे भाई—'क्या कर रहे हो?' सो रहे हो क्या? उठकर बोले—'नहीं-नहीं, समाधि लग गयी थी।' तो उन्होंने जैसे अपनी नींदको समाधि मान रखा था, वैसे महाराज आप लोग भी अपनी नींदको कहीं ध्यान मानते हो तो खुदा हाफिज। आप अपनी नींदको ही ध्यान मानते हो तो ईश्वर आपके ऊपर अनुग्रह करे! ईश्वर आपपर कृपा करे।

प्रमादका नाम ध्यान नहीं है। निद्रा और प्रमाद दोनों तमोगुण हैं। आपको पता न चलता हो तो किसी दूसरेको बैठा देना और उससे पूछना कि—'जब हम ध्यानमें तन्मय हो जाते हैं तो कहीं हमारी साँस बढ़ती तो नहीं है? कहीं सहारा तो नहीं लेता हूँ? कहीं मेरा सिर लटक तो नहीं जाता है? अगर आपका सिर लटक जाता है या सहारा ले लेते हैं या साँस बढ़ जाती है, तो उस समय तमोगुण अपना काम कर रहा है। उस समय तो रजोगुण भी नहीं है। सत्त्वगुणकी तो चर्चा ही क्या है।'

अब देखो—यदि आप स्वच्छन्द चेष्टा करने लगते हैं, तो ध्यान तो उसका नाम हो ही नहीं सकता। प्रमाद नाम जरूर हो जायगा। क्या करते

हैं ? तो प्रमाद कर रहे हैं। उसका नाम ध्यान नहीं है। यदि आप स्वच्छन्द चेष्टा करने लग जायँ, उस समय अपना मुँह हिलाने लग जायँ, उस समय हाथ हिलाने लग जायँ, उस समय झूमने लग जायँ, आगे-पीछे झूमने लग जायँ, तो यह जो स्वच्छन्द चेष्टा है, यह रजोगुणयुक्त तमोगुण है। यह भी प्रमाद है।

अब आगे आप ध्यानकी स्थिति लो। ध्यान आपका सगर्भ है कि निर्गर्भ है। ध्यानकी वृत्ति दो तरहकी होती है—(1) एक गर्भवती और (2) कुमारी। तो गर्भवती जो वृत्ति होती है, वह एक वस्तुको गर्भमें ले करके दूसरी वस्तुको गर्भमें धारण करनेसे इन्कार कर देती है। तो दूसरी वस्तुओंका तिरस्कार हो जाता है और एक वस्तु रह जाती है। यह ध्यान हुआ, एक तत्त्वाभ्यास हो गया। और (2) यदि कोई, वस्तु आपके अन्तःकरणमें भागते हुए नहीं रहती, तो इसका मतलब यह है—जाग्रत् हो और दूसरी कोई वस्तु आपके अन्तःकरणमें न हो। यह नहीं कि सो जाय और कोई दूसरी वस्तु न हो। जागरण हो और मनमें कोई दूसरी वस्तु न हो। अच्छा, तो ठीक है, आप ऐसे कैसे रहते हैं ?

निरस्तं सर्वसंकल्या या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥

कोई संकल्प अन्तःकरणमें उदय हो रहा हो और शिलाकी तरह आप बैठे हुए हों बिलकुल जैसे पत्थरमें कोई संकल्प नहीं है, कोई चेष्टा नहीं है, ऐसे! और न जाग्रत्का व्यवहार हो कि विषय भास रहे हैं और न तो निद्राकी तरह तमोगुणी शान्ति हो। बोले—'ठीक है, आप अपने स्वरूपमें बैठे हैं।' अभी हमारा बमगोला बाकी है, भला!

अब आप 'अमनस्कं महाबाहो' बिलकुल अमना होकर बैठें हैं। अब प्रश्न यह जो यह अमना होकर बैठे हैं—ध्यानी बाबा! इसमें ज्ञान कहाँ है ? आपका मैं देहमें रहकर मनकी शान्तिको अपनी शान्ति समझता है, शरीरकी स्थिरताको स्थिरता समझता है, मनकी निर्विषयताको अपनी निर्विषयता समझता है और उस समय अन्तःकरणमें विषयोंका जो

अत्यन्ताभाव हो गया उसको अपना अत्यन्ताभाव समझता है? प्रश्न तो यह है कि आपका जो—'मैं' है, वह कहाँ है? साढ़े तीन हाथके घेरेमें है, अन्तःकरणकी उपाधिमें है, सुषुप्तिकी उपाधिमें है, माया-प्रकृतिकी उपाधिमें है अथवा अनन्त ब्रह्मसे एक हो चुका है? ज्ञान कहाँ है?

आप ध्यानको ज्ञानके साथ यदि मिलाना चाहते हैं तो आपका मैं कहाँ है? अब इसकी पहचान है। क्या पहचान है? हमने एक महात्मासे पूछा—'महाराज! हमारा शरीर तो स्थिर नहीं हो रहा है।' तो उस समय वे ज्ञानके मूडमें थे, ध्यानके मूडमें नहीं थे। मूड अलग-अलग होता है। ध्यानका मूड अलग, ज्ञानका अलग। तो बोले कि—'यह मच्छर जो यहाँ उड़ रहा है, मक्खी भिनभिना रही है, यह यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ उठती-बैठती है, तो इसके लिए तुमको क्यों फिक्र नहीं होती? यही शरीर हिलता है इसके लिए क्यों फिक्र होती है?' तो बोले देखो, जो भी एक अन्तःकरणमें, एक शरीरमें ध्यानकी दशा लाना चाहेगा, उसका 'मैं' कहाँ है? जरा विचार तो करो। इसका नाम ज्ञान होता है, भला! यदि आपने प्रेमसे वेदान्त सुना हो तो इसको समझिये। और न सुना हो तो छोड़ दीजिये। आप ध्यानकी ही बात कीजिये। ज्ञानकी मत कीजिये।

ध्यान और ज्ञानका फर्क कहाँ है? एक शरीरमें बैठकर एक मनको पकड़कर उसको अमुक स्थितिमें रखनेका नाम ध्यान है। दृष्टाकी दृष्टिको रोक करके कि—'देख बेटी, ये जितने राग-द्वेषके वर तुम्हारे सामनेसे गुजर रहे हैं, इनमें-से किसीको वर-माला मत पहनाना। अपनी दृष्टिको द्रष्टा जब अपनी गोदमें लेकरके बैठता है, तब तो उसका नाम ध्यान हो जाता है, और दृष्टिके सामनेसे गुजरनेवाले सब जादूके खेल हैं, चाहे कोई भी गुजर जाय। नारायण! इसका नाम होता है ज्ञानदृष्टि।

एक ध्यानदृष्टि और एक ज्ञानदृष्टि। और उसमें भी तुम-तुम्हारा 'मैं' कहाँ बैठा हुआ है, इसको जाननेकी जरूरत पड़ती है।

नारायण! आप व्यवहारमें सावधान रहिये। इसका नाम धर्म होगा और अपने मनमें जो ख्याल हैं, सपने हैं उनको जरा सधाकर अपने प्यारेके

साथ जोड़ दीजिये तो आपके मनका नाम गोलोक हो जायेगा, बैकुण्ठ हो जायेगा। मनके सपनोंको सधाकर वृन्दावन बना दीजिये। उसमें राधाकृष्णको विहार करने दीजिये ॐ! उसमें गौरीशंकरका कैलाश देखिये, उसमें लक्ष्मी-नारायणका बैकुण्ठ देखिये। उसमें सीता-रामका अवध देखिये। यह अपने मनको जान-बूझकर अपनी पसन्दके स्वप्नमें स्थिर कर देना—इसका नाम भगवल्लीला होता है। और अपने मनको जान-बूझकर शान्त कर देना, इसका नाम समाधि (सुषुप्ति) सुषुप्तिमें अपने मनको जान-बूझकर ले जाओ। अपने मनकी पसन्दकी सुषुप्तिमें अपने मनको ले जाना समाधि है और मनके पसन्दके स्वप्नमें ले जाना भगवल्लीला है और व्यवहारमें सावधान रहना, इसका नाम धर्म है।

धर्ममें ध्यान, प्रेममें ध्यान, शान्तिमें ध्यान—और बोले, आत्माराम कहाँ है? आत्माराम तीनोमें हैं और तीनोंसे निराले हैं। उसीको तो पहचानना है। उसीका तो ज्ञान होता है।

अभी हम आपको किसी दिन सुनावेंगे। अभी तो ग्राह्य समापत्ति है, ग्रहण समापत्ति है, गृहीतृ समापत्ति है। ध्यानके तीन भेद होते हैं—(1) जाग्रद्वत् ध्यान, (2) स्वप्नवद् ध्यान और (3) सुषुप्तिवद् ध्यान। (1) ग्राह्यसमापत्ति=जो चीज मालूम पड़ रही है उसमें तन्मय हो जाना। (2) ग्रहण समापत्ति=न कुछ पकड़नेके लिए है और न पकड़नेवाला है, और पकड़नेवाला और पकड़ी जानेवाली चीजका ख्याल छोड़कर केवल मालूम होने मात्रमें स्थित हो जाना इसको ग्रहण समापत्ति बोलते है। और (3) गृहीतृ समापत्ति=यह आत्मा जो है, यह स्वयं प्रकाश, सर्वावभासक अपने स्वरूपमें बैठना। अपनेमें बैठना, यह गृहीतृ समापत्ति है। और जो दीख रहा है उसमें बैठना ग्राह्य समापत्ति है। दोनोंके बीचमें कड़ी जोड़नेवाली जो ग्रहणवृत्ति है, केवल उसीको पकड़कर बैठ जाना, यह ग्रहण समापत्ति है।

आपको ध्यानका प्रसंग फिर कल सुनावेंगे!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 5 :

अच्छा, 'ध्यान' शब्दका धातुगत अर्थ दूसरा होता है और प्रत्ययगत अर्थ दूसरा होता है, भला! तो धातुगत अर्थ और प्रत्ययगत अर्थ ध्यानमें दोनों हैं, क्योंकि 'ध्यान' शब्दमें 'ध्यै' तो धातु है और यह जो 'अन' है, यह प्रत्यय है। तो 'ध्यै' का अर्थ है 'चिन्तासन्तानपरम्परा।' 'ध्यै चिन्तायां' चिन्तन-चिन्तन-चिन्तन-चिन्तन ही ध्यान है। परन्तु 'प्रत्यय' का अर्थ है 'करण' 'करण' का अर्थ है औजार। जिससे चिन्तनमें एकरूपता आवे, उस साधनका नाम 'ध्यान' है माने चिन्तनका नाम ध्यान नहीं है। जिस साधनसे चिन्तनमें एकरूपता आवे उस साधनका नाम 'ध्यान' है। 'ध्यायति अनेन' जिसके द्वारा ध्यान किया जाय।

अब आपका 'ध्यान' शब्दका व्यावहारिक रूप सुना रहे हैं। हम बच्चे थे, जब एक सन्तके पास गये। तो उन्होंने पूछा—'ध्यानका मतलब समझते हो?'' नहीं, महाराज' आप तो सब लोग बड़े हैं समझते हैं। उस समय मैं नहीं समझता था। तो पहले 'ध्यान' शब्दका साधारणीकरण कर लो। माने उसको बिलकुल बोलचालकी भाषामें ले आओ। तो 'ध्यै' धातुका अर्थ है, चिन्तन और जो 'अन' उसमें प्रत्ययरूप है उसका अर्थ है करण। माने चिन्तनका करण। चिन्तनका औजार। चिन्तनका साधन। जिस साधनसे हमारा चिन्तन सतत होने लगे, निरन्तर होने लगे, उस उपायका, उस साधनका नाम है 'ध्यान'। प्रकृतिगत अर्थ है चिन्तन और प्रत्ययगत अर्थ है करण। तो गाँवकी बोल-चालकी भाषामें-जब हम सन्तके पास गये तो उन्होंने यह कहा—'तवज्जुह दीजिये।' उर्दूका समय था न, उस समय उर्दूमें बोलते थे। 'तवज्जुह' माने ध्यान, तवज्जुह माने

ख्याल, सुरत। 'हमारी सुरत बिसार दी आपने।' आपको सुरत है न, भूल गये बिल्कुल ? हमारी सुरत ही नहीं आती।

देखो, यहाँ मारवाड़ी लोग आपसमें जब सुबह उठते हैं, टेलिफोन करते हैं तो आपसमें बात करते हैं—'के ध्यान है? थारी के धारणा है?' तो यह जो 'ध्यान' शब्दका प्रयोग है, इसपर आप ध्यान दें।

अच्छा, अब प्रकृति-प्रत्ययगत अर्थके सिवाय हम लोग व्याकरणके ज्यादा पक्षपाती हैं। यह एक मौलिक पद्धति है हमारी कि किसी भी शब्दका जब उत्थान होता है, उच्चारण होता है, तब वह अपने अर्थको साथ लेकर आता है। यह हमारी भारतीय पद्धति है, भला! यह यूरोपीय पद्धति नहीं है।

अमेरिकन पद्धति नहीं है, यह वैज्ञानिक पाश्चात्य विज्ञानकी पद्धति भी नहीं है। वे तो कहते हैं कि रंग देखते हैं तो इशारेके लिए इसका नाम हमने 'लाल' रख लिया और आपसमें यह व्यवस्था बना ली कि जब हम 'लाल' बोलें, तो तुम यह रंग समझना। बाह्य वस्तुको देखकर संकेतके रूपमें शब्दोंका निर्माण होता है। यह पाश्चात्य भाषा विज्ञानकी पद्धति है। उनके यहाँ शब्द केवल संकेत-मात्र होते हैं। 'अ-ब-स' कुछ भी रख लो।

जिसने किसी छोटी-छोटी चीजका अविष्कार किया, उसीके नामपर बोले—'यह अमुक किरण है, यह अमुक किरण है, यह अमुक किरण है।' जैसे अभी, यहाँ पहले हमारे रोडका नाम 'रिज रोड' था, अब वह 'बी. जी. खेर मार्ग' हो गया, उसका नाम। सड़क तो वही है, पर नाम उसका बदल गया। भारतीय संस्कृतिमें जो पद्धति स्वीकार की हुई है और उसका आप भाव समझें। बाहरकी वस्तुओंको आप देख-देखकरके आप इशारा भले बना लीजिये, लेकिन भीतरकी वस्तुओंको देख-देख करके जो नाम रखे जाते हैं, वे आपसमें समझौता करके, सलाह करके उनका निर्णय नहीं किया जा सकता। हमने अपनी अन्तरात्मामें एक वस्तुका अनुभव किया है। उस अनुभवकी अभिव्यक्ति कैसे हो?

बोले—'आओ, आपसमें सलाह कर लें कि तुमको कैसा हुआ, तुमको कैसा हुआ? तो एक की देखी हुई जो वस्तु है, उसके लिए दूसरा उसका संकेत नहीं समझ सकता। तो भीतरकी अनुभूतिके आधारपर ही वह नाम रखा जाता है। अब भीतरकी अनुभूतिपर जब उसका नाम आया, तो बाहरी आधारपर संकेत तो है नहीं। तो इन लोगोंने शब्द और अर्थके सम्बन्धका बड़ा गम्भीर चिन्तन किया। यह बात आप चाहें कहीं जाकर, चाहें कि हम इसको जर्मनीसे ले आयेंगे, इसको अमेरिकासे ले आयेंगे, इसको यूरोपसे ले आवेंगे, तिब्बतसे लावेंगे, वह बात बननेवाली नहीं है।

वह अन्तरकी अनुभूति जिसको होगी वह उस वस्तुके नामका भी अनुभव करता है। वह क्या है? 'अनुभूति-विशेष' माने एक अनुभवसे दूसरा अनुभव न्यारा। समझें, एक अनुभवसे दूसरा अनुभव न्यारा और दूसरे अनुभवसे तीसरा अनुभव न्यारा। तो अपने मनमें हम एक नम्बरका अनुभव, दो नम्बरका अनुभव, तीन नम्बरका अनुभव—ऐसा बनाना पड़ेगा। तो उस अनुभवको जब हम एक नम्बर, दो नम्बर, तीन नम्बर बनावेंगे, तो उस अनुभवमें जो विशेष है, उस विशेषकी जो विशेषता है—संस्कृतमें केवल विशेष कहनेसे काम चलता है। विशेष माने भेद, विशेष माने और कुछ नहीं। विशेष, माने उसकी जो कोई खास बात है, खासियत है, उसकी जो विशेषता है, वह उस अनुभवके साथ प्रकट होती है। तो—

औत्पत्तिक शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः।

हमारे मीमांसक—मीमांसक माने श्रेष्ठ विचार करनेवाले हमारे मनीषी—*'मीमांसा पूजित विचार वचनः'* ये बोलते हैं कि—यदि पहले अनुभवसे दूसरे अनुभवमें कोई फर्क है, पहली वृत्तिसे दूसरी वृत्तिमें कोई फर्क है और वृत्ति और वृत्तिकी शान्तिमें फर्क है, वृत्ति और वृत्तिके शाबल्यमें माने मिश्रणमें कोई फर्क है। वृत्तिका उदय, वृत्तिकी सन्धि, वृत्तिका मिश्रण, वृत्तिकी शान्ति—यह फर्क होगा न, वृत्तिमें? तो उनके लिए अलग-अलग नाम रखने की, जो एक दूसरेसे मिल न जाय-अलग

माने न लगे सो! संस्कृतका शब्द है—*'न लगति इति अलग।'* क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। और 'अलग्रम्'। अलग्रम् अलग-अलग-अलग।

तो, जैसे हम सफेदको और लालको अलग-अलग करनेके लिए सफ़ेदका नाम दूसरा रखते हैं और लालका नाम दूसरा रखते हैं, श्वेत और रक्त। इसीप्रकार वृत्तियोंकी स्थितिमें जो अन्तर पड़ता है, उस अन्तरका भी हम नाम रखते हैं। तो वह अन्तरका नाम कैसे रखा जाता है? प्रत्येक अन्तर अपना-अपना नाम लेकर, जैसे लाल रंगकी विशेषतासे गुलाबका नाम 'लाल गुलाब' हुआ। श्वेत गुलाब होता है, पीत गुलाब होता है, श्याम गुलाब होता है, हरित गुलाब होता है। इसीप्रकार भीतरकी वृत्तियोंमें जो अन्तर पड़ता है, वे वृत्तियाँ अपना-अपना अन्तर ले-लेकरके आती हैं। तो उन अन्तरोंके साथ जो विशेषता होती है, उसमें ध्वनि होती है, भला!

प्रत्येक कम्पनमें एक ध्वनि होती है आपको यह बात जरूर मालूम होगी। क्योंकि यह बिलकुल वैज्ञानिक पद्धति है, जहाँ कम्पन होगा वहाँ ध्वनि, अवश्य होगी। और जहाँ ध्वनि होगी, वहाँ कम्पन अवश्य होगा। तो चूँकि वृत्तियोंमें कम्पन है इसलिए वहाँ ध्वनि है और जहाँ वृत्तियोंमें ध्वनि है, वहाँ एक नाम है।

कार्यं यत्र विभाव्यति किमपि तत् स्पन्देन सह व्यापकम्।
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयि सर्वदा।।

जहाँ कोई क्रिया होगी, वहाँ कम्पन होगा। जहाँ कम्पन होगा वहाँ शब्द होगा। चूँकि वृत्तियाँ उठती और बैठती हैं, वृत्तियोंका उत्थान होता है और शान्ति होती है। इसलिए उनके उत्थान और शान्तिके साथ भी एक शब्द होता है। तो हमारे वैयाकरण—व्याकरणके पण्डित और मीमांसक, माने श्रेष्ठ विचारक मनीषी और हमारे जो काव्यके मनीषी हैं, रीति विषयक जो सिद्धान्त हैं, वे ऐसा मानते हैं कि—'**वागर्थाविव संपृक्तौ**'।

कालिदासका यह पहला श्लोक है—'रघुवंश' का 'वाग् (वाक्) और अर्थ आपसमें संयुक्त होते हैं।

अब देखो आप, कि यहाँ ध्यानके साथ शब्दको जोड़नेकी संगति आप समझो। आप किस ध्यानमें कौन-सा शब्द जोड़ना चाहते हैं? ये जो हमारे भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय होते हैं, उनमें अपने-अपने मन्त्र भी होते हैं। तो उन मन्त्रोंका ध्यानके साथ क्या सम्बन्ध है? इस बातको समझनेके लिए ध्यानकी वृत्तिका जो रूप है उसमें कम्पन कैसा है और ध्वनि कैसी है। ये समझना पड़ता है। तो उस वृत्तिके कम्पन और ध्वनिको मन्त्र बोलते हैं भला! प्रत्येक वृत्तिके साथ कम्पन होता है और ध्वनि होती है।

हमारी ताराबाई पेरिस गयी थीं, संगीत गानेके लिए। तो उन्होंने तश्तरीमें पावडर रखवाया और लेकर वीणा उसपर एक तान छेड़ी। अब जो पावडर रखा हुआ था, उसमें कम्पन हुआ और कम्पन होनेके बाद एक मूर्ति बन गयी। तो वह मूर्ति कैसे बनी?

वह जो उनके मुखसे और वीणासे सम्मिलित शब्दकी लहर, शब्दकी तरंग, स्वरकी तरंग उठती थी, वह तरंग जाकरके टकरती थी पावडरसे और उस टक्करसे शकल-सूरत, आकार बन जाता था।

आप जानते हैं, आजकल रेडियो-तंरगके द्वारा चन्द्रलोकमें वहाँ जो चन्द्रगाड़ी भेजी गयी है, उसका संचालन किया जाता है। तो शब्द यदि जाकर टकराता नहीं तो चन्द्रगाड़ीका संचालन कैसे होता। यह बात मैंने एक जापानी खिलौनेमें देखी। जापानी खिलौना 'बस' बनायी हुई थी। उसमें एक एरियल लगाया हुआ था। केवल अंग्रेजी भाषा समझता था, और कोई भाषा नहीं समझता था। जब उसको अंग्रेजीमें बोल देते थे, कि—'चलो' तो वह बस चलने लगती थी। और जब बोल देते थे कि 'बन्द हो जाओ', तो बन्द हो जाती थी। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि यह हमारे जो शब्द हैं, वह शक्तिशाली होते हैं और क्रियाशील होते हैं। और उनके उच्चारणके द्वारा हमारे शरीरके भीतरी जो अंश हैं, उनपर आघात-प्रत्याघात, क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और उनके द्वारा हम भीतरके यंत्रोंका निर्माण कर सकते हैं, उनमें परिवर्तन कर सकते हैं।

तो व्याकरणका नाम आनेसे मैंने इतनी बात कह दी कि शब्दके उच्चारणमें कम्पन होगा। कम्पनमें ध्वनि होगी। और ध्वनि जो है, भीतर क्रियाशील होगी। तो 'ध्यान' शब्दका केवल धातु-प्रत्ययमूलक नहीं, एक नैरुक्त अर्थ सुनो, ध्यान शब्दका—'धी' और 'आन'—'धियं आनयति, इति ध्यानम्।' धियं आ नयति। 'आ' को अलग उपसर्गके रूपमें रखो तब भी और आनयनयके साथ जोड़ दो तब भी 'धियं आनयति'। हमारी बुद्धिको वह चारों ओर ज्ञानके लिए फैलाता है, इसलिए उसको 'ध्यान' कहते हैं और हमारी अभीष्ट बुद्धिको लाता है। इसलिए भी उसको ध्यान कहते हैं। 'धियं आनयति'। 'धियं आ नयति।' बुद्धिको आँख देता है। जो 'आन' है न उसको नयन का समझिये। जो बुद्धिको नयन दे उसका नाम ध्यान। ध्यान—जो बुद्धिको आँख दे, दृष्टि दे। धी माने बुद्धि। जो धी को नयन दे उसका नाम ध्यान। *'धियं आनयति इति ध्यानम्।'* यह नैरुक्त व्युत्पत्ति है। और प्रकृति-प्रत्ययमूलक जो है—*'ध्यायति अनेन'*—यह पाणिनीय व्याकरणके अनुसार व्युत्पत्ति है।

अच्छा, तो 'ध्यान' शब्दका अर्थ हुआ हमारी बुद्धिका एक निर्माता। अब जरा शब्दोंकी बात आगयी। तो वह बाल्यावस्थावाली बात आपको फिर से सुना देते हैं। जिस सन्तके पास हम गये, तो उन्होंने कहा कि शरीरमें चार वस्तु हैं—(1) पिण्डदेश, (2) ब्रह्माण्ड देश, (3) माया देश और (4)विशुद्ध चैतन्य देश। आप जरा बाहरसे भीतरकी ओर प्रवेश कीजिये। (1) पिण्डदेश, जो चामके घेरेमें ही रहता है वह पिण्डदेश है। (2) जो चामके घेरेमें रहते हुए भी पञ्चभूतसे सम्बन्ध रखता है वह ब्रह्माण्ड देश है। जैसे, शरीरमें जो आकाश है, वह शरीरके घेरेमें रहता हुआ भी विशाल आकाशसे सम्बद्ध है, और उसके बाद (3) मायादेश है। मायादेश जो आत्मदृष्टिके बिल्कुल संनिहित है। और (4) विशुद्ध चैतन्यदेश है, जो अगम है, अलख है, अपार है, जिसमें ध्यानका भी प्रवेश नहीं है।

उन्होंने बताया कि 'यह जो 'ओम्' शब्द है, 'ओम्' शब्दका उच्चारण ध्वनि है, यह वैदिक है और यह पिण्डदेशका शोधन करता है।' यह उनका कहना था, भला! हमको इसमें आप मत जोड़ देना। जो संतसे सुनी हुई बात है, वह आपको सुनाते हैं। हम तो संसारके सब मतोंका, सब आचार्योंका एक सरीखा आदर करते हैं। हमारी दृष्टिसे कोई हिन्दुस्तानी आचार्य, परदेशी आचार्य या वैदिक आचार्य-अवैदिक आचार्य—जिसको परम तत्त्वका अनुभव हो गया, ब्रह्मविद् *'ब्रह्मवेद अहि ब्रह्मवित् ताकी बानी वेद।'* जिसने ब्रह्मको जान लिया, उसका नाम है ब्रह्मवेत्ता। *ताकि बानी वेद*— वह जो बोलता है, उसका नाम है वेद।

'भाषा अथवा संस्कृत करत भेदभ्रम छेद।'

वह चाहे भाषामें हो चाहे संस्कृतमें हो, उसकी विशेषता यह है कि हमारे हृदयमें जो भेदका भ्रम है, उसको काट देती है। उन्होंने कहा— 'वैदिक संस्कारसे सम्पन्न-ॐ-ॐ-ॐ यह ध्वनि उत्पन्न करो, इसको मूलाधारसे भी उत्पन्न कर सकते हैं। स्वाधिष्ठानसे भी उत्पन्न कर सकते हैं, मणिपूरकसे भी उत्पन्न कर सकते हैं, अनाहतसे भी उत्पन्न कर सकते हैं, विशुद्धसे भी, आज्ञाचक्रसे भी और सहस्रारमें भी 'ॐ-ॐ-ॐ ओम्-ओम्' की ध्वनि उत्पन्न करो। तो यह जो ध्वनिजन्य कम्पन होगा शरीरमें, वह कम्पन ऐसा होगा, ऐसा होगा कि वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें रहनेवाला, पिण्डदेशमें जितनी विशेषाएँ हैं उनको ज़ाहिर कर देगा।

फिर बोले—'ॐ राम, ॐ राम, ॐ राम' उनके पंथकी बात आपको सुनाता हूँ। 'राम' कहनेसे क्या होगा? कि 'राम' में अग्नितत्त्व भरा हुआ है। तो जैसे एक लकड़ी जल जानेके बाद माटी-पानीसे एक हो जाती है वैसे यह राम-रूप जो अग्नि है, रामाग्नि है, यह पिण्डदेशकी विशेषताओंको भस्म करके पञ्चभूतसे एक, ब्रह्माण्डदेशसे एक कर देगी। उसके बाद क्या है? बोले—'सोऽहं'। 'ॐ राम सोऽहं', 'ॐ राम

सोऽहं'। हमारे बतानेसे आपको कोई करना नहीं। यह तो हम आपको ध्यानकी विचित्रता बताते हैं भिन्न-भिन्न पंथोंकी। हमने बचपनमें करीब-करीब 125 पंथोंमें जप कैसे किया जाता है, ध्यान कैसे किया जाता है-का अध्ययन किया था। स्वाध्याय किया था। तो अभी जो याद आ जाता है, वह सुना देता हूँ। इसका यह अर्थ नहीं समझना कि हम उस पंथकी कोई दीक्षा दे रहे हैं कि उस पंथमें आपको साधन करनेके लिए प्रेरित कर रहे हैं।

'सोऽहं' जो है, यह मायादेशमें है, क्योंकि वहाँ परोक्ष परमेश्वर और अपरोक्ष अहम् दोनोंकी एकताकी जो वृत्ति है, उसका अभ्यास किया जाता है। तो वहाँ न पिण्ड है न ब्रह्माण्ड है। वहाँ जीवात्माने, अहंने पिण्डको छोड़ दिया है। और वहाँ सः अहं (सोऽहं) जो है, उसने ब्रह्माण्डको छोड़ दिया है और मायादेशमें, कल्पनाके देशमें दोनों एक हो रहे हैं। यह 'सोऽहं' है। तो 'ॐ राम सोऽहं'—देखो, यह प्रतीकात्मक है, भला! और इसके बाद क्या है?

इसके बाद विशुद्ध चैतन्य है जिसमें न माया है, न ब्रह्माण्ड है, न पिण्ड है। जिसमें न 'सोऽहं है, न राम है, न ॐ' है। एक विशुद्ध चैतन्य जिसमें माया नहीं, छाया नहीं, ब्रह्माण्ड नहीं, पिण्ड नहीं। सो आप यह मत सोचना कि घुप्प अंधकार होगा। कोई घुप्प अंधकार, अज्ञात विशालता होगी—उसका अर्थ यह नहीं है। उसका अर्थ है कि यही व्यवहार, जिस संसारमें आप व्यवहार कर रहे हैं, यह न तो पिण्ड है, न ब्रह्माण्ड है, न माया है। यह तो विशुद्ध चैतन्य है। तो चैतन्यका लेना-देना, चैतन्यका बोलना, चैतन्यका सुनना, चैतन्यका चलना, चैतन्यका देखना, चैतन्यका दीखना—सब व्यवहार जो है, वह विशुद्ध चैतन्यरूप ही है।

अब यही विशुद्ध चैतन्य जहाँ मायाके रूपमें भी बनता है, अपनी मौजसे, स्वातन्त्र्यसे,। यह विशुद्ध चैतन्यका स्वातन्त्र्य है कि वह मायारूप होता है, वह ब्रह्माण्डरूप होता है, वह पिण्डरूप होता है और

उस विशुद्ध चैतन्यसे भिन्न,न कोई ईश्वर है, न कोई माया है, न जीव है, न जगत् है। इसका नाम होता है शैवागम। आत्मरूप विशुद्ध चैतन्यसे अलग कोई दूसरी चीज नहीं है। वही सर्व होकर—

भोक्तैव-भोग्य-भावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।

तेन शब्दार्थ-चिन्तासु न स शब्दो न यः शिवः॥

भोक्ता ही भोग्यके रूपमें स्थित है। भोक्ता माने आत्मा। इस गुलाबका भोक्ता कौन है? आप हैं कि नहीं हैं? नासिकाके द्वारा गुलाबकी सुगन्धके भोक्ता आप हैं। यह सिद्धान्त यहाँ कह रहा है कि यह जो गुलाबकी सुगन्धके भोक्ता आप बने हुए हैं, असलमें भोक्ता आप हैं और भोगके कारण, मन आप हैं। नासिका आप हैं, यह गुलाबकी सुगन्ध आप हैं और गुलाब भी आप ही हैं। केवल इतना ही नहीं, समग्र सृष्टि जो भोग्यरूपमें भास रही है, वह आत्मभोक्ताका स्वरूप है। आपके सिवाय और कुछ नहीं। यह ईश्वरके साथ आत्माकी एकता है। और अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि यह सब ठीक है, परन्तु विवर्त है। यह आत्माका स्वातन्त्र्य नहीं है, सर्वरूपसे होना; बल्कि यह आत्माका विवर्त है, सर्वरूपसे प्रतीत होना; क्योंकि चैतन्यमें परिणाम अथवा विकार नहीं हो सकता। वह केवल जड़के रूपमें भास सकता है।

अच्छा जी, यह अद्वैतवेदान्त और शैवागमका यह भेद हुआ और सन्तमतका वह ध्यान बताया आपको। ऐसे हम कभी-कभी याद आ जायगी तो किसी-किसी पंथका ध्यान आपको सुनावेंगे।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 6 :

हमारा इतना पुराना सत्संगी यदि अपने मनको लगानेके लिए इतना नहीं समझता है कि यदि हम दो नाखूनोंको दबावेंगे और ये ढीले न पड़े, यह ख्याल रखेंगे तो हमारा मन नाखूनोंको सटाये रखनेमें आगया तो दूसरी जगह तो जायेगा नहीं, एकाग्र हो गया। यह तो एक बहुत मामूली-सी क्रिया हो गयी। जीभको उठाये रखना, यह बहुत मामूली-सी क्रिया हो गयी। पाँवको जमा करके उसके बैलेन्सको ठीक रखना, यह तो बहुत मामूली-सी क्रिया हो गयी। आँखकी पुतलीको ठीक रखना यह तो बहुत मामूली-सी क्रिया हो गयी।

असलमें ध्यानके सम्बन्धमें आपको अब एक पुरानी शैलीकी बात बताते हैं। पुरानी माने हमारे ऋग्वेदकी शैली, उपनिषद्की शैली। आपको जो संसर्ग है वस्तुसे, उसको तोड़ना है अथवा वस्तुको तोड़ना है। ये दो चीज है। वस्तुके संसर्गको तोड़ना।

देखो—यह रूमाल मेरी है। यह रूमाल बहुत बढ़िया है। यह रूमाल मेरे पास बनी रहे। इसका नाम क्या है? इसका नाम है संसर्ग—संसर्गाध्यास बोलते हैं इसको। और यह रूमाल मालूम ही न पड़े। आपको बिलकुल वैदिक रीतिसे इसकी बात सुनाते हैं। आपको दुःख जितना होता है रूमालसे—आपकी रूमाल खो जाय, आपकी रूमाल कोई छीन ले, और आपकी रूमाल किसीसे बदल जाय, तो? तुम हमारी रूमाल ले लो और हम तुम्हारी रूमाल ले लें—जैसे अंगूठी बदलते हैं वैसे रूमाल भी बदल लेते हैं। यह भी एक प्रेम है। बोले—'भाई! अंगूठी नहीं है, नहीं बदल सकते हैं किसी कारणसे, तो आओ, रूमाल ही बदल लें।' तो यह क्या है?

यह संसर्ग है, सम्बन्ध है। दुनियामें ईश्वर किसीको दुःख नहीं देता। प्रकृति भी किसीको दुःख नहीं देती। अपने मनमें जो सम्बन्धका

भाव है, वही दुःख देता है। हम काशीमें मणिकर्णिका घाटमें जाकर बैठते थे, जहाँ मुर्दे जलते रहते हैं। काशीवाले वहाँकी यह महिमा बताते हैं कि कोई ऐसा मिनट नहीं जाता, जिस समय वहाँ कोई-न-कोई मुर्दा न जल रहा हो।

पढ़ते समय काशीमें रहते, जाकर छतपर बैठ जाते, देखते मुर्दे जल रहे हैं। कितने मुर्दे जलते हुए देखे। परन्तु जब किसी मुर्देके साथ अपने जान-पहचानके लोग दिखायी पड़ते, तब यह ख्याल होता कि यह कौन है? और यदि तलाश करनेपर यह मालूम पड़ गया कि यह तो हमारा कोई निकटका सम्बन्धी है, तो उसके मरनेका दुःख होता। और यदि मरनेवाला कोई हमारा निकटका सम्बन्धी न होता, तो दुःख न होता। तो दुःख कहाँसे निकला?

किसीके मरनेसे निकला? मुर्दा होनेसे कि जलनेसे निकला? नहीं, निकटका सम्बन्धी होनेसे ही दुःख निकला।

अच्छा, एक आदमी हमारी रूमाल चुराकर ले गया। हम समझ गये कि इसने चुराया है। वह दिख गया तो उसको देखकर मनमें दुःख हो गया। और एक आदमीको हमने जानबूझकर बड़े प्रेमसे अपनी रूमाल दे दी। और वह फिर दिख गया तो वह हमारा बड़ा प्रिय उसको देखकर मन प्रसन्न हो गया। तो यह जो सम्बन्ध है हमारे जीवनमें यह हमको सुखी और दुःखी करता रहता है।

अच्छा, तो इस सम्बन्धको यदि किसी प्रकारसे काटा जा सके तो सम्बन्ध-निरोधी जो ध्यान होगा, उसका प्रकार दूसरा होगा और वस्तु निरोधी जो ध्यान होगा, उसका प्रकार दूसरा होगा। तो सम्बन्धको हम काट सकते हैं—त्यागके द्वारा तलाक देकर—जैसे संन्यासी लोग सम्बन्धको काटते हैं। बाह्य त्यागके द्वारा सम्बन्धको काट सकते हैं; परन्तु सम्बन्ध यदि केवल बाहरी होता, तब तो वह बाह्य त्यागसे काट देनेपर दुःखदायी न होता। लेकिन सम्बन्ध अन्दर दुःख देता है। सम्बन्धकी वृत्ति दुःख देती है। मनोभाव दुःख देता है। इसलिए उसको भीतरसे काटना

जरूरी पड़ेगा। तो सम्बन्ध जो संसारमें हैं उनको पचास-पचास प्रतिशत फिफ्टी-फिफ्टी (50/50) बोलते हैं—हम धर्म-अधर्मके द्वारा काट सकते हैं। इसके साथ सम्बन्ध जोड़ना-जो ब्लैकका रुपया है, काला धन है उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना अधर्म है। आप जिसको काला धन समझते हैं; अगर आपके पास जो धन है, उसको आप काला धन नहीं समझते हैं तो हम उसको काला धन कहनेके कोई अधिकारी नहीं हैं। वह तो सरकार कहे कि न कहे उसको वह जाने' परन्तु जहाँ काला धनके साथ, परस्त्रीके साथ आपका सम्बन्ध है, तो धर्म उसको काट देगा। परधनके साथ सम्बन्ध है तो धर्म उसको काट देगा। दुष्कर्मके साथ आपका सम्बन्ध है तो धर्म उसको काट देगा। यह देखो, यह है हमारी धर्म-मर्यादा।

अब सम्बन्ध काटनेके लिए जब हम भीतर घुसते हैं, तो तीन प्रकार हमारे सामने आते हैं। इसका हिसाब है भला! यह बिलकुल गणित है। आप यह नहीं समझना कि यह केवल किताबमें लिखा होता है और पढ़ा जा सकता है। यदि आप कभी ध्यानकी ओर अवधान देंगे, तो इसके गणितको आप समझ जायेंगे।

तो अब देखो—यहाँसे ध्यान प्रारम्भ होता है। क्या? (1) सम्बन्धान्तर सम्बन्धको काटनेके लिए सम्बन्धान्तर माने दूसरा सम्बन्ध। एक सम्बन्धको काटनेके लिए दूसरा सम्बन्ध। चोर अगर आपके पास ज्यादा बैठता हो तो आप पुलिसके पास बैठना शुरू कर दीजिये। चोरके मनमें शंका हो जायगी कि ये पुलिसके पासमें अधिक बैठते हैं, तो कहीं हमारे चोर होनेकी सूचना पुलिसमें न दे दें। और आप चोरका माल लेते हो तो क्या करेगा? चोर आपसे और दोस्ती करेगा कि देखो, हमसे ये माल लेते हैं तो हम भी चोर, ये भी चोर! चोर-चोर मौसेरे भाई! पुलिससे इनका सम्बन्ध है, ये हमको तकलीफमें पड़नेपर छुड़ा देंगे। तो सम्बन्धान्तर जो है, एक सम्बन्धको काटनेके लिए दूसरेके साथ सम्बन्ध जोड़ लेना—यह संसारके दुःख दूर करनेका एक उपाय है।

हमारे पास एक सज्जन आते थे। तो उनकी यह महिमा थी कि वे ऐसे प्रेमी थे महाराज, चार घण्टे-छह घण्टे, आठ घण्टे उठें ही नहीं, बैठे ही रहें। भोजन भी कर लें, सो भी जायँ, पर उनका एक गुर मालूम हो गया हमको। एक दूसरे महात्मा थे, जरा उनकी आँखमें ढेंढर निकला था। उनके चेहरेपर चेचकके दाग थे। देखनेमें बड़े वीभत्स थे। यदि वे हमारे पास कदाचित् आ जायँ, तो वह सज्जन उठकर चले जाते थे। यह बात हमको मालूम हो गयी। मालूम हो गयी तो जब हम उनसे ऊब जाते थे, तो इशारा करके हम उनको बुला लेते थे और आते ही उनके, वे उठकर चले जाते थे। अच्छा देखो, यह सब लोग जानते हैं। माने यह बात खुली है। ये ही लोग बुलाकर ला देते थे। अब इनके बैठे-बैठे बहुत देर हो गयी, तो इनसे कह तो सकते नहीं कि चले जाओ। तो सम्बन्धान्तर। अब दूसरे कोई आकर बैठ जाते थे, नहीं जाते थे, तो उनके लिए दूसरा उपाय था, बहुत बढ़िया! उनके लिए क्या उपाय था? यदि अखबार निकाल लें उनके सामने तो अखबार देखते ही—अखबारकी एलर्जी होती थी उनको-और देखते ही चले जाते थे।

एक तीसरे सज्जन थे। वह न उठें तो रेडियो उनके सामने खोल दो। जहाँ खट्-खट् हुआ आवाज आयी कि तुरन्त—'अच्छा, आप सुनिये, मैं जाता हूँ।' तो इसको बोलते हैं सम्बन्धान्तर। आप अपने हृदयमें कोई ऐसी उत्तम वस्तु बुला लीजिये कि—

भरी सराय रहीम लखि
आप पथिक फिरि जाय।

इसको बोलते हैं सम्बन्धान्तर।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं[1] त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव-देव॥

---

1. पाठभेद-च गुरुस्

एक ऐसी उत्तम वस्तु अपने हृदयमें बुलाइये। यदि ईश्वरपर आपका विश्वास न हो, तो वीतराग तीर्थंकर महात्माको बुलाकर रखिये। आप किसी महात्माको अपने हृदयमें बुला लीजिये, गुरुदेवको बुला लीजिये। नारायण! कोई अच्छी चीज-सम्बन्धान्तरको प्रकाशित होने दीजिये हृदयमें। यह देखो।

दूसरा उपाय है—विवेक, विवेक क्या है कि जिस वस्तुके साथ आपका सम्बन्ध है, सम्बन्धको आप मान रहे हैं तो क्या ईश्वरने उसके साथ गाँठ जोड़कर आपको पैदा किया था? गाँठ जोड़कर तो पैदा नहीं किया था। सो उसके साथ ऐसा सम्बन्ध मानना कि वह दु:ख देता जाय और उसको हम छोड़ न सकें—यह तो मनकी कमजोरी है। तो विवेक करो कि वह तुम्हारा है कि नहीं है? अच्छा, इसमें भी एक बात है—यदि वह रुपया है, पैसा है, मकान है और आपको दु:ख दे रहा है, और उसको तुम 'मेरा-मेरा' मानते जा रहे हो, तो उस विचारेकी कोई गलती है नहीं, दोष है नहीं। वह तो आपको मेरा मानता नहीं। आप ही उस पैसेको अपना मान करके एकांगी प्रेमी-पपीहा हो गये। पैसेके पपीहा हो गये आप। नारायण! कोकाकोलाके चातक हो गये कि हमको पीनेको कोकाकोला मिले। तो इसमें जो प्रेम है, वह केवल आपका ही है। न कोकाकोला आपसे प्रेम करता है कि न रुपया आपसे प्रेम करता है, तो विवेकके द्वारा आप कहिये कि यह तो मेरे मनकी मान्यता है। हम इसको छोड़ते हैं। इसके साथ अब हमारा सम्बन्ध नहीं है। और यदि वह व्यक्ति है महाराज! तो दोनों ओरसे हो गया न! फिर तो परस्पर हो गया न! फिर तो कुत्तेका पिल्ला। हमने कई बार सुनाया है।

तो परस्पर सम्बन्धको काटनेके लिए विवेककी आवश्यकता है। यह सम्बन्ध कब प्रारम्भ हुआ, कितनी गहराई तक है, कब तक रहेगा? एक दिन वह छोड़कर जायेगा, एक दिन तुम छोड़कर जाओगे, इसमें वियोग होगा, इसमें मृत्यु होगी। इसमें विश्वासघात होगा। तो विवेकके द्वारा देखो कि प्रकृतिकी कोई भी दो वस्तु आपसमें कब तक सटी रह

सकती है ? प्रकृति स्पन्दनशील है, वह बदलती रहती है। तो प्रकृतिकी दो चीजें एक साथ भी सटकर नहीं रह सकतीं और आत्मा चेतन है और प्रकृति जड़ है। आत्मा कभी भी जड़ वस्तुके साथ सटकर नहीं रह सकता। आप विवेकके द्वारा जड़ वस्तुओंसे अपनेको अलग कर लीजिये। और जड़ वस्तुओंकी बहती हुई जो धारा है कभी गंगाजीमें मुर्दा बह गया, कभी गंगाजीमें फूलोंका गुलदस्ता बह गया—गुलदस्ता भी बह गया, मुर्दा भी बह गया और आप किनारेपर बैठे तटस्थ देख रहे हैं।

यह जो विवेक है, तटस्थ दृष्टि, कूटस्थदृष्टि, विवेक दृष्टि यह सम्बन्धाध्यासको काटती है। (1) सम्बन्धान्तरसे सम्बन्धाध्यास कटता है, ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़ो, दुनियाके साथ सम्बन्ध तोड़ो। यह एक बात हुई। और (2) अपने स्वरूपमें बैठो, सिर्फ देखते रहो। कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। हाथ उठानेकी जरूरत नहीं, पाँवसे चलनेकी जरूरत नहीं, उसमें कोई मशीन चलानेकी जरूरत नहीं। जो कुछ हो रहा है, प्रकृतिकी धारा जैसे बह रही है—उसको देखते रहो। सड़कपर कितनी मोटरें बह जाती हैं। अरें! कभी तो जिन लोगोंका बड़ी सड़कोंपर घर है, वे जानते हैं, एक मिनटमें सौ-सौ मोटरें निकल जाती हैं। सामनेसे आप किसका-किसका नम्बर देखते हो? उसमें कौन बैठा है, देखते हो? कौन-कौन-सी मोटरे हैं? नहीं देखते हो! वे तुम्हारे सामनेसे बही जा रही हैं। बहने दो। एक विवेकमूलक सम्बन्धका त्याग होता है। असलमें त्यागके लिए ही ध्यान होता है।

अनिष्टकी ओरसे मनोवृत्ति, अनिष्टके साथ जो सम्बन्ध है वह छूट जाय। अनिष्टके साथ सम्बन्धको छुड़ानेके लिए दूसरेसे सम्बन्ध जोड़ना और विवेक करके अपनेको अलग कर लेना।

अब एक देखो—(3) तीसरा उपाय। इनका मैं नाम बताता हूँ। तीसरा उपाय क्या है कि जिनके साथ सम्बन्ध करके आप दुःखी हो रहे हैं, उनकी प्रतीति ही न हो—मालूम ही न पड़ें। तो जिन औजारोंसे वे

मालूम पड़ते हैं, जो मालूम पड़ते हैं, उनको रोकनेकी जरूरत नहीं। आप सड़क मत बन्द कीजिये—

मूँदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं।

एक वृन्दावनके आश्रममें रासलीला होती है। पहले तो प्रतिदिन होती थी वर्षों तक। अब कभी-कभी होती है एक महीनेके लिए, सावनमें हो गयी तो एक महीनेके लिए फाल्गुनमें हो गयी। तो एक श्रीमतीजी बैठती थीं रास देखनेके लिए। देखनेमें जरा सुन्दर थीं, इसमें कोई संदेह नहीं। तो उन्होंने आकर शिकायत की कि अमुक व्यक्ति जो है, हमारे सामने बैठता है रासमें और हमारी ओर बारम्बार देखता है, घूरता है हमको। तो मैंने उनसे पूछा कि आपको कैसे मालूम पड़ता है कि उसकी आँख आपपर ही है? आपको कैसे मालूम पड़ता है कि आपको घूर रहा है? आपको देख रहा है? अरे! आप तो रास देखती हैं। यह कैसे मालूम पड़ता है?

कहा—'स्वामीजी! मेरी आँख बारम्बार उठ जाती है और उसकी आँखसे मिल जाती है।' तो मैंने कहा कि—'तब आप उसकी आँख बन्द मत कीजिये। अपनी आँख बन्द कीजिये, भला! अपनी आँख बन्द कीजिये। इसका भाव, क्या हुआ?'

मूँदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं। बा.का. 279.8

तो, 1. प्रपंचके साथ सम्बन्ध मत रखो एक, और 2. तटस्थ भावसे देखते रहे—दो और 3. अपनी जो वृत्तियाँ हैं उनको निरुद्ध करो। इन साधनोंका नाम क्या हुआ?

सम्बन्धान्तर बनाना भक्ति है, भला! तटस्थ हो जाना विवेक-ज्ञान है और दूसरेका प्रतीत न होना, इसका नाम योग है। समाधि है। तो सम्बन्धको काटनेके लिए ये तीनों साधन हैं। ये संसर्गाध्यासको मिटाते हैं। वेदान्तकी भाषामें इसको संसर्गाध्यास बोलते हैं।

लेकिन; इसके बाद होता है अर्थाध्यास। संसर्गाध्यास माने यह रूमाल मेरी है। रूमाल मेरी तो नहीं है, लेकिन रूमाल है। हमारा इससे

सम्बन्ध नहीं है, ठीक है, इससे मैं अलग हूँ। ठीक है और यह समाधि लगा लेनेपर मालूम नहीं पड़ती, यह भी ठीक है। लेकिन रूमाल है तो सही न? समाधि जब टूटेगी तब दिखेगी और जब दिखेगी तब बढ़िया होगी तो स्पृहा होगी कि यह हमको मिल जाय। और कोई दूसरा इसका दावेदार न मिला तो ममता भी हो जायगी कि यह मेरी है। तो नारायण! यदि दूसरी वस्तु बनी रहेगी तो संसर्गाध्यास तो भले छूट जाय, परन्तु अर्थाध्यास नहीं छूटेगा। तो, अर्थाध्यास माने एक वस्तु है। माने एक वस्तु है, यह नहीं छूटेगा। तो वेदान्तका यहाँ काम पड़ता है। ज्ञानका काम यहाँ शुरू।

ध्यानने तीन काम किया—(1) इष्टदेवताके ध्यानसे संसारका सम्बन्ध कट गया, (2) विवेकसे, विवेकज्ञानसे अलगाव हो गया और (3) समाधिसे इसकी प्रतीति मिट गयी। परन्तु यह चीज है, ऐसी जो भ्रान्ति है, वह इन तीनोंके द्वारा नहीं कटी। अभी हमारे उपनिषद्-सिद्धान्तका काम है जो सच्चा ज्ञान है, ब्रह्मज्ञान है, परमार्थ ज्ञान है, अद्वय ज्ञान है, वह बच रहा है, अभी उसकी जरूरत है।

अच्छा, तो जो यह सब ध्यान हैं, वे उस ज्ञानप्राप्तिमें सहायक हैं कि नहीं है? बोले—सहायक हैं। इसमें यदि आपको यह भी करना हो तो सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा विवेक ज्ञान प्रकाशप्रधान, दृष्टाप्रधान होनेसे, सहायक ज्यादा है। यह भी कहनेमें हमको कोई हर्ज नहीं है। और जो अप्रतीति है, अभान है, समाध्यात्मक जो स्थिति है, वह अधिष्ठानमें स्थिति होनेके कारण अधिक अन्तरंग है। तो समाधिमें स्थित हो जाना भी, समाहित हो जाना अधिष्ठानके सन्निकट होना है। और तटस्थ-कूटस्थ दृष्टाके रूपमें अपनेको जान लेना, यह 'त्वं' पदार्थके अधिक निकट है। यह शुद्ध 'त्वं' पदार्थ नहीं है और वह समाधि शुद्ध 'तत्' पदार्थ नहीं है। जो अखण्ड अद्वय चैतन्य है, जिसमें 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थ दोनों कल्पित हैं, उस वस्तुका जो ज्ञान है, वह अर्थाध्यासको काटता है।

अब इसके ऊपर भी एक बात है। सचमुच अर्थाध्यास है, अर्थ है और अर्थाध्यास हुआ है कि नहीं? तो बोले कि इसका नाम ज्ञानाध्यास है। अर्थाध्यास नहीं है। ज्ञानमें ही दूसरी वस्तु है, ज्ञानमें ही उसका अस्तित्व है और ज्ञानमें ही उसकी निवृत्तिका साधन है। स्वयंप्रकाश अधिष्ठानाभिन्न ज्ञान जो है, वही परमार्थ है। एक तो बोलते हैं, अन्यका ज्ञान और एक बोलते हैं ज्ञान ब्रह्म—यह ब्रह्मका ज्ञान जैसे रूमालका ज्ञान, वैसे ब्रह्मका ज्ञान। बोले—यदि ब्रह्मका ज्ञान ऐसा ही होगा, रूमालके ज्ञानकी तरह, तो एक होगा ब्रह्म और एक होगा ज्ञान।

नहीं, ज्ञानकी ब्रह्मस्वरूपता, यह बताता है वेदान्त।

अब आप ध्यानकी कक्षाओंको बना लो। आप चाहेंगे, जैसे हम व्यापारमें सबसे बड़े व्यापारी हैं और जैसे हम अपने ऑफिसमें हेडक्लर्क हैं, और सीनियर अफसर हैं वैसे हमको साधनके क्षेत्रमें भी जो सबसे बढ़िया हो, वही पकड़ना चाहिए। आप ऐसी गलती कभी मत करना नारायण! हम आपको सावधान करते हैं, चेतावनी देते हैं कि साधनामें जो सबसे बढ़िया साधन होगा, वह हम करेंगे, जो सबसे बढ़िया स्थिति होगी उसमें हम बैठेंगे, जो सबसे बढ़िया वस्तु होगी उसको हम अभी ले लेंगे। नहीं, यह लूटमारकी जगह नहीं है।

आप अपने चित्तकी स्थितियोंको पहचानिये कि आपके चित्तमें अधर्म-वासना ज्यादा है कि धर्मवासना ज्यादा है। यदि अधर्मकी वासना ज्यादा हो तो धर्म-वासनाको थोड़ा बढ़ाइये। और धर्म-वासना ज्यादा हो तो इष्टदेवकी वासनाको थोड़ा बढ़ाइये। और इष्टदेवकी वासना हो तब आप तटस्थ-कूटस्थ होकर देखिये। और तटस्थ-कूटस्थ दृष्टि आपकी यदि ठीक है तो एक बार अप्रतीत हो जाने दीजिये, और उसके बाद एक ठोकरमें—एक ठोकर, एक चोट मारेगा वेदान्त और आपका काम बन जायेगा। लेकिन आप जहाँ चढ़ नहीं सकते, बैठ नहीं सकते, जहाँ आप पहुँच नहीं सकते तो वहाँ अगर बैठनेकी कोशिश करेंगे तो वासनाएँ बारम्बार आपको ले जाकर ऐसी जगह पटकेंगी कि आप साधनकी

बदनामी करवायेंगे। वेदान्तको कलंकित करेंगे, भगवान्‌की भक्तिको कलंकित करेंगे। बोले—इतना बड़ा सत्संगी, इतना बड़ा भक्त! अरे! व्यापारमें तो बड़ा भारी बेईमान है! ऐसे लोग आकर बोलते हैं। इतना बड़ा सत्संगी, इतना बड़ा भक्त और इतना बड़ा समझदार पर, आचरणमें बड़ा चरित्रहीन है। तो इससे क्या होता है?

बोले—सत्संगमें दोषनिवारणका सामर्थ्य नहीं है, भक्तिमें दोष-निवारणका सामर्थ्य नहीं है, विवेकमें दोषनिवारणका सामर्थ्य नहीं है, तत्त्वज्ञानमें दोषनिवारणका सामर्थ्य नहीं है। तो?

आप गये अरु घालहिं आनहिं।

स्वयं तो उसमें स्थित हो नहीं सके और दूसरे लोगोंको इससे विमुख करेंगे। बोले—जब ज्ञानी होनेसे ऐसे ही रहा जाता है तो हम ज्ञानी होकर क्या करेंगे? जब भक्त होनेसे चरित्र ही शुद्ध नहीं होता है, तो हम भक्ति करके क्या करेंगे? इस तरहसे—

मरतिहुँ बार कटक संहारा।

वह कुंभकर्णकी तरह स्वयं तो उस पदपर बैठ नहीं सके और दूसरोंको भी उस पदमें रुचि होनेसे, प्रवृत्ति होनेसे रोकते हैं।

इसलिए आपको यदि ध्यान करना हो तो इसके क्रमको, इसकी शैलीको समझिये। नारायण! और यथायोग्य साधनको स्वीकार करके, सीढ़ीको स्वीकार करके और क्रम-क्रमसे ऊपर उठिये। गिरनेका डर नहीं है। और यदि बिना क्रमके आप उड़नेकी कोशिश करेंगे तो सम्भव है, नारायण! जहाँ तक पहुँचना है वहाँ तक पहुँचेंगे नहीं और गिर जायँ। इसलिए ध्यानकी पद्धति व्यक्तिशः सीख करके करनेकी होती है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 7 :

अथ ध्यानं व्याख्यास्यामः।

'अथातो ध्यानजिज्ञासा' ऐसा सूत्र नहीं हो सकता है कि अब हम ध्यानकी जिज्ञासा करते हैं। ऐसा सूत्र नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो जो ध्यान चाहनेवाला है, वह ध्यानकी जिज्ञासा करेगा। कहो कि जिज्ञासाका अर्थ विचार है, तो ध्यानका विचार। तो ध्यान जो है, वह करनेकी वस्तु है विचार करनेकी वस्तु नहीं है। वह तो जैसा बता दिया जाय वैसा करना चाहिए। उसपर विचार नहीं करना चाहिए।

परसों ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रारम्भसे ही बात करना अच्छा रहता है। आपके अन्तःकरणके क्षीरसागरमें जैसे कोई अमृत छिपा हुआ है। तो जब क्षीरसागरका मन्थन होता है, तो उस मन्थनसे अमृत निकलता है। अमृतका प्रादुर्भाव कैसे होता है? आपको मालूम है, क्षीरसागरके मन्थनसे। तो आपका अन्तःकरण भी सात्त्विकताका एक महान् समुद्र है। सत्त्व भी निर्मल और दूध भी धवल। तो श्वेत-श्वेत, धवल-धवल जो आपका निर्मल अन्तःकरण है, उसमें मन्थन करके ध्यानामृतको प्रकट करना है। फिर आपके अन्तःकरणरूप क्षीरसागरका मन्थन कैसे हो, क्षारसागरके मन्थनसे अमृत प्रकट नहीं होता, क्षीरसागरके मन्थनसे अमृत प्रकट होता है।

क्षार सागर माने खारा-खारा समुद्र। यदि आपका मन खारा-खारा होगा और उसका मन्थन करके उसमें अमृत प्रकट करना चाहेंगे तो नहीं होगा, आपका अन्तःकरण क्षीरके-दूधके समान होना चाहिए—वह धवल भी है, वह तरल भी है, वह स्निग्ध भी है, वह उज्ज्वल भी है।

तो, अभी दो विद्या आपको प्राप्त होनी चाहिए। एक तो क्षार न हो, क्षीर हो। और (2) एक मन्थन करनेके लिए जो मन्दराचल है, सो प्राप्त होना चाहिये। क्षारका क्षीर कैसे हो?

इसके लिए आपको व्यवहार शुद्ध करना पड़ेगा। व्यवहारमें जो कड़वाहट है, वही आपके अन्तःकरणको क्षार बना देता है। तो योगकी रीतिमें यह बात बताते हैं कि व्यवहारमें भी आप विस्तारमें न जायँ। केवल गिनतीकी चार बात आप धारण कर लें। और संसारका सारा व्यवहार ही शुद्ध हो जायगा। 'मैत्री' (1) जो संसारमें सुखी हैं, उनसे ईर्ष्या न करके 'मैत्री' कीजिये और (2) जो, दुःखी हैं उनसे घृणा न करके उनके ऊपर 'करुणा' कीजिये। (3) 'मुदिता' जो पुण्यात्मा हैं उनको देख करके आनन्द लीजिये। और (4) जो पापी हैं, उनकी 'उपेक्षा' कर दीजिये। उनसे द्वेष मत कीजिये। आपको दुनियामें बस चार ही तरहके लोग मिलेंगे। लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें सुखीके साथ मैत्री, दुःखीपर करुणा, पुण्यात्माको देख करके मुदिता और पापीको देख करके उपेक्षा। तो आपके हृदयमें जो व्यवहार करते समय बारम्बार कटुता—आपका अन्तःकरण-समुद्र जो है, उसमें-से विष तो निकलता है, पर अमृत नहीं निकलता। तो ध्यानामृतकी उत्पत्तिके लिए व्यवहारको ठीक करना। तो इसको क्या बोलते हैं? चित्तको मनाना। जैसे घरमें श्रीमतीजी रूठ गयी हों तो तरह-तरहकी युक्ति करके उन्हें मना लिया जाता है, इसी तरह आपकी जो चित्तभूमि है वह किसीसे ईर्ष्या करती है, किसीको देखकर दुःखी होती है, किसीको देखकर घृणा करती है, यही विष है। तो, विष तो आपकी चित्तभूमिमें प्रकट होता है, परन्तु अमृत प्रकट नहीं होता। अन्तःकरणरूप क्षीरसागर! उसी क्षीरसागरमें नारायण रहते हैं, उसीमें लक्ष्मी रहती है और उसीमें अमृत अमृतत्व (मोक्ष) रहता है। यह देखो—सालम्बन व्याख्यान हुआ। प्राचीन कथाका आलम्बन लेकर यह बात आपको सुनायी।

अब चाहिए एक मन्थान-मथानी—रई तो अन्तःकरणमें मन्थन

करनेके लिए लकड़ीकी रई या यंत्रचालित या बिजली चालित रई काम तो नहीं दे सकती। अन्त:करणमें छिपी हुई वस्तुको मन्थनकर निकालनेके लिए शब्दकी रई चाहिए।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

ऐसी कोई वृत्ति अन्त:करणमें उत्पन्न नहीं होती जिसमें शब्द न हो। यह हमारे वैयाकरणोंका सिद्धान्त है। वैयाकरण माने हमारे शब्द-मीमांसक जो हैं, शब्दशास्त्रकी मीमांसा करनेवाले शब्दका उत्थान कहाँसे होता है—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

भा. 11.12.17

ये मुँहसे जो शब्द बोलते हैं, ये जीभमें आनेके पहले कण्ठमें कैसा रहता है, हृदयमें कैसा रहता है, नाभिमें कैसा रहता है, मूलाधारमें कैसा रहता है? यह शब्द ही सूक्ष्मसे स्थूल होकरके बोला जाता है। तो इसका जो परम सूक्ष्म रूप है, वह ईश्वरसे एक होता है—परावाक जिसको बोलते हैं। यहाँ तक कि यदि हम ईश्वरको चाहें कि जहाँ वह मूल कारणमें, बीजमें सोया हुआ है, वहाँसे उसको जगाकर हम अपनी इन्द्रियोंमें ईश्वरको ले आवें—तो वह काम भी शब्द करेगा। कबीर हैं, गुरु नानक हैं, हमारे तांत्रिक हैं, हमारे पौराणिक हैं, हमारे वैदिक हैं, सभी तो शब्दका आश्रय लेते हैं। क्योंकि अनजानी चीज जाननेके लिए आपको अगर वेद-शास्त्रसे परहेज हो तो हम आपपर जोर काहेको दें? आप कुरान, बाइबिलसे परहेज करते हैं ठीक है। वेद-पुराणसे परहेज करते हैं, ठीक है। आपको मुबारक हो। लेकिन आप किसीका व्याख्यान ही सुनकर आइये, उसीकी बात मानिये। बिना शब्दके उसीकी बात समझिये। बिना शब्दका सहारा लिये, चाहे वह गुरुका हों, चाहे पण्डितका हो, चाहे उपदेशका हो, चाहे वेद-शास्त्र-पुराणका हो, चाहे कुरान-बाइबिलका हो अज्ञातका ज्ञापन नहीं हो सकता। अज्ञात माने?

अज्ञात माने भी, आप मामूली मत समझना। अज्ञात माने जो आँखसे नहीं देखा जा सकता। अज्ञात माने जो नाकसे सूँघा नहीं जा सकता। जो खट्-खट् पट्-पट् कानसे सुना नहीं जा सकता। जो मनमें कल्पित आकारके रूपमें नहीं आ सकता। जो बुद्धिका भी युक्ति आदिके द्वारा ऐन्द्रिक अनुभवके आधार पर उठती हुई युक्तियोंके द्वारा जिस बुद्धिके पीछे बैठी हुई वस्तुका आकलन नहीं किया जा सकता, उस अज्ञात वस्तुके ज्ञापनके लिए शब्दके सिवाय और कोई सहारा और कोई उपाय नहीं होता है।

तो, शब्द है आधिदैविक मन्दराचल और फिर शब्दके द्वारा उत्पन्न विवेक है आध्यात्मिक मन्दराचल। आध्यात्मिक मन्दराचलमें जो शब्द है, वह स्थूल है और विवेक जो है वह सूक्ष्म है। तो, शब्दके द्वारा आप जिस ध्यानकी स्थितिको आप प्राप्त करना चाहते हैं, वह आपको मालूम है कि नहीं? जिस ध्यानकी स्थितिको आप अपने हृदयमें उत्पन्न करना चाहते हैं, वह मालूम है कि नहीं? अगर मालूम नहीं है, तो आप कहीं बीचमें ही अटक जायेंगे। कोई मामूली स्थिति होगी, और वहीं फँस जायेंगे। तो उसको पहले शब्दके द्वारा ज्ञात कर लीजिये कि वह स्थिति कैसी होती है?

वहाँ कोई वितर्क माने स्थूल-सूक्ष्म-स्थूल आलम्बन नहीं होता। वहाँ कोई विचार माने सूक्ष्म आलम्बन नहीं होता। वहाँ किसी आनन्दका भोग नहीं होता। वहाँ किसी प्रकारका 'अस्मि-अस्मि-अस्मि', 'अहं-अहं' ऐसी वृत्ति नहीं होती। तो नारायण! आप पहले उसकी पहचान प्राप्त कर लीजिये। किसी सड़कसे जाना हो तो उसका नक्शा ले लीजिये हाथमें, या रास्तेमें पूछते चलिये। तो, शब्दकी आवश्यकता होती है। शब्दमें भी जो प्रतीक है, अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, बिन्दु, नाद, शक्ति, कला, अमात्र-ओंकारके नव विभाग होते हैं, नव विभाग! तो शास्त्रीय रीतिसे तो आप इसे जान सकेंगे और महाराज! बिलकुल पश्चिमहा या पूर्वहा बैल ही मान लेंगे तो पूरबिया है या पश्चिमहा है। भाई!

चीन, जापान से आया कि अमेरिका, यूरोपसे आया? नहीं, इस 'ॐ' में जो आप मूलाधारसे जाग्रत् विभागको 'आ'कारमें, स्वप्न विभागको उकारमें, सुषुप्ति विभागको मकार में, और उसके बाद उसमें जो अर्धमात्रा है, शक्ति है, बिन्दु है, कला है, नाद है और अमात्र है—नव विभाग ॐकारके होते हैं।

यह देखो शब्दालम्बन; पहले तो होना चाहिए क्षीरसागर और उसमें क्षारसागर न हो और जो मन्थन होना चाहिए शब्दामृतको निकालनेके लिए, ध्यानामृतको निकालनेके लिए उसमें शब्दका मन्दराचल होना चाहिए। तब ध्यानामृत निकलेगा। एक बात और है— उसमें दैवीशक्ति और आसुरी शक्ति दोनोंका समावेश हो जाना चाहिए। दोनों समन्वित होनी चाहिए। दोनोंमें मेल करके इस मार्गमें चलना होता है और प्रत्येक वृत्ति शब्दके द्वारा उत्थापित होती है।

शान्त जो समुद्र है उसमें शब्दसे एक तरंग उठायी, दो तरंग उठायी, एक लहर, दो लहर, तीन लहर, चार लहर। आप देखेंगे कि लहरें अलग-अलग होती हैं और उनमें अमृतत्व एक होता है। उसीको तो पहचानना है।

अच्छा, जो लोग यह समझते हैं कि हम जिस स्थितिमें रहते हैं, उसमें शब्द नहीं हैं। वे गलत समझते हैं। केवल परब्रह्म परमात्मा अद्वय जो है वह तो अशब्दम्-अस्पर्शम्-अरूपम्-अरसम्-अगन्धम् है, लेकिन कोई स्थिति ऐसी नहीं है, जिसमें कोई शब्द न हो। वह मालूम पड़े या न मालूम पड़े। नहीं मालूम पड़ता है, तो वह ज्ञानकी कमजोरी है। जहाँ कम्पन है वहाँ शब्द है। जहाँ परिणाम है वहाँ शब्द है। जहाँ विकार है वहाँ शब्द है। जहाँ लगना और छूटना है, वहाँ शब्द है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता है जिसमें शब्दानुगम न हो। तो, जब आप ध्यानामृतके प्रकाशके लिए अपने अन्तःकरण-रूप समुद्रका मन्थन

करके उसमेंसे अमृत निकालते हैं तो कुछ थोड़ेसे विघ्न भी आते हैं, वह भी बताना आवश्यक है।

आपका चित्त विक्षिप्त है कि एकाग्र है? इसकी पहचान आप पहले देखो। यदि आप अपनेको दुःखी अनुभव करते हो, आपके मनमें कोई दुःख हो, किसीके प्रति दौर्मनस्य हो, दुश्मनी हो; 'दौर्मनस्य' और 'दुश्मनी' शब्दकी ओर ध्यान देना। श्वास अनियन्त्रित हो। इसको ऐसे समझो कि साँस जो है वह बाहरके वायुको पीनेके लिए जो प्राणकी क्रिया है, उसका नाम श्वास है और भीतरकी मलिन वायुको निकालनेके लिए जो प्राणकी क्रिया है, उसका नाम है निःश्वास। एक श्वास है, एक निःश्वास है। तो, जब हमारा प्राण बाहरकी हवामें-से ताकत पीनेकी कोशिश करता है, माने बाहरसे हवा लेता है, उसका नाम हुआ श्वास। यदि यह श्वास और निःश्वास तेज चलते हों, दुःख हो, दुश्मनी हो और शरीर हिलता हो, और श्वास पीने और निकालनेमें अत्यधिक व्यस्त हों— ये पाँच बात आपके ध्यानमें आगयी होंगी।

दुःख होना, दुश्मनी होना, शरीरका हिलना, साँस जोरसे खींचना और जोरसे निकालना ये पाँचों क्रिया यदि आपके शरीरमें हो रही हों तो समझना कि आपका मन विक्षिप्त है। ये मनकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं— मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। ये पाँच चित्तकी भूमियाँ हैं।

जब आपका मन स्वर्गकी कल्पना करने लगे तब भी विक्षिप्त है और यदि आपका मन जहाँ-का-तहाँ देहसे युक्त होकर बैठ जाय, तो मूढ़ है। और दुःख, दुश्मनी और हिलना श्वास-प्रश्वासकी अधिकता हो तो आपके मनमें विक्षेप है और एक वस्तुमें लगे—एक नाम, एक ध्यान, एक बिन्दु, एक नाद—तो आपका मन एकाग्र है। और, यदि आपके मनमें देश-काल-वस्तुकी स्फुरणा न हों तो आपका मन निरुद्ध है। ध्यान करनेके लिए मनीरामकी गतियोंको समझना पड़ता है, आपका मन किस अवस्थामें काम कर रहा है? मूढ़ है, विक्षिप्त है कि क्षिप्त, एकाग्र है कि निरुद्ध है? ये गिनी हुई हैं सब, भला!

सत्त्वगुणकी केवल दो स्थितियाँ हैं—एकाग्र और निरुद्ध। इसमें निरुद्धके द्वारा एकाग्रताका भी नियंत्रण किया जाता है। एकाग्रतामें एक इष्ट होता है और एक ध्यानकी वृत्ति होती है। निरुद्धमें वृत्ति और ध्येयका भेद नहीं होता। जैसे, आप देखो—यह गुलाब है। हाथमें गुलाबका फूल और मुँहमें 'गुलाब' का शब्द। हृदयमें शब्द और अर्थ दोनोंके सम्बन्धका ज्ञान। तीन जगह यह चीज बैठी है। बहिर्देशमें हाथमें गुलाबका फूल है, मुखमें 'गुलाब' शब्द है और हृदयदेशमें-अन्तर्देशमें शब्द और अर्थके सम्बन्धका ज्ञान है।

जब आपका मन एकाग्र होगा, तब गुलाब अलग है, शब्द अलग है और वृत्ति अलग है, यह भेद बिलकुल मिट जायेगा।

जहाँ ज्ञानसे पृथक् शब्द और वस्तु नहीं होती है उस अवस्थाको चित्तकी समाहित दशा बोलते हैं।

चित्तकी समाहित दशा कौन-सी है? कि जहाँ ज्ञान, शब्द और वस्तुका अलगाव नहीं है। तो पहले जिस वस्तुको आप लाना चाहते हैं, उसको आकृतिके आलम्बनसे, या शब्दके आलम्बनसे, या भावके आलम्बनसे, या तो त्यागके आलम्बनसे, आप उस वस्तुको अपने हृदयमें जाग्रत् होने दीजिये। जब जाग जाय तब उसमें अपने चित्तको इतना समाहित होने दीजिए कि उनका जो भेदभान है, वह मिट जाय। यह बात आपको यथाकथंचित् कल सुनायी थी कि—(1) मनमें सम्बन्धान्तर करके प्रपञ्चका त्याग माने ईश्वरसे सम्बन्ध जोड़ लिया, प्रपञ्चसे तोड़ लिया। (2) विवेक करके सम्बन्ध-त्याग। यह मैं दृष्टा आत्मा हूँ और यह दृश्य जो है, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। और (3) अप्रतीत करके माने समाधि लगा करके सम्बन्ध-त्याग जितनी देर तक समाधिमें बैठ गये, दृश्यके साथ किसी भी चीजके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा। और (4) तत्त्वज्ञानके द्वारा बाध माने दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

तो (1) सम्बन्धान्तरमें जहाँ सुख बाहर ज्यादा आता है। वहाँ

खींच लेता है। (2) विवेकमें जहाँ प्रमाद होगा वहाँ शिथिलता आ जायेगी। और (3)समाधि जब टूटेगी, संसारसे फिर सम्बन्ध हो जायेगा। दृष्टा और दृश्य पृथक् होते हुए भी अज्ञात कालसे दोनों तादात्म्यापन्न हो रहे हैं। तो विवेकके द्वारा बारम्बार दोनों पृथक् होनेपर भी जब मतलबकी बात दृश्यमें आती है—स्रक्चन्दन-वनितादिकी प्राप्ति होती है, जब भजकलदारं-भजकलदारं आता है, तब ये द्रष्टाजी महाराज जो हैं वह दृश्यमें अपने आपको डाल देते हैं, डुबो देते हैं। तो सम्बन्धान्तर बनानेसे भी जब विषयमें स्वाद आवेगा तब ईश्वर भूल जायेगा और विवेक करनेपर भी तादात्म्यकी वृत्तिको आप रोक नहीं सकेंगे। जहाँ विवेक शिथिल हुआ, वहाँ दृश्यसे एकता हुई। और अभानदशामें आप हमेशा रह नहीं सकते। नहीं तो व्यवहार ही कट जायेगा। वह योग और ध्यान आपके किस कामका जिसमें व्यवहारका ही लोप हो जाय?

असलमें सत्य तो वह होना चाहिए न, जो आपके व्यवहारमें भी रहे और समाधिमें भी रहे। जो लोग केवल गुफामें रहकर सदाचारी हो सकते हैं, और बाजारमें आकर बेईमान हो सकते हैं, उनकी साधुता पक्की नहीं है, इसी प्रकार जो लोग समाधिमें रहकर दृश्यसे अलग रहते हैं और व्यवहारमें आकर दृश्यसे एक हो जाते हैं, उनकी समाधि जो है, वह 'चौपटानन्द' है। नारायण! हमने संन्यासीका नाम जानबूझकर लिया। नहीं तो कह देते 'मनसुखलाल' है या 'करोड़ीमल' है। तो हमने कहा, भाई! गृहस्थ का नाम नहीं लेना चाहिए। साधुका नाम लेना ही अच्छा है। तो गुफामें हो तो ठीक और बाहर आवें तो गलत, भला! और द्रष्टा हो तो ठीक और दृश्यसे मिले तो गलत और प्रपञ्च प्रतीत न हो तो ठीक और प्रपञ्च प्रतीत हो तो गलत! इस भेदभावको मिटानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता होती है।

अब, अभी तो हम ध्यानका ही वर्णन करना चाहते हैं। जब आप ध्यान लगानेके लिए बैठें, (4) ध्यान व्यक्तित्वको सम्पुष्ट करता है

और ज्ञान जो है, व्यक्त-अव्यक्त दोनोंको भून देता है। तो ज्ञान तत्त्व-विषयक है और ध्यान स्थिति विषयक है। ध्यान एक शरीरमें रहनेवाली मनकी एक स्थिति है और ज्ञान जो है वह सम्पूर्ण विश्वके प्रपञ्चको प्रकट करनेवाला जो तत्त्व है, उस तत्त्वके साथ पहलेसे ही सिद्ध-ऐक्यात्मका बोध है। इसलिए ज्ञान दूसरी चीज है जो समग्र ध्यानोंके द्वारा अन्तःकरणको योग्य बनानेके बाद अद्वैतबोधके रूपमें जाग्रत् होता है।

वैसे हम लोग ज्ञानको पराधीन नहीं मानते हैं। ज्ञान अपना बच्चा पैदा करनेके लिए भी पराधीन नहीं है। माने ज्ञानके बाद जीवनमुक्ति आवे या ऐसा-वैसा कुछ हो जाय-वह करनेके लिए भी ज्ञान पराधीन नहीं है। और ज्ञानका अमुक बाप होवे तभी ज्ञान पैदा होता है, इसके लिए भी ज्ञान पराधीन नहीं है। ज्ञान न किसीका बेटा है और न किसीका बाप है। वह तो—

'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।'

तो उस ज्ञानकी चर्चा हम थोड़ी देर अभी छोड़कर, ध्यानकी चर्चा करते हैं। और यदि आप ध्यानके विद्यार्थी हैं, यदि आप ध्यानार्थी हैं तो आप कुछ थोड़ी-सी बातोंका ध्यान रखिये।

ध्यान करनेवालेके शरीरमें रोग नहीं होना चाहिए। ध्यानामृत अपने आप अच्छा कर देता है। अगर ध्यानार्थीके शरीरमें, ध्यानीके शरीरमें रोग आता है तो कुछ गलती हुई है उससे। अच्छा, उस गलतीको भी पकड़नेकी प्रक्रिया है—

(1) **व्याधि**—जिसको व्याधि बोलते हैं, यह व्याधि क्यों आती है? ध्यानका विद्यार्थी ध्यानामृतमें डूब रहा है, और उतरा रहा है। वह तो अपने अन्तःकरणके क्षीरसागरका मन्थन कर रहा है और उसको बूँद-बूँद ध्यानामृतकी प्राप्ति हो रही है। उसको व्याधि क्यों आवे? एक बात।

तो व्याधि हमेशा ही आती है धातुके वैषम्यसे। हमारे शास्त्रीय

पद्धतिके अनुसार, हम लोग विदेशी भाषा-विलायती भाषा नहीं जानते हैं। किस विटामिनकी कमी है, यह हम नहीं बता सकते। लेकिन शरीरमें अपने तीन धातु मानते हैं, क्योंकि अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके समान ही, सत्त्व, रज, तमके समान ही, सत्, चित्, आनन्दके समान ही सद्-चिद्-आनन्दका त्रैत और सत्त्व-रज-तमका त्रैत और अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूतका त्रैत, इन त्रैतके अनुसार शरीरके भीतर भी तीन धातुएँ होती हैं। उनको बोलते हैं बात-पित्त और कफ।

तो, इन धातुओंमें यदि साम्य बना रहता है, तब शरीरमें रोग नहीं होता। और जब किसी कारणसे शरीरमें वैषम्य हो जाता है तब रोग होता है। आप आधि और व्याधि दोनोंका नाम जानते हैं। मनके रोगका नाम है 'आधि' और शरीरके रोगका नाम है 'व्याधि'। इन दोनोंमें असलमें आधि एक ही है। इस बातपर आपका ध्यान गया हो या नहीं। असलमें मनका रोग ही शरीरका रोग है। इसमें थोड़ी-सी विशेषता थोड़ी-सी मनके रोगमें विशेषता आजाने पर उसका नाम 'व्याधि' हो जाता है। 'वि'+और 'आधि'। आधि माने मनकी बीमारी। वि-आधी माने शरीरकी बीमारी। तो शरीरमें बीमारी क्यों आती है?

इसकी भी चर्चा कर लें—(i) 'श्रमात्' एक तो शक्तिसे अधिक श्रम करनेसे। और (ii) अनिष्टसंस्पर्शात्'। जो काम नहीं चाहते हैं हम वह हो जाय। और (iii) 'इष्ट-विवर्जनात्' जो चाहते हैं वह न होनेसे। और (iv) धातु-वैषम्य होनेसे।

धातुवैषम्य होनेसे क्या बिमारी होती है? लो, अब ध्यानके प्रसंगमें क्योंकि ध्यानसे चिकित्सा भी की जाती है न? शरीरके रोगोंकी दवा भी ध्यानसे की जाती है।

तो, मनमें तो वासनापूर्तिकी इच्छा है, वासना निवृत्तिकी नहीं इस बातको पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी नहीं जानते हैं। इसको हम लोग जानते हैं। वासना मनमें उठे और ईमानदारीसे उसको मिटा देनेकी इच्छा हो तो वासना शान्त हो जाती है। क्योंकि ईमानदारीसे मिटानेकी जो इच्छा है

वह शान्ति है। लेकिन, मनमें वासनाका उदय हो और ईमानदारीसे मिटानेकी इच्छा न हो, पूर्तिकी इच्छा हो और उसके बाद मनको रोकें तो रोग होगा और यह दोनोंका जो भेद है, इसको हमारे मनोवैज्ञानिक डॉक्टर लोग बिल्कुल नहीं जानते हैं। वे तो जानते हैं कि वासना हुई तो उसको पूरा करना है। और उसको जो रोकेगा सो बीमार हो जायेगा। वे यह नहीं जानते हैं कि वासनाकी शान्तिकी जो इच्छा है, वह अन्तर्मुख है और वासनाकी पूर्तिकी इच्छा बहिर्मुख है। तो शरीरमें व्याधि जो है, वह धातुकी विषमतासे होती है।

धातु-वीर्य आदि धातु, शरीरमें जहाँ रहने चाहिए वहाँ यदि ठीक-ठीक रहते हैं—कफ बराबर है, पित्त बराबर है, बात बराबर है। बातसे शरीरमें पीड़ा होती है, दर्द होता है, शरीरमें, यह कामजन्य है—कामजन्य! शरीरमें बहुत दर्द होना, कामना अधिक होनेका लक्षण है। और शरीरमें गरमी होना, सूखना, खुश्की होना, आँखमें जलन होना, यह क्रोधका लक्षण है, भला! और कफकी अधिकता वह लोभकी अधिकताका लक्षण है। कफसे लोभकी वृद्धि, पित्तसे क्रोधकी वृद्धि और बातसे कामकी वृद्धि होती है और जब—

प्रीति करहिं जब तीनों भाई।
उपजहि सन्निपात दुःखदायी॥

जब तीनों भाई प्रेम करते हैं तब सन्निपात होता है।

तो रोग जो है, व्याधि जो है, यह ध्यानमें विघ्न है।

(2) **स्त्यान**—और शरीरका भारी होना। कौन करे ध्यान? आओ, सो जायँ। तो यह जो ध्यानके समयमें ध्यानमें आलस्य है, चित्तकी अप्रवृत्ति है, उसको 'स्त्यान' बोलते हैं।

(3) **संशय**—पता नहीं कि इससे कुछ मिलता है कि नहीं मिलता है। उन्नति होती है कि नहीं होती है? यह ठीक है कि नहीं? यह ध्यानका विघ्न है।

(4) **प्रमाद**—समय पर भूल जाना। ध्यान करने बैठे और सोचने

लगे बाजारकी बात और ख्याल ही नहीं रहा पन्द्रह मिनट तक। जप करने बैठे और भूल गये।

(5) **आलस्य**—याद आनेपर भी न करना।

(6) **अविरति**—संसारकी किसी वस्तुमें राग होना अविरति।

(7) **भ्रान्तिदर्शन**—झूठमूठके अच्छे-अच्छे दृश्य दिखायी पड़ने लगे और समझ लिया कि हमारी तो बड़ी उन्नति हो गयी। हम देवताके लोकमें पहुँच गये और नारायण!

(8) **अलब्ध भूमिकत्व**—ऊँचे जहाँ बैठना था वहाँ तो पहुँचे नहीं, नीचे ही मान बैठे कि हमको वह भूमिका मिल गयी।

(9) **अनवस्थितत्व**—वह भूमिका मिल जानेपर भी उसमें वृत्तिका न टिकना। ये नव चीजें—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व। ये नौ बातें जो हैं—ये अन्तराय हैं।

'**तेऽन्तरायाः।**' (यो. सू. 1-30)

अन्तराय माने हमारे ध्यानमें विघ्न डालनेवाली ये नव बातें हैं। पहले जो पाँच बातें बतायी थीं, मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध ये लक्षण हैं और ये नव रोग हैं। रोग और रोगके लक्षण।

तो यदि आप ध्यान करनेके लिए बैठते हैं तो रोगसे बचिये। रोगके लक्षणोंसे बचिये जो पहले बताये। और पाँचों भूमिकाओंमें-से आपके चित्तके लिए कौन-सी भूमि स्थापित करनी है? और क्षीरसागरमें आपको जो स्थिति प्राप्त करनी है, जो अमृतत्व आपको प्राप्त करना है। अमृतत्वमें वृत्ति नहीं टिकती। यदि अमृतत्वमें वृत्ति टिक जाय! आपके मुँहमें घी-शक्कर! बहुत बढ़िया!! परन्तु यदि न टिके तो उसको बारम्बार-बारम्बार टच कीजिये उस अमृतको 'अमृत-अमृत-अमृत' बारम्बार उस अमृतको जगा लीजिये। और उसके बाद बोलना छोड़ दीजिये। और उसके बाद अमृतको मत जगाइये। पहले सोते हुए को जगा लीजिये। फिर नाम लेकर पुकारनेकी जरूरत न रहे। कोई जरूरत नहीं।

यदि कोई सो रहा हो, तो एक बार उसका नाम लेकर उसको जगाइये। जब जग जाय तो नाम लेकर भले उसे मत बुलाइये, लेकिन एक बार जगा तो लीजिये न! जगा लीजिये। इसीलिए—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

यदि आप अपने हृदयमें ध्यानकी कोई विशेष वृत्ति जाग्रत् करना चाहते हैं। लोगोंको यह भी भ्रम हो जाता है कि हमें विशेष वृत्ति नहीं चाहिए। शान्त वृत्ति चाहिए। तो विशेषकी अपेक्षासे अलग है कि नहीं शान्त वृत्ति? दो चीज हो गयी न? एक विक्षिप्त वृत्ति और एक शान्त वृत्ति। और अलग होते ही उसका नाम विशेष हो गया। जो एकसे दूसरा होगा या दूसरे से पहले होगा, जिसमें विक्षेप वृत्तिके बाद शान्त वृत्ति और शान्त वृत्तिके बाद विक्षेप वृत्ति जहाँ होगी वहाँ नाम हुए बिना तो हो ही नहीं सकता। नाम हुए बिना नहीं रह सकता। नामातीत जो पद है, नामातीत जो वस्तु है, नामातीत जो स्वरूप है, अनाम! अनाम पद है, अलख पद है, अगम पद है। उस पदकी प्राप्तिके लिए नामके द्वारा एक विशिष्ट स्थिति जाग्रत् करनी पड़ती है। उसका नाम होता है ध्यान और उस ध्यानसे अन्तःकरणमें आती है ज्ञानकी योग्यता। और तब अज्ञातज्ञापक जो वृत्ति है, उसका उदय होता है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 8 :

'अथातो ध्यानं व्याख्यास्यामः।'

ध्यानके साधकको पहले ही यह बात समझ लेनी चाहिए कि समस्याप्रधान जीवनमें ईश्वरका ध्यान होना सुगम नहीं है। यह बात दूसरी है कि आप सकाम भावसे प्रार्थना करें कि—'हे ईश्वर! तुम हमारी इस समस्याका समाधान कर दो।' ध्यान होता है।

आपको मालूम ही होगा कि स्त्रीविषयक कामनाका उदय होनेपर उसका ध्यान होता है। शत्रुविषयक क्रोध या द्वेष मनमें बैठ जाय तो शत्रुका ध्यान होता है। ध्यानका अर्थ है लगातार वही, लगातार वही अपने मनमें दिखायी पड़े। जैसे कोई चोरी करके आवे और ध्यान करनेके लिए बैठ जाय, तो चोरीका माल कहाँ छिपावें? पुलिससे कैसे बचें? ये सब समस्याएँ रहेंगी न उसके जीवनमें? तो वह शान्त हो करके अपने स्वरूपमें बैठ जाय, या शुद्ध 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थकी एकतामें स्थित हो जाय, यह बड़ा कठिन पड़ेगा।

हमारे पूर्वमीमांसाक जो हैं, वे सकाम ध्यानको स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि आप जिस कामनासे शास्त्रानुसार यज्ञ करते हैं और उसमें जिस देवताकी आराधना होती है, उस देवताका ध्यान कीजिये। और एक यज्ञमें आठ देवताकी पूजा करनी पड़ती है। तो बारबार आठ देवताओंका बारी-बारीसे ध्यान कीजिये।

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् वषट् करिष्यत्।

इन्द्र-देवताका ध्यान कर रहे हैं। क्योंकि वह हाथका देवता है, तो यज्ञका प्रेरक भी है और यज्ञका फलदाता भी है। यज्ञाराध्य भी है। तो इन्द्रदेवताका ध्यान करना।

'स्वर्गकामः।'

स्वर्ग प्राप्तिकी कामना है, उसके लिए यज्ञ कर रहे हैं तो हाथसे यज्ञ करानेवाले, यज्ञके द्वारा प्रसन्न होनेवाले और स्वर्ग देनेवाले, इन्द्रदेवताका ध्यान करना पड़ेगा और उसी बीचमें कहीं-कहीं मित्र देवताका, कहीं पूषा देवताका ध्यान भी करना पड़ेगा। तो यह क्या होगा कि सब ध्यानोंसे, शास्त्रोक्त ध्यानोंसे, विधिपूर्वक ध्यानोंसे एक प्रकारके अपूर्वकी उत्पत्ति होती है। वह शास्त्रोक्त कर्म करनेसे उत्पन्न होती है। और जब तक उसका फल नहीं मिल जाता है, तब तक रहती है। कभी अनेक देवताओंकी आराधनासे अनेक कर्मोंसे अनेक अपूर्व उत्पन्न होते हैं। उनसे एक फल बन जाता है। कोई गौण, कोई मुख्य और कभी-कभी तो अनेक अपूर्व अनेक फल देते हैं।

यह आपको इसलिए बताया कि आजकल शास्त्रीय पद्धतिका तो विचार नहीं होता है। हम लोग भी समझते हैं कि बालक है, स्त्री है, अनपढ़ है—ऐसे श्रोता लोग हैं, उनके बीचमें शास्त्रोक्त पद्धतिका वर्णन और समर्थन कहीं व्यर्थ न चला जाय। तो काहेको उसपर विचार करें?

तो जहाँ कर्तृत्वपूर्वक और संकल्पपूर्वक और शास्त्रोक्त विधिसे समाप्ति पर्यन्त कर्म किया जाता है, वहाँ उस कर्मसे एक अपूर्वकी—जो चीज पहले नहीं थी, उसकी) उत्पत्ति होती है और वह फिर समयपर सूक्ष्मसे स्थूल होकर अपने फलके रूपमें अभिव्यक्त होती है।

हम केवल तटस्थ हो गये, या कूटस्थ हो गये, या द्रष्टा हो गये, तो वह सांख्ययोगियोंका ध्यान है और जो लोग कर्मवादी हैं, उनका ध्यान विलक्षण है और जो ईश्वरवादी हैं, उनका ध्यान विलक्षण है।

कहो कि—'हमारा क्या मतलब है? हम उसको छोड़ देते हैं।' तो

यदि आप उसको समझोगे नहीं, ठीक-ठीक तो आपको जो अपना ध्यान करना है उसमें भी नहीं बैठ सकोगे। यह जो किनाराकश हो जाना है—किनाराकश माने तटस्थ हो जाना या कूटस्थ होना।

आपके मनमें देखनेकी तो वासना है रूपकी और आप अरूपका ध्यान करनेके लिए बैठ जायेंगे तो रूप आपको नोचेगा बाहरको, कि हम भीतर नहीं बैठने देंगे। रूपकी वासना होते हुए अरूपके ध्यानमें बैठोगे तो वह रूपकी वासना आपको बाहर खींचेगी। धनकी वासना हो और आप राग-द्वेषसे रहित होकर बैठना चाहो तो धनकी वासना बाहरको खींचेगी। इसलिए पहले सारी बात इसके सम्बन्धकी समझ लेनी चाहिए। तो जिस वस्तुकी कामना आपके मनमें असलमें है; यह सुन-सुनाकरके गड़बड़ीमें नहीं पड़ना।

एक बारकी बात है। हम 'चूरु'के ऋषिकुल गये। संन्यासी होनेके पहले प्राय: हर साल जाया करते थे। 'रतनगढ़' जाते थे। तीन वर्ष, चार वर्ष, पाँच वर्ष ऐसे ही चले जाते थे। पच्चीस-तीस मीलका फर्क है। तो वहाँ हमारे जो निष्काम ब्रह्मचारी थे, छोटे-छोटे बच्चे बिचारे, जानते ही नहीं थे कि निष्कामता क्या होती है?

अब उनको पढ़ा-लिखाकर निष्काम बना दिया गया था कि—'हम निष्काम हैं।' तो मैंने उनसे पूछा कि—'तुमको सबसे अच्छा क्या लगता है? क्या पसन्द है?' तो एकने कहा—रामायण, एकने कहा—गीता, एकने कहा—'कृष्ण' एकने कहा—'राम' तो मैंने कहा—'नहीं भाई, सेठजीका, भाईजीका व्याख्यान', हमारा व्याख्यान सुन-सुनकर तुमने यह माना है कि 'रामायण, गीता ये बहुत अच्छे हैं। राम-कृष्ण बहुत अच्छे हैं।' किसीकी पूजा करनी चाहिए, प्रणाम करना चाहिए तो निष्काम भावमें करना चाहिए। यह सब तो तुमको रटाया गया, सिखाया गया है। हम यह नहीं पूछते। हम तुम्हारे दिलकी बात पूछते हैं कि तुमको किताब कौन-सी अच्छी लगती है पढ़नेमें?'

तो उन्होंने जो जोककी किताबें होती हैं न, 'कहानीकी और

चुटकुलाकी किताबें हमको पढ़नेमें अच्छी लगती हैं।' यह बताया उन्होंने।

'काम कौन-सा तुम्हें अच्छा लगता है?' पहले बताया— 'संध्यावन्दन।' 'नहीं, तुम अपनी पसन्द बताओ।'

'महाराज! हमको तो पड़ाका बनाकर छोड़नेमें बड़ा मजा आता है।'

यह देखो! यह बच्चोंकी बात मैंने आप लोगोंको इसलिए सुनायी कि आपका मन भी एक बच्चा है। उसको आप बड़े-बड़े सिद्धान्तोंमें उलझा देंगे तो आपके हृदयमें जो सरल-सहज स्वाभाविकता है, वह दब जायगी। इसलिए पहले आप यह देखिये कि आपके जीवनमें, आपके मनमें, आपकी अन्तरात्मामें माँग पैसेकी है कि संन्यासकी? आपके मनमें माँग भोगकी है कि ब्रह्मचर्यकी?'

तो, पहले उस पैसेकी माँगको और भोगकी माँगको उच्छृंखल होकरके पूर्ण मत कीजिये। उसको एक मार्ग दीजिये, एक दिशा दीजिये। इसीका नाम धर्म होता है।

हमारे ध्यानी विद्वानोंका यह कहना है कि वासनाओंको स्वच्छन्द बहने न देकरके उसके लिए एक दिशा निर्देश आवश्यक है। आपका पानी बहता हो तो एक नाली बना दीजिये। उसमें-से बह जाय। आपके घरमें लघुशंका करनेके लिए जगह न हो तो एक पनाला उसमें बना दीजिये कि वहाँसे वह बहे। इसीका नाम है धर्म।

हमारे मनमें जो स्वाभाविक विकार हैं, उनको दिशा देना— इसीलिए पति धर्म है; इसीलिए पत्नी धर्म है। यह ईमानदारीकी कमाई धर्म है। यदि आप वहाँसे आप अपना जीवन प्रारम्भ नहीं करेंगे—शत्रुके द्वारा कोई उपद्रव किये जानेपर न्यायालयमें जाना धर्म है। अपने हाथसे उसको मारना धर्म नहीं है। तो यह आवश्यकता यदि आपको भूल गयी है तो आप यह सोचें कि हम केवल मानसिक क्रियाकलापोंसे ही अपनी उन्नति कर लेंगे, तो नहीं हो सकती। क्योंकि साधन बाहरसे प्रारम्भ होता

है और भीतर ले जाता है। स्थूलसे प्रारम्भ होता हैं और सूक्ष्ममें ले जाता है।

आप ब्रह्मचर्य धारण करेंगे तब निष्काम होंगे और निष्काम होकर ब्रह्मचर्य धारण करेंगे तो धारण करनेका कोई अर्थ नहीं होगा। आप 'राम-राम' करेंगे तो आपका दिल साफ होगा और दिल साफ होनेपर 'राम-राम' करेंगे, अगर इसका इन्तजार करेंगे तो न दिल साफ होगा और आप 'राम-राम' जपनेसे भी वंचित हो जायेंगे। इसलिए असलमें साधना तो वहाँ प्रारम्भ होनी चाहिए जहाँ आप हैं—

यस्यां भूमौ निपतितः तां आलम्ब्य विमुच्यते।

हमारे ध्यानशास्त्रके विद्वानोंने कहा कि मनुष्य जिस धरतीपर गिर पड़ा हो, दोनों हाथसे उसीका सहारा लेकर उसको उठना चाहिए। गिरा हो कुएँमें और बात करे पहाड़की तो वह बात चल नहीं सकती। इसलिए पहली बात यह है कि अपने जीवनको बाह्य समस्याओंसे निर्मुक्त कीजिये।

हमारे एक ध्यानी महात्मा थे, 'ऋषिकेश' में। पेड़के नीचे बैठते और ध्यान करते। एक दिन महाराज, सेठजी पहुँच गये। सेठजीमें-से किसीका नाम नहीं लेना। आप लोगोंमें-से ही कोई होंगे या आपसे बाहर हो सकते हैं। आपके भीतर भी हो सकते हैं। जाकर उन्होंने पुराने जमानेका पचीस रुपया आजकलके दो सौ रुपयेके बराबर होता है, रख दिया।

साधुने कहा—'बाबा! हम माँगकर खा लेते हैं, और पेड़के नीचे सो जाते हैं। ये रुपये लेकर क्या करेंगे?'

तो उन्होंने कहा—'नहीं महाराज! अब तो हमारी जेबसे निकल गया। आप किसीको दे देना। जो मौज हो सो करना।'

अब सेठजी तो चले गये। जब साधुजी बैठे ध्यान करने तो सोचने लगे कि—'पचीस रुपयेका भण्डारा कर दें, तो एक ही दिनमें खतम हो जायेगा।' अच्छा, कपड़े खरीद कर गरीबोंको बाँट दें। पच्चीस रुपयेमें तो

सौ गज कपड़ा आजायेगा। अब महाराज! कपड़े भी लोग दे देते हैं, नंगा देखकर। कोई बीमार होता है, तो दवा नहीं मिलती, इसलिए दवा मँगा लें।'

एक साथ पाँच-सात संकल्प महात्माके हृदयमें उठे। उसने कहा—'राम-राम! कहाँ तो मैं वृत्ति एकाग्र और लक्ष्यमें मन, एकतानता और मैं तटस्थ-कूटस्थ द्रष्टा साक्षी और कहाँ ये संकल्प-पर-संकल्प? संकल्प परम्परा? तो अपने गुरुजीके पास चला गया।

गुरुजीने बात सुनी और कहा कि—'बाबा! ये जो 25 रुपये हैं न, तुम्हारे पासमें ये बड़े कीमती हैं, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं! इनसे भण्डरा हो सकता है, कपड़े खरीदे जा सकते हैं, दवाई बँट सकती है। तुम्हारी महत्त्वबुद्धि साक्षी होकर बैठनेमें है कि तुम्हारी महत्त्वबुद्धि पैसोंमें है? तो देखो, छूना नहीं अपने हाथसे पैसोंको।' चाँदीके रुपये! 'ले जाकर गोबर डालो उनके ऊपर और गोबर डालकर उनको कस लो और कसकर गंगाजीमें डाल दो।' और उसके बाद ध्यान करने बैठो!

अब महाराज जो गुरुजीकी आज्ञासे ज्यों उन रुपयोंको गंगाजीमें डाला, और ध्यान करने बैठे, वह निर्द्वन्द्व ध्यान लगा! देखो! पैसोंकी जो समस्या आगयी थी, वह छूट गयी। इतना ही नहीं, वह जो गुरुजीकी आज्ञाका पालन किया, उससे अहंभावका उदय नहीं होता। यदि वह अपने मनसे रुपयोंको फेंकते तो—'हमने रुपयोंको फेंक दिया'—इसका अहंभाव उसके मनमें आ जाता। और अहंभाव आ जानेपर फिर ध्यान आदि नहीं लगता। फिर अपने कर्तृत्वपनेका, अपने त्यागीपनेका ध्यान होता, कि 'मेरे जैसा त्यागी और कौन है, जिसने आये हुए रुपये फेंक दिये?'

तो ये जो बाहरकी वस्तुओंके प्रति महत्त्वबुद्धि है, आकर्षण है, यह ध्यानमें बाधक है। अब समझो कि किसीके मनमें अनेकताका ध्यान आता ही रहता है तब यह किया जाता है। जैसा कि मैंने 'पूर्वमीमांसा'में बताया, जब फल अनेकात्मक होता है, फल अनेकात्मक क्या होगा?

जैसे इन्द्रका सिंहासन मिल जाय। इसके लिए इन्द्रका अनुग्रह चाहिए। और अप्सराएँ मिल जायँ, इसके लिए कामका अनुग्रह चाहिए। ये देवता हैं सब और वहाँ अमृत-पान करनेके लिए मिले, इसके लिए वरुणका अनुग्रह चाहिए। और वहाँ नये-नये दृश्य देखनेको मिले, इसके लिए सूर्यका अनुग्रह चाहिए। तो जिसको अनेकात्मक फलकी आवश्यकता होती है, उसको अनेक देवताओंकी आराधना और अनेक प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं।

अब देख लो, आपके मनकी क्या दशा (कल्पना) है? तो वहाँसे ऊपर उठो। बोले—महाराज! हम ऊपर उठना चाहते हैं, परन्तु मन बार-बार चला जाता है।' तो इसमें एक तो चाहिए अपनी ओरसे सावधानी। आप अवधानी हो जायँ, अवधानी। यह 'अवधानी' शब्द भी संस्कृतभाषाका ही है। आप उसको गड़बड़ाना मत! जैसे राजधानी है न, राजधानी! यह 'धानी' है। धानी संस्कारधानी, वैसे अवधानी अवधान प्रधान। तो महत्त्वर्थाय प्रत्यय करेंगे तो 'इनन्त' शब्द बनेगा। नहीं तो अवधानी शब्द बनेगा।

अवधान हो आपके चित्तमें, अपनी ओर से हों सावधान! बोले—'महाराज! कितना भी सावधान होकर बैठते हैं, परन्तु फिर भी प्रमाद आ जाता है।' प्रमादी-पुरुष ध्यान नहीं कर सकता।

'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।'

प्रमादका नाम है मृत्यु। जैसे हम वेदान्तीलोग अज्ञान और भ्रान्तिका नाम लेते हैं न! अज्ञान और भ्रान्तिसे जीव फँस गया है। वैसे जैनदर्शनमें प्रमादका नाम लेते हैं। केवल प्रमादसे अप्रमाद माने जागरूकता, सजगता। जैनधर्ममें अप्रमादको ही, सजगताको ही साधनकी सबसे ऊँची स्थिति मानते हैं। सजग रहो। सजग रहो! कोई तुमको पकड़ न ले जाय। किसीमें तुम गिर न पड़ो। सजग रहो, अपनी जगहपर बैठे रहो। तो

असम्प्रमादेन यमेन वाचाम्।

ऋषभदेवने कहा—असम्प्रमादेन-अप्रमादको 'अप्पमाद' बोलते हैं। बोले—'भाई, फिर भी अप्रमादता नहीं आती है। यह दो नम्बरकी बात आप सुनो।

दो नम्बरकी बात यह है कि यदि आपसे स्वयं यह काम न होता हो तो आप मदद लीजिये। मदद किससे लेंगे? जो आपसे ज्यादा शक्तिशाली हो, उससे मदद लेंगे। ईश्वरसे प्रार्थना कीजिये। जीव एक देहमें बैठा हुआ है। और ईश्वर सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें बैठा हुआ है। जैसे कोई पानीमें बहते-बहते विवश हो गया हो और लकड़ीका सहारा मिल जाय तो सहारेसे पार उतर जाता है। ऐसे इस विश्वसृष्टिमें ईश्वरका सहारा मिल जाय तो मनुष्य उसका आलम्बन लेकर पार हो जाता है।

हमको कई बार ऐसा मौका पड़ा है। एक बार गंगोत्री आये गये। बीचमें कई जगह सड़कें ऐसी टूट गयी थीं कि बिलकुल थीं ही नहीं। सड़क नामकी चीज ही नहीं थी। बिलकुल रास्ता नहीं था। बिलकुल भीत बराबर। तो उसमें गाँवके लोगोंने गड्ढा कर दिया बराबर और भीतमें पाँव डालकर वह जो गड्ढा था उसमें पाँव डालकर फँसाया। दूसरेमें फँसाया, तीसरेमें फँसाया। आगे-पीछे दो-तीन पहाड़ी खड़े हो गये। उन्होंने हाथ सम्हालकर हमको पार कराया। 'धरासू'के पास ऐसा तीन-चार बार करना पड़ा। तब हम गंगोत्री गये। तब हम स्वयं चढ़ भी नहीं सकते, सड़क भी नहीं है, और जरा-जरा-सी जगहपर पाँव फँसाकर जाना है, तो वहाँपर आवश्यकता पड़ गयी जानकार पहाड़ी लोगोंकी। उन्होंने हमको सम्हालकर इधरसे ऊपर कर दिया। कहीं दस गज ऐसा था, कहीं पाँच गज ऐसा था। उनका सहारा लेकर पार हो गये। तो जहाँ मनुष्यकी अपनी शक्ति नहीं चलती है, अपनी बुद्धि नहीं चल सकती है, वहाँ बड़ोंका सहारा लेनेमें कोई हेठी नहीं है।

उसमें जब तुम स्वयं अपनी समस्याको हल नहीं कर सको तो यह नहीं कि हम किसीके पास नहीं जायेंगे, किसीका सहारा नहीं लेंगे। और

ऐसे कमजोर लोग कभी दुनियामें रहेंगे नहीं। यह कल्पना अगर आप करते हैं यथार्थसे दूर हो जाते हैं। कुछ अशिक्षित रहेंगे, कुछ कमजोर मनके रहेंगे, कुछ पागल रहेंगे, कुछ बच्चे रहेंगे। उनको समझानेकी जरूरत रहेगी।

अब आप जो अपना पन्थ चला रहे हैं, तो पन्थ यदि समझदारों-समझदारोंको छाँट करके चला रहे हैं तो जो समझदार नहीं हैं वे भी समझदारीके अभिमानसे उसमें शामिल हो जायेंगे और उनकी भूमिकाके अनुरूप तो वह पड़ेगा नहीं। इसलिए पटापट गिरेंगे। गिरनेके सिवाय और कोई चारा नहीं है।

अच्छा, तो देखो, सहारा लेना, जिस काममें हम असमर्थ हों उनमें दूसरेकी मदद लेना, यह कोई गिरावटकी बात नहीं है। अब आपको ईश्वरके बारेमें दो-तीन बातें सुनाते हैं। बिल्कुल संक्षेपमें।

एकने आकर कहा कि 'ईश्वर नहीं है।' हमने कहा, 'तेरी खोज पूरी हो गयी, बाबा!'

उसने कहा, 'हमारी खोज तो पूरी नहीं हुई है।' 'दुनियाका सब कण-कण, क्षण-क्षण सब देख लिया?'

बोले कि—'नहीं।' 'सृष्टिकी आदि नहीं देखी, सृष्टिका अन्त नहीं देखा, तो कैसे मालूम हो गया कि ईश्वर नहीं है? और सृष्टिका जो अन्तरंग सत् है उसको भी नहीं देखा तो कैसे मालूम हो गया कि ईश्वर नहीं है?' 'अच्छा अपने चैतन्यस्वरूपका अनुभव भी नहीं हुआ तो कैसे मालूम हो गया कि ईश्वर नहीं है?'

बोले—'हमें किसीने बताया एक विदेशके बड़े भारी वैज्ञानिक थे, एक नास्तिक शिरोमणि थे, उन्होंने बता दिया कि ईश्वर नहीं है और हमने मान लिया।'

'लेकिन जब हम बताते हैं कि ईश्वर है तो तुम मान लो।'

बोले—'नहीं, हम ऐसी अन्धश्रद्धा नहीं करते।'

बोले—'भाई! ईश्वर नहीं है, इसपर तो तुमने अंधश्रद्धा कर ली

और ईश्वर है इसपर अंधश्रद्धा करनेको तैयार नहीं हो! यह तो अन्धकार ही हुआ न?'

तब उन्होंने बात पलट दी—बोले—'महाराज! हमने छान ली सारी सृष्टि और देख लिया सृष्टिकी आदि और अन्त देख लिया और कण-कण देख लिया और क्षण-क्षण देख लिया, ईश्वर नहीं है।'

'बस-बस, ठीक है, जिसने सर्वको देख लिया, वह स्वयं ईश्वर है, सर्वज्ञ है। जब सृष्टिकी आदि देख ली, अन्त देख लिया'—

'ॐ नमो बुद्धाय शुद्धाय।'

सृष्टिकी आदि देख ली और अन्त देख लिया, और कण-कण देख लिया और क्षण-क्षण देख लिया, अन्तरंग जो सत् है उसको देख लिया, स्वरूपभूत चैतन्यको देख लिया। अरे! सर्वज्ञ भूला हुआ है। तू ही तो है ईश्वर। तो जब सर्वज्ञ हो गया तो तू ही तो ईश्वर है। संस्कृतभाषामें सर्वशक्तिमान शब्द गलत है। आपको बता दें। जब वैयाकरण बहुव्रीहिसे काम चल जायेगा न, तो—

'सर्वाः शक्तयो यस्य सा सर्वशक्तिः। सर्वशक्तिः तत् ब्रह्म।'

शंकराचार्य जहाँ-जहाँ प्रयोग करते हैं, सर्वशक्तिका प्रयोग करते हैं। तो बहुब्रीहिसे काम चल जाय तो मत्वर्थीय प्रत्यय करनेकी जरूरत नहीं रहती। यह आजकल हिन्दीमें चलता है न 'सक्षम'—यह भी संस्कृतकी दृष्टिसे गलत है। 'सशक्त' भी गलत है। क्योंकि 'शक्त' कहनेसे ही काम चलेगा। 'क्षम' कहनेसे ही काम चलेगा। वह 'क्षमा'का 'क्षम' नहीं है, वह तो 'समर्थ'के अर्थमें 'क्षम' शब्द है। यह शब्दोंकी बात सुनायी।

तो आप देखो, यदि आपने सबको देख लिया तो सबको देखनेवाला तो सर्वज्ञ है। 'सर्वज्ञ' ही नहीं 'सर्व' और 'ज्ञ' दोनों है। उसमें सर्व और ज्ञ का कोई भेद ही नहीं है। तो सर्वशक्ति जो है, वह तो यह जो विद्युत् और पदार्थ, एकके लिए 'एनर्जी' शब्दका प्रयोग करते हैं और एकके लिए 'मेटर' शब्दका प्रयोग करते हैं। तो यह मेटर जो है, वह

एनर्जी हो जाती है। और एनर्जी मेटर हो जाता है। यही कार्य-कारणका अभेद है। मेटरसे एनर्जी बनती है कि एनर्जीसे मेटर बनता है—यह कार्य-कारण व्यवस्था अनिर्वचनीय है। आदिमें किससे क्या बना यह व्यवस्था नहीं लग सकती। यह तो कार्य-कारण व्यवस्था जो है, वह अनिर्वचनीय है।

परन्तु, इससे पृथक् जो इसका साक्षी है, वही कार्य और कारण, शक्ति और पदार्थ दोनोंके रूपमें वही भास रहा है। यह कार्य-कारण भाव जो है, उसीका नाम शक्ति और पदार्थ है, पदार्थ और शक्ति है।

तो परब्रह्म परमात्मा जो है, वह शक्ति और पदार्थ दोनोंका अधिष्ठान है, दोनोंका प्रकाशक है। दोनोंको आत्माके रूपमें रह करके ही दोनोंको प्रकाशित कर रहा है। इसलिए आपको यदि कभी ध्यान करना हो तो नारायण! समय पर जब तक आप व्यष्टि ज्ञान और व्यष्टि शक्तिसे आबद्ध हैं, तब तक समष्टि ज्ञान और समष्टि शक्तिसे आपको आश्रय लेकरके, सहारा लेकरके, प्रार्थना करके उसके प्रवाहको स्वाभिमुख करना चाहिए।

तो प्रार्थना माने क्या होता है? प्रार्थना माने होता है 'प्रकृष्ट और अर्थना'। जिसको आप सर्वश्रेष्ठ समझते हैं उसको चाहिए, यही प्रार्थनाका अर्थ है। तो ईश्वरसे प्रार्थना भी ध्यानमें सहायक है। यह जब हम लोग बोलते हैं—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।

यह क्या है?

हम असत्में फँसे हुए हैं, आप हमको सत्का अनुभव कराइये। यह प्रार्थना है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—हम अन्धकारमें फँसे हुए हैं। हमको ज्योतिका अनुभव कराइये। यह देखो, पहलेमें यह कहा गया कि आकारसे छुड़ाकरके आकारके अधिष्ठान सत्का अनुभव कराइये। और दूसरेमें कहा गया—अन्धकारसे छुड़ा करके चेतनका, स्वयंप्रकाशका अनुभव कराइये। और तीसरेमें कहा गया—

मृत्योर्मामृतं गमय।

मृत्युसे छुड़ा करके माने दुःखसे, बेहोशीसे छुड़ा करके और अभावसे छुड़ा करके हमको अमृतसे एक कीजिये। और चौथी लाईन ऐसी है महाराज!

'आविराविर्भव आविराविर्भ एधि।'

हमारे सामने प्रकट हो जाओ, प्रकट हो जाओ। अब आप देखो! यह प्रार्थना, जिसको आपने बुद्धिसे सत्य समझ लिया है, उस सत्यके सम्मुख खड़े होकरके आप उससे यह कर रहे हैं कि 'आप हमारे आत्माके रूपमें प्रकट हो जाइये। आत्माके द्वारा सुनिश्चित जो सत् है, सुनिश्चित ज्योति, सुनिश्चित अमृत है और वह आपके सामने परोक्ष हो रहा है। उसकी परोक्षताको मिटा करके आप उसको अपरोक्ष, साक्षादपरोक्ष अपनी आत्मासे एक करनेके लिए अग्रसर हो रहे हैं।

तो आप देखिये—ध्यानमें एक तो बाह्य समस्याओंका चाहिए परित्याग और फिर भी निर्बलता हो तो चाहिए—ईश्वरकी प्रार्थना चाहिए। और फिर भी यदि आपकी अभीष्ट वस्तु हृदयमें प्रकट न होती हो तो बारम्बार उसका नाम लीजिये। नाम जो है, अर्थको अभिव्यक्ति देगा।

ध्यान—'केवल एक ही ध्यान है'—इसीका नाम पन्थाईपना है फिरका परस्ती! ऐसा ही बोलते हैं न? यह दकियानुसी विचार है कि ध्यान केवल एक ही प्रकार होता है। यह संकीर्ण दृष्टिकोण है, मतवादी दृष्टिकोण है, सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण है, 'ध्यान केवल एक ही तरहका नहीं होता है, ध्यान भिन्न-भिन्न प्रकारसे होता है'—

नदिया एक, घाट बहुतेरे।

नदी एक है और घाट बहुतसे हैं। अब आप यदि यह सोचें और चाहें कि हम असम्प्रज्ञात समाधिमें ही स्थित हो जायँ!

आपको नारायण! बस तीन चीजका जो अभाव है, तीन वस्तुका

शून्य आप देख लीजिये। (1) पदार्थकी शून्यता, (2) संस्कार-विकारकी शून्यता और (3) वृत्तिकी शून्यता। आप शून्यका ध्यान कीजिये। शून्यके ध्यानसे असम्प्रज्ञात समाधिका उदय हो जायेगा। यह असम्प्रज्ञात समाधिका साधन है।

'तस्याऽपि निरोधे सर्ववृत्ति निरोधात् निर्वीजः समाधिः।'

(यो. सू. 1-51)

इसी सूत्रका अर्थ है, अभी जो मैंने कहा—पदार्थ शून्य हैं और संस्कार-विकार शून्य हैं और वृत्तियाँ शून्य हैं—इस शून्यका जब आप दर्शन करेंगे, विलक्षणता यही है कि यही शून्य जब आप हो जायेंगे तो बौद्ध ध्यान होगा। और इस शून्यको जब आप देख लेंगे तो योगियोंका ध्यान होगा। और यह शून्य जो है, वह केवल पदार्थ, संस्कार-विकार और वृत्ति-इनका निषेध करनेके लिए अपने स्वरूपमें यह शून्य भी आरोपित ही है, यह भी अपवादकी एक प्रक्रिया है। जब यह निश्चय हो जायेगा, तब आपको वेदान्तका ध्यान लग जायेगा।

'मैं स्वयं शून्य हूँ'—यह बौद्ध ध्यान हुआ। मैं शून्यका द्रष्टा हूँ—यह योगीध्यान हुआ, भला! और यह शून्यता भी मेरे अन्दर—केवल पदार्थ सत्ता, भेद सत्ताका निषेध करनेके लिए मेरे स्वरूपमें आरोपित है। जब उसका अपवाद हो जायेगा, बाध हो जायेगा, शून्यता भी बाधित हो जायेगी तब आप अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें, स्वयं अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें मौजूद हैं।

परन्तु; यह समाधि दशा भी कालिक है। इसलिए समाधिमें और विक्षेपमें जो एक है, वह साक्षादपरोक्ष अपना स्वरूप है। तो ध्यानके लिए यह नहीं। आप कहीं भी यदि संतोष करके बैठ जायेंगे तो बात नहीं बनेगी—यह हमारा क्रान्तिका मार्ग है, प्रगतिशील मार्ग है इसमें असंतोष चिरजीवी हो, भला!

जब तक आपको अपना लक्ष्य प्राप्त न हो जाय, आपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु जब तक रह जाय, तब तक असंतोष चिरजीवी। और

उसको निर्द्वन्द्व मटियामेट करते हुए अपने स्वरूपमें बैठिये। ध्यानकी गति ध्यानके सामने नहीं होती है। ध्यानकी गति सामनेकी ओरसे खिंचकर अपने स्वरूपमें बैठनेकी ओर होती है।

अच्छाजी, तो ध्यानकी बात मूलत: यह है कि आप कहीं भी देखें, इसके लिए साढ़े चार सौ प्रकारके अपवाद जो हैं। हमारे प्रमाणविद् महात्माओंने किये हैं। करीब साढ़े चार सौ प्रकारके हैं, वे मानो वैसे हैं जैसे, देखो, माने कोई वस्तु पीतल सोना दिख रही है। तो प्रमाणाभास से वह सोना दिख रही है और प्रमाणसे पीतल दिखेगी। तो प्रमाणसे प्रमाणाभासका बाध हो जायेगा। तो जैसे, अपनी आँख गलत बता रही है, उसको सही-सही जान लेने पर गलती मिट जायगी।

इसी प्रकार अपनी जो दृष्टि है, वह अपने आपको ही अन्य बता रही है। वह चेतनको ही जड़ बता रही है। वह एकको ही अनेक बता रही है। और वह अविनाशीको ही विनाशी बता रही है। सत्को ही असत् बता रही है। चित्को ही अचित् बता रही है। आनन्दको ही दु:ख बता रही है।

तो, असलमें दुनियामें कोई फेरफार न करके, यह जो दृष्टिमें गलती है, इस गलतीको दूर करना पड़ता है। इस गलतीको दूर करनेके लिए जो वृत्तिके विस्तारका संक्षेप है, उस संक्षेपको ध्यान कहते हैं। वृत्तिके संक्षेपका नाम ध्यान है। ज्ञानके सन्निकट ले जानेके लिए वृत्तियोंके संक्षेपका नाम ध्यान होता है। वेदान्तियोंने इसका दो तरहसे वर्णन किया।

राम, कृष्णके ध्यानकी बात, शिव, नारायणके ध्यानकी बात आपको सायंकाल भारतीय विद्याभवन में सुनावेंगे। वह 'तत्' पदार्थकी प्रधानतासे होता है। और (1) यह 'त्वं' पदार्थकी प्रधानता और (2) 'तत्-त्वं पदार्थकी एकता दो, यह दो चीज है, भला! इसको भी साधारण लोग नहीं जानते हैं।' 'त्वं' पदार्थकी प्रधानतासे ध्यान तटस्थ कूटस्थ, साक्षी, द्रष्टा—यह 'त्वं' पदार्थकी प्रधानता है और यह त्वं

पदार्थ अद्वितीय ब्रह्म है, यह दोनोंकी एकताकी प्रधानता ही तो यहाँ जो मैं सुनाता हूँ वह इन दोनों दृष्टियोंको लेकर। सायंकाल जो सुनाता हूँ, वह 'तत्' पदार्थकी प्रधानताको लेकरके और उसके जो अवान्तरभेद भीतरी विभाग हैं, भीतरी भेद हैं उनको लेकरके।

तो आप ध्यान करना चाहते हैं, बहुत बढ़िया!

परन्तु, यह आप देखिये—इन्कमटेक्स छिपाया, चोरी की—इसको, हम यह नहीं कहते कि वह हित है कि अहित है। उचित है कि अनुचित है, धर्म है कि अधर्म है। यह तो आप किसी धर्मशास्त्रीसे पूछना। जो न्यायके, धर्मके जानकार हैं, उनसे पूछ लेना। हम कोई तुम्हारे पुरोहित नहीं हैं, न तुम्हारे कुल गुरु हैं। हम तो एक बात आपको सुना रहे हैं कि—अब वह चोरी करनेके बाद आप आकर ध्यान करनेके लिए बैठे और चित्त लगा नहीं और विक्षिप्त रहा। आये हमारे पास—'महाराज! आज हम ध्यानमें बैठे तो हमारा चित्त बहुत विक्षिप्त रहा।'

मैंने कहा—'क्या बात है?'

'महाराज! हमको तो इन्कमटेक्सका जो ऑफीसर है, वही-वही दिखता रहा।'

तो अब बोलो, एक स्त्रीको सड़कपर देखकर आये, मनमें विकार आया, कामवृत्तिका उदय हुआ और मनने चाहा कि यह हमको मिल जाय। और उसके बाद ध्यान करनेके लिए बैठ गये। तो बोले कि—'भाई! क्या ध्यान हुआ?'

तो बोले कि—'महाराज! आज तो ईश्वरकी याद ही नहीं आयी।'

'वह स्त्री—स्त्रीकी ही याद आती रही।'

आप ध्यान करनेके लिए यदि तैयार हैं तो बाह्य वस्तुओंको छोड़कर अन्तरवस्तुका ध्यान करोगे न? ध्यानका अर्थ क्या होगा? ध्यानका अर्थ होगा, एक ओरसे मनको हटाना और दूसरी ओर लगाना। या विक्षेपसे हटाना और स्थिर करना। अनात्मासे मन हट जाय और आत्मासे भिन्न अपनेको न दिखावें। हमारी परिभाषाको ध्यानमें रखना।

हमारा मन ऐसी स्थितिमें हो कि द्रष्टा भिन्न करके अपनेको दिखावे ही नहीं वह तो तब दिखावेगा जब मनमें कोई विषय होगा। मनमें कोई वृत्ति होगी, तब तो वह फुरफुरायेगी कि यह देखो—यह स्त्री है और यह स्त्री-आकार वृत्ति है। नारायण, जब मनमें कोई विषय नहीं रहेगा तो—आपको क्या सुनायें? यह बात अबसे पैंतीस वर्ष, बल्कि चालीस वर्ष पहले हमको हमारे गुरुजनोंने बता दी थी कि—'जब अपने ज्ञान स्वरूपमें कोई विषय दिखे तो उसका नाम मन होता है।'

ज्ञानका ही नाम मन होता है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा कोई और नहीं, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है और जब देह या दूसरा कुछ विषयके रूपमें मालूम पड़े तो अपने ज्ञानस्वरूप आत्माका नाम ही मन है। और जब मनमें दूसरी चीज न दिखे तब वह मन आत्मा है। माने आत्मासे अलग, दृष्टासे अलग दृश्य होकरके मन सामने आ ही नहीं सकता। आप समझ लो कि मन दृश्य नहीं है। मन तो बिलकुल द्रष्टा-आत्मा है। कब? जब वह निर्विषय हो। इसलिए वेदान्तियोंने ध्यानकी प्रक्रियाको दो तरहसे किया। (1) एक विक्षेप निवारक ध्यान-प्रक्रिया और (2) एक भ्रान्ति-निवारक ध्यान-प्रक्रिया। विक्षेप-निवारक, ध्यान-प्रक्रिया क्या है?

ध्यानं निर्विषयं मनः।

यह भी दो तरहका होगा—मनमें किसी तरहका विषय न होना, इसका नाम ध्यान है। आपने सुना ही होगा—

स्नानं मनोमलत्यागः ध्यानं निर्विषयं मनः।

एक प्रक्रिया तो यह हुई कि निर्विषय मन। विषय माने जो मालूम पड़ता है, उसका नाम विषय। गोचर=इन्द्रियाँ जिसमें चरती हैं उसका नाम गोचर। गौएँ जहाँ चरें उसका नाम गोचर। तो हमारा मन, मनोवृत्तियाँ, इन्द्रियाँ जिसमें चरती हैं वह गोचर। गोचर माने विषय। तो जब कोई विषय नहीं है, ये दो स्थितियाँ हैं—एक तो आप मनको शुद्ध करनेके लिए उसको निर्विषय बना रहे हैं, यह दूसरी चीज है और

भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाने पर जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखके लिए मन निर्विषय हो रहा है। और एक विषयका बाध हो जानेसे विषयकी प्रतीति कालमें भी मन निर्विषय है।

निर्विषयता तीन प्रकारकी होती है—(1) विषयोंको निकाल करके मनको शुद्ध करनेके लिए-एक। और (2) भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाने पर अब भ्रान्ति-निवर्तक ध्यानकी, ज्ञानकी जरूरत नहीं है। अब तो केवल जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखके लिए निर्विषयता, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए निर्विषयता साधककी। और जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखकी निर्विषयता सिद्धकी। और (3) विषयोंका भान होते हुए भी उनके मिथ्या होनेके कारण निर्विषयता—माने विषयका भान और अभान दोनों अपना स्वरूप, यह सहज स्थिति, यह सिद्धकी स्थिति।

अच्छा, अब इन तीनों बातोंको अलग करो। भ्रान्ति-निवारक जो ध्यान है, उसका क्या स्वरूप होगा? वेदान्तियोंसे आप सुनें कभी तो वे कहेंगे—

अनात्माकार वृत्तितिरस्कारपूर्वक आत्माकारवृत्तिप्रवाही करणम् ध्यानम्।

जो अनात्माकार वृत्ति होती है उसका तिरस्कार करके आत्माकार-वृत्तिका प्रवाह। एक महात्मासे मैंने पूछा—'महाराज! यह ब्रह्माकार वृत्ति क्या होती है? आत्माकारवृत्ति क्या होती है?' तो बोले कि घटाकारवृत्ति क्या होती है?' तो बोले कि 'देखो—घट ज्ञान ही घटाकारवृत्ति है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्माकारवृत्ति है।'

तो इसमें क्या है? भ्रान्ति-निवारण जो सामर्थ्य है, अनात्माकार-वृत्तिका तिरस्कार करके आत्माकारवृत्तिमें और भ्रान्तिका निवारण हो जाने पर फिर उसकी ज़रूरत नहीं है। और विक्षेप-निवारण सामर्थ्य है निर्विषयतामें और विषयके बाधित हो जानेपर उसकी भी आवश्यकता नहीं है। विषयके मिथ्यात्वका ज्ञान हो जाने पर उसकी भी आवश्यकता नहीं है। आपको दुःख कौन दे रहा है? अज्ञान दुःख दे रहा है, तब आप वेदान्तकी भूमिकामें चले गये और विक्षेप दुःख दे रहा है तब आप

साधनकी भूमिकामें चले गये। नहीं तो विक्षेपमें भी तो दुःख कल्पित ही है।

लोग नाचते हैं न संकीर्तन करते हुए, हाथमें झाँझ लेकर बजाते हैं। कोई ढोलक बजाते हैं, मृदङ्ग बजाते हैं। *मुँहमें झोल पेट पर ढोल, हरि हरि बोल।* अच्छा, ये उस समय विक्षिप्त रहते हैं कि समाहित रहते हैं? जो नाचते हैं, गाते हैं, बजाते हैं; विक्षेप तो है ही जब शरीर हिल रहा है, वाणी हिल रही है, मन हिल रहा है, नये-नये शब्द आ रहे हैं तो विक्षेप तो है ही। विक्षेप है परन्तु दुःख नहीं है। तो विक्षेपमें दुःख होता है यह अविचारित कल्पना है। विक्षेपमें दुःख होता ही नहीं है। वह तो अनुकूल विक्षेप होगा तो सुख होगा। स्त्री-पुरुषका मिलन है या नृत्य है या वाद्य है या संगीत है—यह विक्षेप है कि नहीं है?

अनुकूल विक्षेप होगा तो वह दुःखदायी नहीं होगा। तो ज्ञानीका जो विक्षेप होता है न, वह आत्मरूप होनेके कारण अनुकूल ही होता है। इसलिए ज्ञानीका विक्षेप दुःखदायी नहीं होता। जिसका विक्षेप प्रतिकूल है, अपने निश्चयके विपरीत जिनका विक्षेप है, माने द्वैत विक्षेप है, भेद विक्षेप है, उनका विक्षेप दुःखदायी होता है। इसलिए विक्षेपकी निवृत्तिके लिए और भ्रान्तिकी निवृत्तिके लिए ध्यान की दो पद्धति होती हैं।

और, जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखके लिए ध्यानकी पद्धति तीसरी होती है। और सहज स्थिति जो सत्पुरुषोंकी होती है, वह ध्यान नहीं है, वह तो बिल्कुल—

जहाँ जहाँ चलो सोई परिकरमा।
और जो कछु करो सोई पूजा॥

यह ध्यानकी पद्धति होती है। अब इसमें निर्विषयताका ध्यान अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए और निर्विषयताका ध्यान जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखके लिए और बाध हो जानेके कारण प्रपञ्चकी प्रतीतिदशामें भी निर्विषयता—ये ज्ञानके तीन पक्ष हैं। और, आत्माकार वृत्तिका जो

प्रवाह है, वह भ्रान्तिके निवारणके लिए है। भ्रान्तिका निवारण कैसे हो? श्रवण-मननसे? श्रवण करने पर भी भ्रान्तिका निवारण नहीं हुआ। मनन करने पर भी भ्रान्ति निवृत्त नहीं हुई। तो श्रवण और मनन की हुई जो वस्तु है, उस वस्तुमें बारम्बार बुद्धिका जो आरोहण है। एक महात्माने ध्यानका हमको एक बड़ा विलक्षण अर्थ-लक्षण बताया था। लेकिन हम आपको पुरानी भाषामें बोलेंगे, अच्छा, तो भाषा भी आपको सुनकर मजा आवेगा—

'कर्तृत्व-भोक्तृत्वाश्लेषशून्य वासना-संस्काररहित शुद्ध सात्त्विक प्रतीति मात्र। अन्तःकरणमें आत्मवस्तुका जो प्रतिबिम्बन है, उसका नाम ध्यान है।'

तो, हम लोगोंके यहाँ ऐसे है। जैसे कानूनमें एक शब्द छूटे नहीं, और एक शब्द बढ़े नहीं। तो—'कर्तृत्व-भोक्तृत्वाश्लेष शून्य वासना-संस्कार रहित शुद्ध सात्त्विक प्रतीतिमात्र अन्तःकरणमें जो आत्मचैतन्यका प्रतिबिम्बन है, उस प्रतिबिम्बमात्रको ही देखना ध्यान है।'

अच्छा, अब कल सुनावेंगे!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 9 :

जैसा रोग होता है वैसे ही योग होता है। जैसे किसीको कोई रोग होता है, तो रोगको जानते हैं, क्या है? किस कारणसे हुआ है? निदान होता है। फिर उसका निवारण कैसे होगा? और रोगकी निवृत्तिके पश्चात् स्वास्थ्य कैसा होगा? रोग, रोगका कारण, रोगका निवारण और स्वस्थता—चार अंग हैं इसके।

ऐसे जो योग हैं न, ध्यान कहो, योग कहो—यह स्वस्थता नहीं है, चिकित्सा है यह। ध्यान दवा है, ध्यान स्वास्थ्य नहीं है। यदि मनुष्यको जिन्दगीभर आँख बन्द करके ध्यान ही करते रहना हो तब तो वह लोक-व्यवहारसे मर गया न! ध्यान कोई ऐसी चीज होनी चाहिए जिससे हमारे लोकव्यवहारमें बाधा न पड़े। और ध्यान हमारे रोगको निवृत्त कर हमको पूर्ण स्वस्थ कर दे। तो ध्यान किसी रोगकी दवा है। यदि रोगी अपने रोगको ठीक-ठीक समझता है, तब तो उसके निवारणके लिए जो औषध है उसका सेवन भी ठीक-ठीक करता है।

और कोई पागल हो, पागल, जो अपने रोगको नहीं समझता है। तो यदि उसको कोई दवा बतावे तब भी नहीं करेगा। अपने मनसे नहीं करेगा और कोई जबरदस्ती उसके मुँहमें दवा ठूँसेगा तो विरोध करेगा। तो योग तो ऐसी दवा नहीं है कि तुम्हारे योगको कोई दूसरा ठूँसे। आजकल योगीजी हिमालयसे तो आते नहीं। दिल्ली, कलकत्ता, मद्राससे ही तो योगीलोग आते हैं। और तुम अपनेको रोगी समझते नहीं। वे तुम्हारे कानमें, दिमागमें ठूँसते हैं कि 'तुमको दवा खानेकी जरूरत है।' अरे बाबा! क्यों खानेकी जरूरत है? तो दूसरा कोई ठूँस-ठूँसकर कोई

ध्यान करावे और आपको तो वह योगी कहीं दिल्ली-कलकत्ताका न हो, तो कहीं अमेरिकाका आया योगी हो तो आप उसकी दवाको ज्यादा कीमती समझोगे। ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझोगे।

तो पहले यदि ध्यानके मार्गमें चलना है तो आप अपने रोगको समझें कि ऐसा कौन-सा रोग है जिसको मिटानेके लिए ध्यानकी जरूरत है? यहाँसे बात शुरू होनी चाहिए।

हम तो आपको कोई भी बात सुनावेंगे, बिल्कुल हिन्दुस्तानी बात सुनावेंगे। अब आप पहले यह जो संसारचक्र है जिसमें मनुष्य ऐसा भटक गया है कि बस, घूम-घूम कर वहीं आ जाता है। चक्र माने चक्कर। तो यह जो संसारका चक्र है, इसमें छह अरे हैं। चक्र माने पहिया होता है। जैसे मोटरमें पहिया है न! जैसे विक्टोरिया यहाँ चलती है तो उसका पहिया होता है। तो उसमें आड़े-आड़े छह 'अरे' लगे हुए होते हैं। गोल-गोल जो होता है, उसके बीच-बीचमें 'अरे' लगे होते हैं।

तो यह जो कालचक्र, कालका पहिया जो घूम रहा है, यह छह अरोंपर टिका हुआ है। वे छह अरे हैं—अधर्म, दुःख और द्वेष तथा धर्म, सुख और राग। इन छह अरोंपर यह संसारचक्र चल रहा है। घुमानेवाली नेतृ तो है अविद्या। वह इस चाकको घुमाती है। धर्म करेंगे तो सुख होगा। यह बात आप बिलकुल पक्का समझ लीजिये कि आप अपनेको जितना सम्हालकर चलायेंगे, उतने सुखी रहेंगे। यह संसारकी माया है। यदि आप अपनी इन्द्रियोंको स्वच्छन्द भोग करनेके लिए और कर्म करनेके लिए और बोलनेके लिए और संग्रह करनेके लिए बिलकुल स्वच्छन्द छोड़ देंगे, तो पदे-पदे, कदम-कदमपर आपको चोट खानी पड़ेगी।

यह पत्नी पतिसे नाराज इसीलिए रहती है या पति पत्नीसे नाराज इसलिए रहता है कि उसकी जबानपर लगाम नहीं है। उसके हाथ-पाँवमें पकड़ नहीं है। उसके संग्रह-परिग्रहमें कोई मर्यादा नहीं है। तो इस

संसारका जो चक्र चल रहा है, इसके छह अरे हैं। अब इसमें हम कैसे फँसते हैं ? तो हम धर्मात्मा हैं, हम सुखी हैं और सुखसे होगा राग तो फिर सुख मिलना चाहिए। तो फिर वही काम करेंगे। तो धर्म, सुख, राग—राग, धर्म-सुख। तो ये जो यज्ञयागादि करनेवाले धर्मात्मा हैं, वे भी संसारके चक्करमें हैं, वे यज्ञ धर्मरूप करेंगे उनको उससे स्वर्गादि रूप लौकिक-पारलौकिक सुख मिलेगा। उसमें राग होगा, फिर धर्म करेंगे, फिर फँसे रहेंगे।

इसी तरहसे जो अधर्म करनेवाले लोग हैं, उनको क्षणिक सुख भले ही मिल सकता है, लेकिन बादमें दुःख ही मिलेगा। आप लोग अपने-अपने परिवार, पास-पड़ोसकी बात जानते होंगे। लेकिन हमारा यह ख्याल है कि संसारके बारेमें जितनी जानकारी हमको मिलती है, उतनी जानकारी आप लोगोंको शायद न मिलती हो। क्योंकि आपके एक-दो-चार परिवारसे सम्बन्ध हैं, हमारे हजारों परिवारके साथ सम्बन्ध हैं।

पतिके कहनेसे पत्नी अधर्म करती है; पतिके कहनेसे पत्नी चोरी कर ले, या पतिके कहनेसे दूसरे पुरुषके साथ सहवास कर ले ऐसे-ऐसे पति भी होते हैं। न होते हों सो बात नहीं है। और किसीकी हत्या कर दे पत्नी, पतिके कहनेसे। तो उस समय तो पति 'वाह-वाह' कर लेगा, खुश हो जायेगा कि—'बड़ी आज्ञाकारिणी पत्नी है।' लेकिन बादमें उसी पतिके मनमें अपनी ही पत्नीके प्रति यह शंका होती है कि जैसे हमारे कहने पर किया, वैसे हमारे न कहने पर हमसे छिपा कर भी करती होगी।

और यह भी हमको मालूम है तो आप अधर्म करके थोड़ी देरके लिए सुख, सुख नहीं सुखाभास प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन बादमें उससे दुःख प्राप्त होगा। और दुःख प्राप्त होने पर दुःख देनेवालेसे द्वेष होगा। दुःखकी क्रियासे द्वेष होगा और द्वेष होनेके कारण फिर अधर्म करेंगे, हिंसा करेंगे और फिर दुःख होगा और फिर द्वेष होगा। यह धर्म, सुख

और राग, अधर्म, दुःख और द्वेष ये छह जो हैं, ये संसार-चक्रके 'अरे' हैं, अरे!

अब देखो, हम ध्यानकी बात करने जा रहे हैं। इसलिए इसमें धर्म, धर्मका फल और राग—उनको भी उसी अविद्याके अन्तर्गत वर्णन कर रहे हैं। अधर्म, दुःख और द्वेष, धर्म, सुख और राग ये छहों अविद्याके द्वारा अपने आपमें आरोपित हैं, एक बात।

अविद्या माने आप यह मत समझना कि वह कोई पोथीमें होगी कि कोई योगियोंको लगती होगी। अविद्या माने वही चीज जो आप लोगोंके जीवनमें लगी हुई है। अविद्या माने बेवकूफी, अविद्या माने नासमझी, अविद्या माने भ्रान्ति, अविद्या माने उलटी समझ—इसका नाम होता है अविद्या तो नासमझीसे ही आप धर्मी हैं। नासमझीसे ही दुःखी हैं। नासमझीसे ही रागी हैं और नासमझीसे ही आप अधर्मी हैं आप दुःखी हैं और नासमझीसे ही द्वेषी हैं। इन छहोंके मूलमें अविद्याको हेतु बोलते हैं, संसारका हेतु। और, इस हेतुका फल क्या होता है कि आपको अपने राग-द्वेषके अनुरूप और वाञ्छित सुख-दुःखके अनुरूप बारम्बार शरीरकी प्राप्ति होती रहती है। जैसे क्रोध आने पर आपका यही शरीर उग्र हो जाता है और काम आने पर आपका यही शरीर उत्तेजित हो जाता है। इसी प्रकार कामवासना, क्रोधवासना, लोभवासना आने पर अन्तःकरणकी शकल बदल जाती है। इस शरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है और उसी भावके अनुरूप शरीरकी प्राप्ति हो जाती है।

तो यह बात दूसरी हुई कि जबतक आपके जीवनमें हेतु रहेंगे, तबतक आपको फलकी प्राप्ति होती रहेगी और ये हेतु और फल दोनों रहते कहाँ हैं? इनका आश्रय है मन। अन्तःकरणमें रहते हैं। और, इनका आलम्बन क्या है? विषय, हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन और इन्हींको 'मैं और मेरा' समझ करके यह जीवात्मा कभी विषयदुःखसे दुःखित होता है, कभी मानसिक दुःखसे दुःखित होता है। कभी शरीरकी

अनिष्ट अवस्थासे दुःखी होता है और कभी धर्म-सुख-रागसे दुःखी होता है। और कभी अधर्म-दुःख-द्वेषसे दुःखी होता है। सबके मूलमें अविद्या बैठी हुई है। आपको इस रोगका अनुभव है कि नहीं है?

माने यदि रोगी स्वयं समझे कि हमको कोई रोग लगा हुआ है, तो उसकी चिकित्सा करनेके लिए जायेगा। एक दवा बेचनेवाले होते हैं जो आपके गाँवमें आते हैं और सड़क पर दवा बिछा देते हैं और डमरू बजाते हैं। बढ़िया-बढ़िया व्याख्यान देकर लोगोंको इकट्ठा करते हैं और कहते हैं कि यह दवा ले जाओ। तुम्हारा यह रोग दूर हो जायेगा। आज नहीं है तुम्हारे घरमें तो क्या? कभी बिच्छू डंक मारे तो लगाना। कभी आँखमें धुंध मालूम पड़े तो आँखमें डालना। ऐसे महाराज, लखनऊके नवाबी जमानेका ध्वंसावशेष जो है, वह महाराज सड़कपर खड़े होकर महाराज, वह लच्छेदार भाषामें, वह चुटकुले और वह कहानी—अमुक नवाब साहबको बुखार हो गया था; यह जो हमारे हाथमें जड़ी है, इसे उनकी एक आँखमें छुआ दी गयी तो उनके आधे शरीरका बुखार उतर गया। किसी डॉक्टरकी दवाईसे जब बुखार नहीं उतरा तब यह जड़ी दूसरी आँखोंमें भी छुआ दी गयी और बुखार उतर गया। वही जड़ी लेकर मैं आपके शहरमें आया हूँ। और महाराज, आप उसको खरीद कर ले लेंगे। आपको जब कभी बुखार आवेगा। और आप उसको लगावेंगे आँखमें तो आधे शरीरका बुखार दूर नहीं होगा। लेकिन वह आदमी तो पैसा बना कर चला गया। तो यह जो तारीफ सुन कर-कहानी—

साखी-शबदी-दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेदपुरान॥

गोस्वामी तुलसीदास

कोई सुख होता है अभिमानसे, कोई सुख होता है अभ्याससे। आप गिन लेना ये चारके बाहर दुनियामें और कोई सुख नहीं होता। तो धर्म और सुख और सुखसे राग और अधर्म और दुःख और द्वेष। ये

आपके जीवनमें भरे हुए हैं और इनके कारण आपके जीवनमें चढ़ाव-उतार इतने रागद्वेष, इतना हँसना-रोना आता है और सब ये आपके मनमें भरे हुए हैं, और ये विषयोंके द्वारा आते-जाते मालूम पड़ते हैं। तो इस अविद्याके परिवारसे, संसारसे सम्बन्ध टूटनेके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने आत्माको इनसे निराला, इनसे तटस्थ इनसे कूटस्थ जानें।

धर्म, सुख और रागके साथ अधर्म, दु:ख और द्वेषके साथ आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। और ये जो आकृतियाँ बदलती रहती हैं, इनके साथ भी आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। और जिस अन्त:करणमें से ये आकृतियाँ और वृत्तियाँ उदय होती हैं, उन अन्त:करणकी वृत्तियोंसे भी आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। और, जो विषय इसमें वृत्तियोंको अलग-अलग बनाते रहते हैं, उन विषयोंके साथ भी आपका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस असम्बन्धका जो ज्ञान है—अविषयका ज्ञान दूसरा है और असम्बन्धका ज्ञान दूसरा है। इस असम्बन्धका जो ज्ञान है कि इन बातोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, वह ज्ञान संसारकी निवृत्तिकी ओर ले जाता है।

अभी हम परमार्थका ज्ञान, ब्रह्मका ज्ञान, अद्वितीयताका ज्ञान—इसको अलग छोड़ देते हैं। क्योंकि ध्यान परम्परावाले जो हैं वह अद्वय ज्ञानके उस महत्त्वको उतना स्वीकार नहीं करते हैं। वे तो यही कहते हैं कि हमारे अन्दर ध्यान-निष्ठा होनी चाहिए। यह असलमें परम्परा ही दो हैं—एक ज्ञानपरम्परा-वाले ध्यानकी महिमाको उतना स्वीकार नहीं करते। ज्ञानपरम्परा वेदान्तियोंकी है। उसमें वे ध्यानको उपयोगी तो मानते हैं। परन्तु ध्यानके बिना ज्ञान होगा ही नहीं, ज्ञानको ध्यानके पराधीन वेदान्ती नहीं मानते हैं। हमारा वेदान्तसे मतलब उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता—हमारी भारतीय संस्कृतिमें वेदान्तके नामसे प्रसिद्ध जो सिद्धान्त है, उससे हमारा मतलब है। अगर विलायतमें कोई

न्यायदर्शनको या योगदर्शनको ही वेदान्त कहता हो, केवल विवेकको ही ज्ञान कहता हो, केवल शान्तिको ही वेदान्त कहता हो, तो वह कोई दूसरी परम्परा होगी।

भारतीय परम्परामें शंकराचार्य जिसको वेदान्त कहते हैं, रामानुजाचार्य जिसको वेदान्त कहते हैं, माधवाचार्य, निम्बाकाचार्य बल्लभाचार्य, हमारे सब शैवशक्तिके आचार्य जिस वस्तुको वेदान्त कहते हैं, वह वेदान्त ज्ञानके लिए ध्यानको उपयोगी मानता है। परन्तु; जैसे बापके बिना बेटा नहीं हो सकता, वैसे ध्यानके बिना ज्ञान नहीं हो सकता—इस बातको हमारा वेदान्त सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। वह कहता है, 'हाँ, ठीक है, ज्ञानके लिए यदि मन इधर-उधर चंचल रहेगा, अनेक प्रकारके विचार रहेंगे, अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ होंगी तो ज्ञान होनेमें सहायता कैसे मिलेगी? ज्ञान होनेके लिए तो एक अज्ञातज्ञापक जो बुद्धिसे, मनसे, इन्द्रियोंसे जो चीज नहीं जानी जा सकती, उस वस्तुका ज्ञान करानेवाली एक वस्तु चाहिए।'

अच्छा, तो अभी हम उस प्रसंगको बिल्कुल छोड़ देते हैं। असम्बन्धका जो ज्ञान है और उस असम्बन्धमें जो स्थिति है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

दृष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थित होना माने दृष्टाका दृश्यसे तादात्म्य न होना 'वृत्तिसारूप्यं इतरत्र'। यदि द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं होगा तो वह किसी-न-किसी वृत्तिमें स्थित हो जायेगा। और वृत्तिमें स्थित हो जायेगा तो अपनेको या तो—'स्थिर हूँ'—यह संवित् होगी, या तो 'तटस्थ हूँ'—यह संवित् होगी। या तो 'मैं कूटस्थ हूँ, दृष्टा हूँ, साक्षी हूँ'—यह संवित् होगी। नारायण! तो तत्त्वज्ञानके पूर्व एक भूमिकाके रूपमें स्वीकार करके हम इस ध्यानके सम्बन्धमें आपको सुनाते हैं।

ज्ञानका, विवेकका फल है ध्यान। आप यह देखना। विवेकज्ञान माने दो चीज हैं, उनको आप अलग-अलग कर दीजिये और एक

वस्तुको ही देखिये, दूसरी वस्तुको मत देखिये। इसका नाम होगा ध्यान, भला! और एकमें बैठिये और दूसरीको छोड़ दीजिये, तो दूसरेको छोड़ना और एकमें बैठना—इसका नाम होगा ध्यान। और दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है, यह ज्ञान होकर यहाँ यों भी वाह-वाह है—यहाँ यो भी वाह-वाह है, जीवनमें यह विलक्षण सुखका उदय हो जाना एक दूसरी चीज है। तो आओ, आपको ध्यानके मार्गकी बात सुनाता हूँ, जिसमें आप एकको छोड़कर दूसरेमें बैठते हैं।

अलक्ष्यको छोड़कर लक्ष्यमें बैठते हैं। जो आपके जीवनमें आपका प्राप्तव्य नहीं है, उसको छोड़ दीजिये और जो जीवनमें आपका लक्ष्य है, उसमें स्थिर हो जाइये।

'तत्रैकतानता ध्यानम्।'

'तत्र लक्ष्ये एकतानता।'

अभी 'ध्यान' शब्दका प्रयोग भी हम परम्परा-प्राप्त जो है न, माने 'ध्यान' शब्दका प्रयोग जिस अर्थमें किया जाता है, उस अर्थमें कर रहे हैं। अगर कोई महाराज, ज्ञानका ही नाम ध्यान रख ले तो उसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है। ब्रह्मका एक नाम ध्यान है। ईश्वरका एक नाम ध्यान भी है। समाधिका एक नाम ध्यान भी है। तो अपनेको कोई आपत्ति नहीं है। तो अब यह ध्यान कैसे लगे?

ध्यानके बारेमें पहले एक बात जान लो कि देवता और जन्मसिद्ध—दो प्रकारके जो पुरुष होते हैं, उनको ध्यान लगानेके लिए किसी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है। देवताका शरीर स्थूल पंचभूतका बना हुआ नहीं होता। वह तो भूत सूक्ष्मका बना हुआ होता है। जैसे हमारा मन है। जैसे हमारे मनको शब्द सुननेके लिए कान बनना नहीं पड़ता। मनमें सुननेकी ताकत है। स्पर्श करनेके लिए त्वचा नहीं बनना पड़ता। इसी प्रकार जो देवता होता है, उसके मनमें समाधिका ख्याल हो जाय तो समाधि और विक्षेपका ख्याल हो जाय तो विक्षेप। ख्याल ही देवता है, प्रत्यय ही देवता है। तो यदि देवताको ध्यान लगाना हो तो

उसके मनमें ध्यानका ख्याल हुआ और लग गया। और, जो जन्मसिद्ध है, उसके मनमें ध्यानका ख्याल हुआ और लग गया। यह बड़ी उपयोगी और बड़ी आवश्यक बात है। इसको आप समझो।

असलमें मन न लाल होता है, न काला, न पीला। मनमें रंग नहीं होता है, लेकिन जब मनको एकाग्र करने लगते हैं, तो उसमें रंग भी दिखायी पड़ता है। 'वृहदारण्यक उपनिषद्' में मनके रंगोंका वर्णन है। ऐसे लिखा है कि—'जैसे सफेद भेंड़ होती है ऐसा रंग होता है मनका'—ऐसा वर्णन है।

तो अब देखो—असलमें वह है क्या? मनका रंग नहीं होता। मनमें रंगका ख्याल होता है। तो एक तो मनमें काला, लाल, पीला रंग नहीं होता और एक आकृति—मनकी आकृति वानर शरीरकी है कि कौआ शरीरकी है? हंस सरीखी है कि गाय सरीखी है? स्त्री सरीखी है कि पुरुष सरीखी है?—यह आकृतिका भेद हुआ न! तो न मनमें लिंग भेद है कि न आकृति-भेद है। और न जाति-भेद है। मन ही स्त्री, मन ही पुरुष, मन ही बन्दर, मन ही पशु, मन ही पक्षी। यह क्या बात है?

असलमें मनमें कोई कर्म भी नहीं है। मनकी उम्र भी नहीं होती कि बच्चा है, और मन जवान है, और मन बुड्ढा है। तो मन में उम्र नहीं है, रंग नहीं है, आकृति नहीं है, जाति नहीं है, वजन नहीं है और कितना लम्बा-चौड़ा होता है, दिक् भी नहीं है। काल भी नहीं है उसमें।

यह तो सबका, जिसका ख्याल करो वही है। तो मन है क्या? एक ओर कहेंगे, बुद्धि भी मन ही है, भय भी मन ही है, आपने उपनिषद्में पढ़ा होगा—

'ह्रीर्धीर्भिः इत्येतत् सर्वं मन एव।'

यह सबका मन ही है।

'अज्ञानं विज्ञानं संज्ञानं प्रज्ञानं इति एतत् सर्वं विज्ञानस्य नामद्येयानि भवन्ति।'

ये सबके-सब नाममात्र हैं, ये सब मन ही है। तो उपनिषद्में बताया कि मन न कहीं भीतर रहता है, न कहीं बाहर। इतना, आपको व्याकुल करनेवाली, इतनी आपको तकलीफ देनेवाली यह चीज न कहीं शरीरके भीतर है और न कहीं शरीरके बाहर है। यह देखो वेदान्त—

'न बाह्ये नाऽपि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।'

मन नामका एक सत्य पदार्थ नहीं है। न बाहर, न भीतर। तो यह क्या है? आपके ज्ञानस्वरूपमें अर्थाभास है, अर्थ-प्रतिभान है, इसीका नाम मन है।

'यदर्थ-प्रतिभानं तन्मनः इति अभिधीयते।'

अच्छा, अब आप इसका नतीजा देखिये। आपका मन कहाँ है? क्या है? आपको जो दीख रहा है, वही आपका मन है। आपको क्या दीख रहा है? स्त्री। नहीं, स्त्रीके रूपमें आपका मन दीख रहा है। आपको क्या दीख रहा है? पुरुष। पुरुषके रूपमें आपका मन दीख रहा है। आपको क्या दीख रहा है? मिट्टी, पानी, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा—ये मनके होने पर दीखते हैं और मनके न होने पर नहीं दीखते हैं। इसलिए मनके साथ समग्र संसारका अन्वय-व्यतिरेक है। जब मन जागता है, तब दुनिया दीखती है। जब मन सोता है तब दुनियाँ नहीं दीखती है। इसलिए आप अपने मनको पहचानिये।

आपका मन क्या है? जो आप देख रहे हैं वही आपका मन है। आप देवता देखिये तो आपका मन देवता। चुटकी बजाते आप देवता हो जायेंगे। आप दैत्य देखिये, आपका मन दैत्य। आप दुश्मनको देखिये तो आपका मन दुश्मन और आप दोस्तको देखिये तो आपका मन ही दोस्त। यह संसारके रूपमें केवल आपका मन दिखायी पड़ रहा है। कुछ झगड़ेकी बात ही नहीं है। इसका फल यह होता है—

'भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।'

जो विदेह होते हैं माने जो देवता होते हैं और जो मृत्युके पूर्व

प्रकृतिमें लीन हुए समाधिस्थ पुरुष होते हैं, वे जब जन्म लेते हैं, तो 'भवप्रत्ययः'—जन्मसे ही उन्होंने ख्याल किया—हमको समाधि दीख रही है और उनको समाधि दीखने लगती है। इसीको कहते हैं, आँख मींचनेमें तकलीफ है, समाधि लगानेमें तकलीफ नहीं है। फूलको मसलनेमें तकलीफ है, समाधि लगानेमें तकलीफ नहीं है। क्योंकि असलमें यह विक्षेप भी एक ख्याल है और समाधि भी ख्याल है आप समाधिका ख्याल कीजिये, समाधि है।

एक आदमी जब उसका मन बढ़िया होता है तो हमको देखता है कि इनका बड़ा प्रेम है। ये हमारे बड़े हितैषी हैं। ये हमारा भला चाहते हैं। और, जब उसका मन बिगड़ता है, तो यह देखता है कि ये हमारे दुश्मन हैं। ये हमारा नुकसान करना चाहते हैं। ये हमें दुःख पहुँचाना चाहते हैं। हम वही-के-वही हैं। जो कभी दुश्मन समझकर दुःखी हो लेता है और कभी हितैषी समझ कर सुखी हो लेता है।

आप ध्यानके बारेमें इस बातको समझिये। ध्यान लग जायेगा। आप अपने मनको ध्यानमें देखिये। ध्यान लग जायेगा। आप अपने मनको समाधिमें देखिये। आप जानते हैं, समाधि कैसी होती है? जरा मन-ही-मन समाधिको टच कीजिये, आपकी समाधि है। और मन-ही-मन महाराज, दुश्मनको टच कीजिये, आपका मन बिलकुल शत्रु-आकार दिखायी पड़ने लगेगा। यह ध्यानका इतना बड़ा रहस्य है। इतना बड़ा रहस्य है कि यदि इसको आप समझ लें, आपको ध्यान लगानेमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होगी।

जैसे देवता ध्यानकी कल्पना करते ही ध्यानस्थ हो जाता है, जैसे जन्मसिद्ध पुरुष समाधिकी कल्पना करते ही समाधिस्थ हो जाता है। उसकी कल्पनामें समाधिका निवास है। देवताकी कल्पनामें समाधि और सहजसिद्ध पुरुषकी कल्पनामें समाधि। आप जब जो, जहाँ, जैसा चाहें, वैसी स्थितिका अनुभव कर सकते हैं। तो चाहें तो अभी बैठे-बैठे वैकुण्ठको देख सकते हैं और आप चाहें तो यहीं बैठे-बैठे नरकको देख

सकते हैं। आप कहो तो आपको अभी नरकका ध्यान कराके बता दें और आप कहो तो अभी वैकुण्ठका ध्यान कराकर बता दें। आप शान्तिको देखिये तो आपका अन्तः-करण शान्त है।

बात यह है कि एक आदमीके घरमें गये, तो यहाँ राम-कृष्णके चित्र टंगे हुए हैं, शान्त बुद्ध ध्यान कर रहे हैं। महावीर स्वामी शान्तिमें बैठे हुए हैं। कृष्ण भीष्मपितामहका ध्यान कर रहे हैं। राम अपने नित्यकर्ममें ध्यान कर रहे हैं। और एक ओर घरमें ये जवाहरलाल नेहरू हैं, ये अमेरिकाके राष्ट्रपति हैं, ये रूसके प्रधानमंत्री हैं, उनके चित्र लगे हुए हैं, और नारायण! एक ओर सिनेतारिकाओंके चित्र टँगे हैं। किसी पत्रिकामें कल शर्माजीने देखा पड़ी थी हमारे यहाँ कोई अंग्रेजीकी पत्रिका, बिलकुल नंगे चित्र उसमें, तो वे भी लगे हुए थे।

एक बड़े सेठके यहाँ एक महीना हमको रहना था। तो जब मैं उनके घर गया, तो बड़े-बड़े चित्र जो लगे थे, सबपर पर्दा डालकर बँधवा दिया था। अब देखो, सहज ही मनमें हुआ क्या ऐसे चित्र हैं कि इन्होंने पर्दे डालकर बँधवा दिये हैं? फिर मैंने पूछा तो बताया गया कि बिलकुल नंगे-नंगे, बिना कपड़ेकी स्त्री—उसमें जवान स्त्रियोंके चित्र बने हुए हैं। हाथके आइल पेण्ट (Oil Paint)—क्या बोलते हैं? हाथके बने हुए हैं बड़े-बड़े आदमकद और उसमें सारे अंग दिखाये गये हैं। लेकिन चूँकि मैं उस हॉलमें, उस कमरेमें ठहरनेवाला था, इसलिए पर्दा डालकर बाँध दिये गये हैं। तो देखो, एक कमरेमें हम जाते हैं। उसमें नग्न स्त्री-पुरुषके भी चित्र हैं, उसमें राजा और नेताओंके भी चित्र हैं। उसमें ध्यान लगाये हुए ध्यानस्थ बुद्धके भी चित्र हैं, गौतमके भी चित्र हैं, महावीर स्वामीके भी चित्र हैं।

अब हम जो देखना चाहेंगे, वह हमारी आँखके सामने होगा। तो यह जो विश्वसृष्टि आपको दिखायी पड़ रही है, इसमें सत्त्व भी है, रज भी है और तम भी है। आप तमसे एक होना चाहेंगे तो आपको सब तमस् दिखायी पड़ेगा। आप रजस्से एक होना चाहेंगे, तो आपको सब रजस्

दिखायी पड़ेगा। आप सत्त्वसे एक होना चाहेंगे तो सब सत्त्व दिखायी पड़ेगा। यह ध्यानकी प्रक्रिया है।

विश्वसृष्टिमें सब कुछ है। असलमें साक्षात् परब्रह्म यहाँ है और ईश्वर भी यहाँ है—सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और नारायण। यहीं हिरण्यगर्भ है और यहीं विराट् है और यहीं नरक है और यहीं स्वर्ग है और यहीं वैकुण्ठ है। आप अपना ख्याल किधर देते हैं? आपका तवज्जुह कहाँ है? ख्यालमात्रसे ही ध्यान होता है। आप जिसको देखना चाहते हैं, जिस स्थितिमें पहुँचना चाहते हैं, उस स्थितिकी कल्पनाको आप देखिये। निद्राकी कल्पना करके देखिए आप, समाधि लग जायगी। वैकुण्ठके स्वप्नकी कल्पना करके बैठ जाइये। आप समझ गये न! शिष्टाचार भी नहीं है ऐसा बोलनेका। ये वकील लोग जब जजोंके सामने बहस करते हैं तो यह नहीं कह सकते कि—'जज साहब! आपने यह बात नहीं समझी।' वे ऐसे बोलते हैं कि—'जज साहब! यह बात मैं आपको ठीक तरहसे समझा नहीं सका। हमारे समझानेकी गलती है।' वकील लोग ऐसे नहीं बोल सकते हैं कि 'आपने नहीं समझा।' उनको यह बोलना पड़ता है कि—'हमने ठीक नहीं समझाया।'

परन्तु; आप इस बातपर ध्यान दीजिये, कोई भी संशय जब जीवनमें उठता है तो वह किसीको पहले आधार मानकर ही उठता है। क्या 'मैं नहीं हूँ'—यह मानकर आपके मनमें संशय उठ सकता है? है कोई माईका लाल जो बता दे कि 'असलमें मैं नहीं हूँ? और संशय कर रहा हूँ।' अच्छा, तो किसीसे यह पूछना कि—'मैं हूँ कि नहीं हूँ और संशय कर रहा हूँ।' आप यह पूछ सकते हैं कि—'मैं पहले था कि नहीं था' और, यह भी पूछ सकते हैं कि 'मैं बादमें रहूँगा कि नहीं रहूँगा?' लेकिन 'मैं इस समय हूँ कि नहीं हूँ—क्या यह प्रश्न आप कर सकते हैं? और यह प्रश्न करनेवाला पागल होगा कि नहीं होगा?

तो आत्मसत्ताको स्वीकृति देकरके ही कोई-न-कोई प्रश्न उदय

होता है। तो जब आत्मसत्ताको स्वीकृति स्वयंसिद्ध रूपसे मान करके 'इस समय जो मैं हूँ'—ऐसा जो मालूम पड़ रहा है, 'वह मैं पहले था कि नहीं, और वह मैं बादमें रहेगा कि नहीं?,' देखो, यही श्रद्धाका मूल है। प्रत्यक्ष हो जायगा। तो यह ध्यान और कुछ नहीं है, ध्यान आपके ख्यालका नाम है। जो पाँचभौतिक स्थूल शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' करके नहीं रहते हैं, वे देवताको तत्काल ख्यालमात्रसे ही ध्यानमें—जो जन्मसिद्ध हैं वे ख्यालमात्रसे ही ध्यानमें हो जाते हैं। लेकिन जो लोग पाँच भौतिक शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' करके बैठे हुए हैं, उनका ध्यान कैसे लगे? मुख्य प्रश्न तो यह है न? तो उसके लिए लो, आपको पाँच बात बताता हूँ।

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, एकाग्रता और प्रज्ञा—ये पाँच बातें हमारे जीवनमें आनी चाहिए।

श्रद्धावीर्यस्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वकः इतरेषाम्।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि जो जन्मसिद्ध नहीं हैं, जो देवता नहीं हैं उनको ध्यान करनेके लिए इन पाँचों बातोंको धारण करना आवश्यक है।

'श्रद्धा वीर्यस्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वकः इतरेषाम्।'

'इतरेषाम्' माने देवता और जन्मसिद्धसे जो दूसरे हैं। उनको इन साधनोंको धारण करना पड़ता है। श्रद्धाके सम्बन्धमें इसी सूत्रका भाष्य करते हुए व्यास महर्षि बोलते हैं—

सा हि कल्याणी जननी इव योगिनं पाति।

देखो, यह श्रद्धा क्या है? यह श्रद्धा कल्याणी है और 'जननी इव योगिनं पाति' यह माँकी तरह योगीको अब प्यार देती है, उसको अपनी गोदमें लेकर गर्मी, सर्दीसे बचाती है, उसको दूध पिलाकर संपुष्ट करती है। 'जननी इव योगिनं पाति' माँकी तरह वह साधककी रक्षा करती है और वह परम कल्याणी है।

आप असलमें संशय और जिज्ञासा-इनका भेद नहीं समझते हैं।

आप बुरा मत मानना, बड़े लोग हो। पढ़े लिखे हो। आपके लिए यह कह देना कि आप यह नहीं समझते हो। यह आपकी शानके खिलाफ यहां आत्मतत्त्वको स्वीकृति देना है। स्वीकृति देकर आप उसके स्वरूपके बारेमें एक हजार जिज्ञासा कर लीजिये। जिज्ञासामें और संशयमें अन्तर होता है। जिज्ञासा माने एक चीज है या नहीं है, इसके बारेमें हम जानना चाहते हैं। है तो भी जानना चाहते हैं और नहीं है, तो नहीं पना भी जानना चाहते हैं। जिज्ञासा एक दूसरी चीज होती है और संशय दूसरी चीज होती है।

संशयके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं होती, परन्तु जिज्ञासाके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता होती है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में 'अथ' पदके अर्थमें श्रद्धाका समावेश है। यह बात सब-के-सब वेदान्ती मानते हैं। अच्छा, तो यदि योगाभ्यास करनेसे समाधि लगती हो, इसपर आपकी श्रद्धा न हो, यदि विवेकख्याति होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है, इस बातपर आपकी श्रद्धा न हो, आप कहो कि पहले हम समाधिको देख लेंगे, तब साधन करेंगे, और पहले हम आत्माको मुक्त रूपमें देख लेंगे, तब हम साधन करेंगे—यदि आप ऐसा आग्रह करना चाहो तो क्या आपका साधन आगे बढ़ सकता है? एक कदम भी आपका साधन आगे नहीं बढ़ सकता। तो श्रद्धा ही—

चित्त सम्प्रसादः।

चित्तका जो सम्प्रसाद है, निर्मल!

काकैवाभिशंकी—जैसे कौआ अपनेको चारा देनेवालेके प्रति भी शंका करता है और उड़ने लगता है, वैसे आपका चित्त न होकरके यदि वह सम्प्रसादयुक्त निर्मल होगा तब उसमें ध्यानका आगमन होगा।

श्रद्धा भी दो तरहकी होती है—एक वीर्यवती और एक निर्वीर्य। जिस श्रद्धाके बलपर हम साधन करते हैं, वह श्रद्धा पराक्रमवाली होती है। उस श्रद्धाके बलपर हमें जैसे एक सैनिक चोट खा जाने पर भी, अकेला हो जाने पर भी, लेट जाने पर भी हाथमें बन्दूक लेकर तत्पर है

कि पीछेसे सेनापतिका आदेश आ रहा है कि हमारी रक्षाके लिए सेना आ रही है, और वह बलवान् है।

इसी प्रकार श्रद्धावान् जो पुरुष होता है, जिसकी सेनापर श्रद्धा है सेनापतिपर श्रद्धा है, राजापर श्रद्धा है, उसका आत्मबल विपत्तिकालमें भी, असहायकालमें भी उसका बल बना रहता है। श्रद्धा बल देती है। चलना सिखाती है। जैसे माँ बच्चेको चलना सिखाती है। श्रद्धा कमजोरको दूध पिलाती है, जैसे माँ बच्चेको दूध पिलाती है वैसे ही श्रद्धा उस समय जब साधक हार जाता है, थक जाता है उसे सहारा देती है।

जब समुद्र-मन्थनमें जहर पैदा होता है, देवता और दैत्य सब जब समुद्र मन्थन छोड़ने लगते हैं, तो श्रद्धा विश्वास रूपी गौरीशंकर भगवान् उस विषका पान करते हैं। आपको मालूम है, समुद्र मन्थनमें पहले विष उत्पन्न होता है और विषको देखकर मन्थन करनेवाली प्रजा-साधकोंकी टोली दैत्य और देवता दोनों घबड़ा जाते हैं। और उस समय—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

श्रद्धा और विश्वासके रूपमें भवानी-शंकर प्रकट होते हैं। माने शक्ति और शक्तिमान प्रकट होते हैं। और वे दोनों मदद करते हैं। गौरी सलाह देती हैं कि पी जाओ और शिव उसको पी जाते हैं।

वह जो संशय अप्रवृत्ति निर्वीर्यता है, उसको पीनेवाली यही श्रद्धा है। श्रद्धा साधकको वीर्यवती बनाती हैं। श्रद्धासे आता है वीर्य।

साधनमें लगन, साधनमें पराक्रम, साधनमें बल, तीव्र संवेग, मृदु संवेग, मध्यसंवेग, अधिमान संवेग आता है वीर्यमें। तब क्या होता है कि पर्दे फटने लगते हैं और जब पर्दे फटने लगते हैं, तो जो अपने अन्दर छिपी हुई शक्तियाँ हैं, उनकी स्मृति होती है। माने उनका ध्यान आने लगता है और फिर उनमें तन्मयता होती है। और तन्मयता होनेके बाद प्रज्ञा-माने विवेकख्याति आती है।

तो जिनके मतमें केवल 'त्वं' पदार्थ माने केवल 'मैं' अपने

स्वरूपमें बैठना मात्र जिनका लक्ष्य होता है, उनको इन पाँचों साधनोंसे ही श्रद्धा, वीर्य—वीर्य माने प्रयत्न और स्मृतिका उदय। स्मृतिके उदयसे सम्प्रज्ञात समाधि और सम्प्रज्ञात समाधिसे विवेकख्यातिका उदय और विवेकख्यातिका उदय होनेसे असम्प्रज्ञात समाधि। माने अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। वेदान्ती लोग जो हैं, इन सारी अवस्थाओंको व्यक्तिगत अवस्था मानते हैं, यह आपको मालूम होना चाहिए। व्यक्तिगत अवस्था माने चित्तकी अवस्था मानते हैं।

इस विवेकको भी वेदान्ती चित्तकी अवस्था मानते हैं। सम्प्रज्ञात समाधिको भी चित्तकी अवस्था मानते हैं।

वे कहते हैं, जबतक द्वैतका भ्रम-द्वितीयका भ्रम कटेगा नहीं और अपने अद्वितीय आत्मबोधके बिना जबतक द्वैतकी भ्रान्ति कटेगी नहीं, तबतक यह ध्यान, यह समाधि कभी पूर्ण नहीं हो सकते। तो आप लोग प्राय: हमसे कह देते हैं न कि वेदान्तपर बोलो, उपनिषद्‌की व्याख्या करो।

जगत्‌को बनानेवाला ईश्वर है—इसकी व्याख्या अगर हमसे वेदान्तके माध्यमसे कराना चाहो तो हम वेदान्तको लेकर उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। परन्तु हमसे कह दो कि न्यायदर्शनकी रीतिसे आप बताओ कि इस जगत्‌का कर्त्ता ईश्वर कैसे है? तो हम बिलकुल बिना वेदान्तका स्पर्श किये न्याय-दर्शनकी रीतिसे ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करें, और समाधि कैसे लगती है और समाधि ही लक्ष्य है—यदि यह बात मान कर व्याख्या करनी हो तो वह योगदर्शनकी रीतिसे होती है।

दृष्टा और दृश्यका विवेक जानना हो तो सांख्यदर्शनके अनुसार होता है धर्म और उसके फलका कैसे सम्बन्ध है, यह जानना हो तो मीमांसाकी रीति होती हैं। और, अद्वैत आत्मबोध कैसे होता है, इसके लिए वेदान्तका श्रवण होता है। तो आओ, आपको 'ध्यान और ज्ञान'— विवेक ज्ञान और उसका फल ध्यान और ध्यानसे प्रज्ञाका उदय होकरके

ऐसी प्रज्ञा जिसमें वेदान्त प्रमाणोक्त जो पदार्थ है वह प्रमाके रूपमें प्रतिबिम्बित हो सके और उस प्रमाके द्वारा भ्रमकी—'प्रमाभ्रमाभ्यां रहिते'—प्रमा और भ्रमसे रहित जो पद है, जिसमें न प्रमा है और जिसमें न भ्रम है, जिसमें प्रमाण भी नहीं है और भ्रान्ति भी नहीं है—ऐसा जो अपना पद है, अपना स्वरूप है, और उसमें स्थिति नहीं होती है, साक्षात्कार मात्रसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है।

जिसमें स्थिति होती है, वह या तो कालिक है या देशिक है या तो जिससे स्थिति हटी है, उससे विलक्षण कोई अन्य पदार्थ है। इसलिए ब्रह्मात्मैक्य बोध जो है, वह स्थितिका भी जनक नहीं है।

वह ध्यानका भी जनक नहीं है। वह स्थिति अथवा ध्यानका जन्य भी नहीं है। वह तो केवल शरीरमें लगे हुए मैलको धोनेके लिए जैसे साबुन होता है, साबुन कोई शरीरमें पोते रहनेके लिए नहीं होता है, ऐसा ब्रह्मज्ञान होता है और वह बड़ा विचित्र होता है।

तो अभी हम आपको ध्यानके प्रसंगमें और थोड़ी-सी बात सुनाकर फिर ज्ञानका प्रसंग सुनावेंगे।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

●

: 10 :

आध्यात्मिक संस्कृति चार बातपर मुख्य ध्यान रखती है। (1) हमारे जीवनमें जो दुश्चरित्रता है, वह निकल जाये, (2) जो हमारे मनमें दुर्भावनाएँ हैं, वे दूर हो जायेंगी और (3) यह कि देहमें जो अहंभाव है वह निवृत्त हो जाय और (4) यह कि हमारी बुद्धिमें जो भ्रान्तियाँ हैं, वे निवृत्त हो जाँये। भ्रान्ति, अहंभाव, दुर्भाव और दुश्चरित्रता इन चारोंका खजाना अज्ञान है। तो वह अज्ञान कट जाय।

अविद्या क्षेत्रं इतरेषाम्।

इन पाँचों बातोंको, है तो चार ही। चार व्यावहारिक है और पाँचवाँ इनका अनिर्वचनीय कारण है।

भ्रान्ति, अहंभाव, दुर्भाव और दुश्चरित्रता—ये चारों तो हैं व्यावहारिक और अज्ञान जो है, वह न व्यावहारिक है और न पारमार्थिक। वह तो अनिर्वचनीय है। हम वैदिक संस्कृतिकी दृष्टिसे यह बात आपको सुना रहे हैं।

अच्छा, जिस दिन एक संस्कृतिके अनुसार कोई बात बोलें, उस दिन यदि वह दूसरी संस्कृतिके विपरीत पड़ती हो तो आप उसको बुरा मत मानना। क्योंकि दूसरी संस्कृतिके अनुसार जिस दिन हम बोलेंगे, उस दिन उस संस्कृतिका खुलासा कर देंगे।

तो, पहले ही यह बात ध्यानमें रखो कि पहले हमारे हृदयमें पवित्रता आजायगी तब दुश्चरित्रता मिटेगी—इस भूलको बिलकुल छोड़ दो। पहले दुश्चरित्रता मिटेगी तब पवित्रता आवेगी। क्योंकि दुश्चरित्रता बाहर होती है और पवित्रता भीतर। साधन बाहर होता है और उसका फल भीतर होता है। पवित्रता फल है और दुश्चरित्रताका त्याग साधन है। पहले क्रोध छूट जायेगा तब आप गाली देना बन्द करेंगे—यह साधनकी पद्धति नहीं है। यह देखो, हम वैदिक संस्कृतिकी बात करते हैं। पहले आप गाली देना बन्द करेंगे, तब क्रोध

धीरे-धीरे रास्ता न पानेके कारण बन्द हो जायेगा। यह वैदिक संस्कृतिका साधन-साध्य भाव हैं।

साधन होता है बाहरी जीवनमें और उसका फल उदय होता है हमारे आन्तर-जीवनमें। और जो अपने हृदयकी पवित्रतासे ही दुश्चरित्रताको हटा सकता हैं, वह सिद्धपुरुष है वह महात्मा पुरुष है। वह तो जन्मसे ही सिद्ध होकर आया है। उसके भीतर इतनी पवित्रता है कि दुश्चरित्रता उसका स्पर्श नहीं कर सकती।

अच्छा, अब आपको दुश्चरित्रता सम्बन्धी एक बात सुनाता हूँ। वैदिक संस्कृतिकी यह विशेषता है वह दुनियामें दूसरी जगह ढूँढ़नेपर नहीं मिलेगी। वह क्या है कि वैदिक संस्कृतिमें यह बात सर्वसम्मतिसे स्वीकार की हुई है कि अनुशासन ही धर्म है। यह विचित्र बात है। हम सन् 31 से कांग्रेसके सदस्य रहे हैं—सन् 41में गाँधीजीने कहा—'अनुशासन और विवेक दोनोंसे युक्त जो जनतन्त्र है, वह विश्वका सर्वोपरि विधान है।' तो अनुशासन माने धर्म और विवेक माने ज्ञान। दर्शन और धर्म, यह जिस जनतन्त्रमें रहेगा, वह जनतन्त्र तो सच्चा जनतन्त्र होगा और जो दर्शनको छोड़ देगा और धर्मको छोड़ देगा, वह जनतन्त्र सच्चा जनतन्त्र नहीं रहेगा। यह हमने केवल उदाहरणके लिए उनकी बातकी व्याख्या कर दी।

विवेक माने दर्शन और अनुशासन माने धर्म। आपके ध्यानमें शायद बात आवे या न आवे। अपने मनसे बढ़िया माना हुआ काम, उत्तम-से-उत्तम काम अपने अन्दर अहंभाव उत्पन्न करता है कि इस बढ़िया कर्मकी खोज मैंने की है। यह वस्तु बहुत बढ़िया है, यह मैंने निश्चय किया है। तो इससे वस्तुमें राग-द्वेष और अपनेमें अहंभाव दोनोंका उदय होगा। और यदि वस्तुका बढ़ियापन और घटियापन अनुशासनसे माना जायेगा तो न तो वस्तुमें हमारा राग-द्वेष होगा और न अपनेमें अहंभाव होगा। इसलिए वैदिक संस्कृतिका यह बोलना है कि अनुशासनके बिना धर्मकी उत्पत्ति होती ही नहीं।

हमारा हाथ काम करे, लेकिन अनुशासनमें रहे। हम कहें कि हाथ जोड़ तो जोड़े, हम कहें कि घूँसा तान तो घूँसा तानें। लेकिन हमारे अनुशासन-हमारी आज्ञाके विपरीत यदि हाथ जुड़ता है और घूँसा तनता है, तो दोनोंसे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। अन्तरंग शत्रुके लिए और बहिरंग शत्रुके लिए, स्वराष्ट्रीय शत्रुके लिए और बहिर्राष्ट्रीय शत्रुके लिए घूँसा तनता है शासनके अनुरूप, तो वह धर्म हो जाता है।

आप यही मान लोगे कि हाथ जोड़ना धर्म है और घूँसा तानना अधर्म है, अगर ऐसा मान लोगे अपने मनसे तो वह धर्मकी सच्ची व्याख्या नहीं होगी। इसीलिए कहीं हिंसा भी धर्म होती है। आप लोग अहिंसावादी कट्टर हों तो बुरा मत मानना। वह केवल साधुओंके लिए है। कभी राजाके लिए, कभी सेनाके लिए राष्ट्रकी रक्षाके लिए, गुण्डोंको दबानेके लिए हिंसा भी धर्मके अन्तर्गत उपयोगी होती है। परन्तु हमको हिंसा-अहिंसाकी व्याख्या नहीं करनी है।

हमने तो सामान्य रूपसे यह बात बतायी कि दुश्चरित्रता परित्याग करनेके लिए जीवनका शिष्टानुशिष्ट होना आवश्यक है। शिष्टके द्वारा अनुशिष्ट होवे। जो स्वयं शिष्ट है वही अनुशिष्ट कर सकता है। बोले—'शिष्ट न मिले तो?' बोले—'फिर शिष्टको भी जिसने अनुशिष्ट किया है, उसको देखो।' उसका नाम 'संविधान' होता है। उसका नाम 'वेद' होता है—**शाश्वत-संविधान**।

आगे चलो। अब दुर्भावनाको चित्तसे निवृत्त करना है। दुर्भावना क्या हुकुम देने मात्रसे निवृत्त हो जायगी? शरीरसे हम हुकुम देंगे—'हे काम! तुम निकल जाओ!' 'हे क्रोध! तू निकल जा।' कंसने हाथमें तलवार उठायी और कहा कि—'ऐ नन्दादि गोपो! तुम निकल जाओ! इस सभागारसे।' अब उसके अन्दर कोई ताकत ही नहीं थी। सारी सभा, सारी प्रजा श्रीकृष्णके पक्षमें, सारी मथुरा श्रीकृष्णके पक्षमें। उसके कहनेसे न तो उग्रसेनको बाँधा गया और न वसुदेवको वहाँसे निकाला गया। न श्रीकृष्णको भगाया गया। वह तो सामर्थ्यके बाहर था। तो तुम्हारे

हृदयमें जो काम-क्रोध आदि दुर्भाव बैठे हुए हैं, उनको निकालनेके लिए जबतक युक्तिसे काम नहीं लोगे, तब तक वे नहीं निकलेंगे।

अब तुम कहो कि निकालनेकी जरूरत ही नहीं है, तो कोई बात नहीं है। आप पशुओंके साथ रहिये, चिड़ियोंके साथ रहिये। आदमियोंके साथ रहनेकी क्या जरूरत है? यदि आपको मनुष्योंके साथ रहना है तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, ये जो हमारे जीवनमें पक्षपात और हिंसा—इनकी क्रिया उत्पन्न करते हैं, उनसे बचनेकी जरूरत पड़ेगी।

अच्छाजी, अब युक्ति क्या होगी? युक्ति होगी राग-द्वेषको निकालनेके लिए वस्तुकी समता और आत्माकी समता। तो आत्माके समत्व और दृश्य-वस्तुके समत्वके बीचमें ये दो पाटकी जो चाकी होगी, उसके बीचमें राग-द्वेष पिस जाते हैं। तो सांख्यवादी जो लोग हैं, वे प्राकृत वस्तुके समत्वपर जोर देते हैं और वेदान्तवादी जो हैं वे ब्रह्मवस्तुके समत्वपर जोर देते हैं।

एक बताता है कि सम अद्वय अखण्ड चैतन्य है और एक बताता है सारा व्यवहार प्रकृतिमें प्राकृतमें है। तो राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए यदि आवश्यकता पड़े तो बड़ोंका आलम्बन ही लेना चाहिए। अपने राग-द्वेषका मुँह ईश्वरकी ओर मोड़ दो तो संसारमें राग-द्वेष नहीं होगा।

अब अहंभावकी बात सोचो। तो ध्यान जो हम करते हैं—पहले ध्यान और ज्ञानमें एक बात आप देखो। हम संसारके सब ध्यानियोंको इस ओर आकृष्ट करते हैं। हम लोग जब किसी वस्तुपर विचार करते हैं तो उसमें भूत-भविष्य-वर्तमानकी जितनी मनोवृत्तियाँ हैं, जितने दर्शन हैं, मतकी जितनी स्थितियाँ हैं, उनके सबको ध्यानमें रख करके करते हैं। हमारा प्रत्येक दर्शन सार्वभौम दृष्टिसे और शाश्वत दृष्टिसे विचार करता है। दर्शन भी एक कक्षा है। न्याय-वैशेषिक दर्शनकी एक कक्षा है। सांख्य-योगकी एक कक्षा है। पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसाकी एक कक्षा है।

सप्तानां ज्ञानभूमिनां दर्शनस्याखिलस्य च।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मान करके एक कक्षाके लिए एक, दूसरी

कक्षाके लिए दूसरी, तीसरी कक्षाके लिए तीसरी, ऐसे प्रतिपादनमें भेद मालूम पड़ता है। वस्तुदृष्टि तो सर्वत्र एक है। तो विलम्ब नहीं करते हैं। एक बातपर आप ध्यान दें—हम सहजभावसे आपके पास बैठे हुए हैं। यदि हम ऐसे टेढ़े बैठ जायँ तो घण्टे आध घण्टे, दो घण्टे बैठे रहेंगे। लेकिन फिर ऐसे हो जायेंगे। तो दोनोंमें फर्क क्या हुआ?

एक तो वैसी सहज बैठनेकी आदत है वह और एक हम शरीरसे आसन बाँधकर पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठे हों, इन दोनों स्थितियोंमें आपको फर्क मालूम होता है न? एक बिना किये रहती है और एक करने पर पैदा होती है। यह तो शरीरकी स्थिति हुई न?

अब आप मनको देखिये। मनको क्या आप कभी जानबूझ कर ऐसी खास स्थितिमें ले जाते हैं कि जो आपके रखनेपर तो रहे, न रखनेपर छूट जाय। तो हम आपके ध्यानके बारेमें बताकर नहीं कहना चाहते हैं। आपसे पूछना चाहते हैं कि थोड़ी देरके लिए मनको अमुक स्थितिमें रखना चाहते हैं या नहीं? वह क्या आपके रखनेसे ही उस स्थितिमें रहता है? हम स्थितिका नाम नहीं लेते, भला!

हमारे ऐसे अनेक साधक मित्र हैं जो कहते हैं, 'महाराज! हमारी वृत्ति टिकती नहीं। हम स्वरूपमें टिकते नहीं। बीस वर्ष हो गये करते-करते, अभी समस्या वही-की-वही है।' हमको याद है, हम अपने दरवाजेमें बैठते थे। हमारी सोलह वर्षकी अवस्था थी। हम 'महाभारत' पढ़ रहे थे—'उद्योगपर्व'। तो एक सज्जन आये और उन्होंने पूछा—'महाराज! ये अन्तः-करणके चार भेद कौन-से हैं?' अब उस बातको बीस वर्ष हो गये। अब मैं छत्तीस वर्षका हो गया। संन्यासी हो गया। संन्यासी होनेके बाद मैं बैठा हुआ था, तो वह सज्जन फिर आये और बोले कि—'महाराज! अन्तःकरणके चार भेद कौन-कौनसे हैं?' उन्हें यह याद नहीं था कि बीस वर्ष पहले भी मैंने यही प्रश्न पूछा था। पर हमको याद था कि बीस वर्ष पहले जब ये आये थे तब भी इन्होंने यही प्रश्न पूछा था।

आपका बीस वर्षसे यही प्रश्न है कि वृत्ति टिकती नहीं है। स्थिति जमती नहीं है। हम वहाँसे च्युत हो जाते हैं। आपने बीस वर्षमें अपने मनको अन्तरंग करके उस पर कभी विचार किया है? देखो, असलमें चाहे आप विराट्के अवयवका ध्यान करें, विराट्का अवयव क्या होता है? अवयव माने अंग, एक टुकड़ा। यह चन्द्रमा ईश्वर है, यह सूर्य ईश्वर है, अग्नि ईश्वर है, समुद्र ईश्वर है या मिट्टीकी बनी एक मूर्ति ईश्वर है। क्योंकि मिट्टी विराट्का हिस्सा है। इसलिए मूर्ति भी विराट्का हिस्सा है। शालिग्रामकी शिला हो, चाहे नर्मदेश्वरकी शिला हो, ब्राह्मण हो, गुरु हो, गाय हो। तो चाहे आप विराट्के एक अंशमें पूर्ण ईश्वरका आरोप करके ध्यान करें और चाहे हिरण्यगर्भके एक हिस्सेमें ईश्वरपनेका आरोप करके—'यह वैकुण्ठ है, यह गोलोक है, यह साकेत है, यह स्वर्ग है'—चाहे इसका ध्यान करें और चाहे सम्पूर्ण स्थिति—प्रलयके हेतु कारणभूत चेतन परमेश्वरका ध्यान करें। विराट्के अवयवका ध्यान, हिरण्यगर्भके अवयवका ध्यान, सब परमेश्वर है यह ध्यान। हिरण्यगर्भ ईश्वर है यह ध्यान। और कारणअवस्थामें विराजमान परमेश्वरका ध्यान। चाहे उधर करे और चाहे इधर करे। वितर्क-स्थूल वस्तुका आलम्बन लेकर मनकी एकाग्रता अथवा अस्मिताका आलम्बन लेकर मनकी एकाग्रता, आनन्दका आलम्बन लेकर मनकी एकाग्रता अथवा अस्मिताका आलम्बन लेकर मनकी एकाग्रता—चाहे उधर करें। चाहे इधर करें। इससे हमारा कोई मतलब नहीं है कि आप आत्माकी प्रधानतासे करते हैं कि परमात्माकी प्रधानतासे करते हैं। हमारा कहना तो यह है कि आप जिस चीजको पकड़ते हैं, तो ध्यानकालमें जैसी आप पकड़ बनाते हैं वह पहले थी कि नहीं थी? और, ध्यानसे उठनेके बाद छूट जाती है कि नहीं छूट जाती है? उसका नाम आपने रखा द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति, उसका नाम आपने रखा ब्रह्मके स्वरूपमें स्थिति। तो जो स्थिति आपके बनाये बनती है और छोड़े छूट जाती है, उसका

नाम होता है ध्यान! और आपका अपना आपा जो है, वह न आपके बनाये बनता है और न छोड़े छूटता है—वह है ज्ञानस्वरूप।

ध्यान और ज्ञान। आप अब देखो—हम आपको दोनों में और फर्क बताते हैं। इतना ही फर्क नहीं है। यदि केवल ध्यान-ही-ध्यान जीवनमें रहे तो अधिकारी हमेशा कर्त्ता रहेगा। यहाँ क्रिया पदका प्रयोग नहीं करना। ध्यान जो है, उसका अधिकारी कर्त्ता है। किया और हुआ, किया और हुआ। और नहीं किया तो नहीं हुआ। तो, ध्यान यदि चाहें तो आप करें, यदि न चाहें तो न करें, भला! इसमें आप स्वतंत्र हैं। 'स्वतंत्रत: कर्ता।' कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। दूसरी बात यह है कि आप निराकारका ध्यान करें या साकारका ध्यान करें। तो निराकार परोक्ष ईश्वरका और साकार प्रत्यक्ष वस्तुमें ईश्वरका आरोप करते हैं। चाहे दोनोंको छोड़ दें, अपने द्रष्टापनेका ध्यान करें और चाहे द्रष्टाके ब्रह्मपनेका ध्यान। बाबूजी, यह असलमें ध्यानका जो कर्तृत्व है, वह बना हुआ है।

इसमें आप ध्यान करें या न करें, इसमें स्वतंत्रता है। ध्यान बदल दें। आज तक साकारका करते थे, आजसे निराकारका करेंगे। नहीं, साकार-निराकारको छोड़कर हम दृष्टापनेमें बैठेंगे। किसीने कहा—'हमें दृष्टापनेमें बैठते-बैठते बस हद हो गयी। इसमें कोई मजा नहीं है।'

हम बीस-बीस चिट्ठियोंका जवाब पहले रोज दिया करते थे। हमारे द्वारा दिये गये चिट्ठियोंके जो जवाब हैं न इस ढंगके, वे दूसरोंके नामसे भी छपे हुए हैं। क्योंकि, चिट्ठियोंके उत्तर देनेका विभाग भी हमारे हाथमें—तो ऐसी-ऐसी शंका साधक लोग भेजते थे, जो हमारे दिमागमें पहले कभी नहीं आयी हुई होती थी। उसपर विचार करना पड़ता था। वह शंका तो कभी हमको उठी ही नहीं थी। अब से कोई सत्ताईस वर्ष पहले विपिनचन्द्र मिश्राका पत्र आया था कि—'जब भगवान् जन्म लेते हैं तो वैकुण्ठ खाली हो जाता है? पूरे भगवान् यहाँ आते हैं कि एक रूपसे वहाँ रहते हैं? और एक रूपसे यहाँ आते हैं?' ये विपिनचन्द्र मिश्रा आजकल हाईकोर्टके जज हैं, महाराज, उनका यह प्रश्न था। मैंने हनुमान

प्रसादजीको पढ़ाया। तो चिट्ठी उठाकर हमारी गोदमें फेंक दी। कहा—'जवाब आप ही देंगे, महाराज!'

साधक लोगोंके मनमें कैसे-कैसे प्रश्न पैदा होते हैं! तो चाहे आप कैसा भी ध्यान करें, ध्यान करनेवाला होता है कर्त्ता, और ध्येयको बदलनेका सामर्थ्य उसमें रहता है। साकारका करें, निराकारका करें, द्रष्टाका करें, अपनेको ब्रह्म सोचें, अपनेको जीव सोचें।

क्या होता है कि जिस ध्यानके जिस रूपकी आपकी श्रद्धा होगी, उसी रूपमें ईश्वरत्व भासने लगेगा। एक इसका मजा यह भी है। मैं में भासेगा, तुममें भासेगा, इधर भासेगा, उधर भासेगा। एक इसका मजा और भी है। वह मजा क्या है? जैसे कोई मशीन ऑटोमेटिक काम करत्ती हैं वैसे जब हम वृत्तिको ध्येयाकार कर देते हैं तो वह ऑटोमेटिक ही अपना काम करना शुरू कर देती है। एक बार चला दे अपनी वृत्तिको। चाहे वह 'शिवोऽहं की वृत्ति हो।' 'शिवोऽहं' भी उपासना है। हमारी वैदिक-संस्कृतिकी दृष्टिसे—'वायो, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'—यह भी उपासना है, भला! और 'भगवोदेवते सोऽहमस्मि'।

'योऽहमसोऽस्मि भगवोदेवते।'

जो मैं हूँ वही तुम हो, 'भगवोदेवते।' और 'जो तुम हो वही मैं हूँ भगवन्!' यह अहंग्रह उपासनाके अन्तर्गत, वेदोंमें इस उपासनाका भी वर्णन आता है। इस ध्यानका फल यह भी होता है। उपासनामें जरा विश्वासकी प्रधानता रहती है। और ध्यानमें अभ्यासकी प्रधानता रहती है। ध्यानमें अभ्यासकी प्रधानता और उपासनामें विश्वासकी प्रधानता। परन्तु इसके द्वारा जो वृत्तिकी तदाकारता होगी, वह हर हालतमें शान्त होगी। माने हर हालतमें मिट जायेगी, क्योंकि वह प्रयत्नके द्वारा उत्पन्न की हुई है। तो कहो कि इसका कोई फल नहीं। फल तो इसीका है।

एक बार श्रीउड़िया बाबाजीसे किसीने पूछा कि—' महाराज, ज्ञान बड़ा कि भक्ति बड़ी?' बोले—'भक्ति बड़ी।' बोले—'महाराज! ज्ञान क्या है?'

'ज्ञानमें तो कोई छोटा-बड़ा नहीं होता।'

एक बार किसीने पूछा—'महाराज! जीवनमुक्ति बड़ी कि विदेहमुक्ति बड़ी?' तो बोले—'दोनोंकी कल्पना ही अमंगल है। अपने स्वरूपमें दोनों हैं ही नहीं। न जीवनमुक्ति है न विदेहमुक्ति।' यह वेदान्तकी बात है।

अब आप करना चाहते हैं साधन। स्वयंसिद्ध रूपसे अपनेको कर्त्ता स्वीकार किये बिना आप थोड़ी देरके लिए या बहुत देरके लिए जिस स्थितिमें रहना चाहते हैं, क्यों वह आपकी स्थिति टूट जाती है? इसलिए कि यदि मैं द्रष्टा हूँ तो भी आपके पकड़ने पर भी वह वृत्ति भाग जायगी।

यदि आप सोचो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति कोई बना कर चौबीस घण्टे रख सकता है तो वह बनानेवाला कर्त्ता रहेगा और बनायी हुई वृत्ति सीमित रहेगी और वह थोड़ी देरके लिए समाधिस्थ भी कर सकती हैं। लेकिन बादमें उसको टूटना पड़ेगा।

अब ज्ञान क्या है? ज्ञान वह है जिसमें न बनाना पड़ता है, न रखना पड़ता, न बिगाड़ना पड़ता। जिसको करनेमें हम स्वतंत्र नहीं हैं महाराज! करनेमें तो हम स्वतंत्र नहीं हैं। नारायण! ज्ञान किया जाता नहीं है। वह रखा नहीं जाता है। उसमें कोई आकार नहीं होता है। वह बिगाड़ा नहीं जाता है। उसके टूटनेका प्रश्न नहीं उठता है। और मैं ब्रह्म हूँ, कि आत्मा हूँ, कि मैं दृष्टा हूँ—यह वृत्ति रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ वृत्ति रखनेकी जरूरत पड़ती है, वहाँ तनाव होता है। वह तो एक वस्तु स्थितिका ज्ञान है। तब फिर ध्यानका उपयोग क्या है?

ध्यानका उपयोग रोगकी निवृत्ति है, स्वस्थताकी उत्पत्ति नहीं है। रोगकी निवृत्ति ध्यानका प्रयोजन है।

रोगा निवृत्तौ स्वस्थता।

अविद्या निवृत्तौ स्वस्थता।

शंकराचार्य भगवान् ऐसे बोलते हैं—

अच्छाजी, आओ! उपनिषद्की रीतिसे भी ध्यानकी दो-चार बातें

आपको पहले सुनावें। उपनिषद्के मन्त्र आपको पहले सुना देते हैं, आज हम वैदिक संस्कृतिके अनुसार ध्यानकी बात सुनाते हैं। क्योंकि कभी बौद्ध-संस्कृतिके अनुसार, कभी जैनसंस्कृतिके अनुसार ध्यानकी बात सुनाते हैं। आप वस्तुको समझनेमें सम्प्रदायको आड़े मत आने दीजिये। बिलकुल सीधी बात है। ज्ञानको आप भौगोलिक सीमामें कैद मत कीजिये कि यह इतनी धरतीमें रहेगा। आप महाराज, अपना शासन भौगोलिक सीमामें रखिये। आप यूरोपपर शासन करनेके लिए मत जाइये। यह यूरोपिय सरकार है, यह अमेरिकन सरकार है। आप भारतीय सरकारको खूब सुदृढ़ रखिये। लेकिन जब ज्ञानका विचार हो तो उसको यदि भारतीय क्षेत्रमें सीमित रखेंगे तो वह ज्ञान, आपका कैदी ज्ञान होगा।

अच्छा, ऐतिहासिक काल, प्रागैतिहासिक काल—ज्ञानको ऐतिहासिक मत बनाइये! ज्ञान इतिहासको प्रकाशित करता है। इतिहासमें संस्कृतियाँ बनती और बिगड़ती हैं। आप ज्ञानको आचार्योंके चक्करमें मत डालिये। क्यों? सम्प्रदायके लिए आचार्यकी जरूरत होती है। एक सम्प्रदायका संचालक एक आचार्य होता है। आचार्यको मूल मान कर सम्प्रदाय चलते हैं। भूगोलको मूल मानकर राष्ट्रीयता चलती है। इतिहासको मूल मानकर संस्कृतियाँ चलती हैं। अपने मूल पुरुषको मूल मानकर कुलपरम्परा चलती है, और आकृतियोंको मूल मानकर जातियाँ चलती हैं। यह भैंस है, यह आदमी, यह बकरी—आकृतिको मूल मानकर जातियाँ चलती हैं।

यह ज्ञान न आकृतिमें है, न आचार्यमें है, न सम्प्रदायमें है, न इतिहासमें है, न भूगोलमें है। ग्रन्थको मूल मानकर पन्थ चलते हैं, नारायण! जो अपन्थ है, माने जिसको पानेके लिए किसी पथमें चलनेकी जरूरत नहीं है। वह अग्रन्थ है, अपन्थ है। यह बात बिलकुल ठीक है—भले आप उसको पानेके लिए पन्थका उपयोग कीजिये और, चाहे ग्रन्थका उपयोग कीजिये। उसमें अपनी लड़ाई नहीं है। वह ज्ञानस्वरूप अखण्ड है, अद्वय है। वेद बोलता है—

नानुध्यायान् बहून शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

इस ज्ञानस्वरूपपर जो आवरण है, उनको दूर करनेके लिए, पर्देको फाड़नेके लिए मलको दूर करनेके लिए साबुन है धर्म। शरीरमें जो दुश्चरित्रता है, उसको साफ करनेके लिए साबुन है धर्म और मनमें जो दुर्भावना है, दुश्चरित्रता है, उसको दूर करनेके लिए है ध्यान और बुद्धिमें जो मलिनता है, आवरण है, पर्दे हैं, उनको फाड़नेके लिए है ज्ञान। तीनोंका विभाग बिल्कुल अलग-अलग है। जब आपसमें समसत्ता नहीं है—ज्ञान शरीरमें नहीं है, भावना शरीरमें नहीं है तो धर्मके साथ भावना और ज्ञानका विरोध कभी हो ही नहीं सकता। जो जहाँ रहेगा न एक धरती पर जब समान सत्तामें रहते हैं, तब लड़ाई होती है। स्वप्नमें प्यास लगेगी तो स्वप्नके पानीसे मिटेगी भला! और जाग्रत्में प्यास लगेगी तो वह सपनेके क्षीरसागरसे नहीं मिट सकती है। उसके लिए जाग्रत्का पानी चाहिए—

आपस में समसत्ता जिनकी, लखि साधक बाधकता तिनकी।

मनमें दुर्भावना है, उसके लिए अभ्यास चाहिए, उपासना चाहिए, ध्यान चाहिए। बुद्धिमें भ्रान्तियाँ हैं, उनके लिए ज्ञान चाहिए। और अपना स्वरूप अखण्ड अद्वय ब्रह्म है। केवल अज्ञानसे ही परिच्छिन्न भासता है। उस अज्ञानको मिटानेके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए। तो जरा वैदिक सम्प्रदायकी रीतिसे ध्यानकी चर्चा आपको सुनाते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञः तद्यच्छेद् ज्ञानात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेद् तद्यच्छेद् शान्तमात्मनि।
यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहु परमां गतिम्।

यह वैदिक संस्कृतिके अनुसार ध्यानाभ्यासकी पद्धति है—

'ध्यानाभ्यास रसेन च।'

आप शरीरसे छह घण्टे सोइये। और सोलह घण्टे काम कीजिये। एक घण्टेमें आप अपना नित्यकर्म कीजिये और घण्टेभरके लिए आप

इस अभ्यासको लाइये। असलमें वस्तुमें जो महत्त्वबुद्धि बैठी हुई है, कि यह सबसे ज्यादा कीमती, वह तो हटती नहीं है।

हमारे एक सेठ थे। वृन्दावनमें संकीर्तनका उत्सव हो रहा था। वे लोग रावटीमें ठहरे हुए थे। खूब संकीर्तन हुआ। आँखमें आँसू आये, शरीरमें रोमांच हो गया। वह मृदंग बजी, वह झाँझ बजी, वह नगाड़ा बजे, झूम रहे, नाच रहे।

वहाँ जब संकीर्तन बन्द हुआ, अपनी रावटीमें आये, नौकर चाय ले आया उनको पीनेके लिए, प्याला गिर गया। प्याला गिरनेपर उतारकर जूता नौकरको लगे पीटने। क्यों भाई! संकीर्तनका जो रस उत्पन्न हुआ था वह कहाँ चला गया? यह तत्काल क्रोधका रस कहाँसे आ गया?

तो आपके जीवनमें ध्यानका रस जो उत्पन्न होता है, ध्यानका रस— वह आपको बेईमानी करनेसे रोकता है कि नहीं? चोरी करनेसे रोकता है कि नहीं? वह आपको व्यभिचार-अनाचार करनेसे रोकता है कि नहीं? भोजनमें स्वाद आता है तो टेलिफोन उठानेसे रोक देते हैं, ऐसा मजा आ रहा है। हमको खबर सुननेमें जब मजा आता है तो हमारे मित्रोंकी बातचीत हमको बुरी लगने लगती है। तो एक जगह जब रस आवेगा, ध्यानका जब रस उत्पन्न होगा, तब यह जो विषयरस है, भोग-रस है, संग्रह-रस है, यह थोड़ा कम पड़ेगा न?

आपने उन बड़ी मोटी माताजीकी बात सुनी होगी। माताजी गयी डॉक्टरके पास। तो उसने कहा कि—'तुम इतनी सब्जी खाया करो, पत्ते चाबाया करो, मूली खाया करो, टमाटर खाया करो।' ठीक है। इससे मैं दुबली हो जाऊँगी। अब घर आयीं महाराज! नौकरको सब लिखा दिया। पत्ते खाये, मूली खायी, टमाटर खाया। उसके बाद बोलीं—रोजके भोजनका थाल ले आओ। यह तो दवा हो गयी। रोजके भोजनकी थाल भी खायी।

तीन महिने तक यह अभ्यास चला। इसके बाद डॉक्टरके पास गयीं। तो वजन बढ़ा हुआ मिला, घटा नहीं। तब डॉक्टरको डाँटा कि

'हमने तीन महीने तक तुम्हारे बताये फल-फूल खाये, लेकिन वजन घटा नहीं।' अब डॉक्टरका माथा ठनका। तो रोजका जो आपका भोजन है, उसमें तो कोई कमी, कोई परिवर्तन करनेमें राजी नहीं है और यह सब्जीकी तरह ध्यान-रस बढ़ा लेते हैं। तो संसारीपनेका वजन है आपका, वह बढ़ता जा रहा है, वह घटता नहीं जा रहा हैं। एक अभिमान और बढ़ गया कि—'हम ध्यानी हैं।' तो जब ध्यानका रस आता है, ध्यानके माहात्म्यका ज्ञान हुआ। डॉक्टरने बताया कि ध्यानमें यह माहात्म्य है। तो पहलेका आपका जो भोजन है, उसमें कुछ परिवर्तन हुआ? कुछ न्यूनता आयी कि नहीं आयी? नहीं तो संसारीपना तो बढ़ता ही जायेगा। तो नारायण! ध्यानके लिए आप यह देखो—

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञः।

आप वाणीसे जो बोलते हैं, वाक् शब्दका अर्थ जो संस्कृत भाषा पढ़ते हैं न, यह नहीं कि एम. ए. तक संस्कृत पढ़ आये और उनको यह मालूम होगा। एम. ए. क्लास तक यह बात नहीं पढ़ायी जाती है।

हमारी जो वाक्की वृत्तियाँ होती हैं—यह अभिधावृत्ति है और यह लक्षणावृत्ति है, और यह व्यंजना वृत्ति है—यह बात हमारे बोलनेके जो नियम हैं न, वह नहीं आते हैं। क्या किया जाय? उसके लिए तो ज्यादा अध्ययन करना पड़ता है। तो यह कह दिया कि वाणीको मनमें नियन्त्रित कर लो। आप कहेंगे कि ठीक है, हम बोलना बन्द कर देते हैं। मौन हो गये। आपको क्या आश्चर्य सुनावें, महाराज? हमारे बड़े-बूढ़े हैं, इसलिए नाम नहीं लेता हूँ। वह मुँह उन्होंने बन्द कर लिया। बोलना उन्होंने बन्द कर दिया और लिखना शुरू किया। लिखते जायँ, लिखते जायँ और वह कहें, हमारा मन हमारे काबूमें क्यों नहीं है? जो मन पहले जीभके रास्ते बहता था, वह हाथके रास्ते बहने लगा। एक रास्ता मिल गया न, उनको! जब हाथके रास्ते मन बह गया, तो मनको निकलनेकी जगह मिल गयी न? बोले—यहाँ तो—

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञः।

अपनी वाणीको मनमें मिला लो, माने मत बोलो। यह लिखा हुआ है और यह साधन तो हम करते हैं। बोले—'भाई! तुमने अपने आप ही यह उपनिषद् पढ़ी होगी। गुरुमुखसे नहीं पढ़ी होगी।' 'वाक्' शब्द जो है, यह उपलक्षण है। 'उपलक्षण' का यह अर्थ होता है कि किसी कर्मेन्द्रियकी जो क्रिया है, उसको मनमें मिला लो। अरे! उन्होंने तो यहाँ तक कहा, कोई झूठी बात लिखी तो मैंने कह दिया—'यह झूठी बात है।' उन्होंने कहा—'मुँहसे झूठी बात बोलनेका निषेध है, लेकिन हाथसे लिखनेका निषेध कहाँ है? यह बताओ।'

तो आप लोग महाराज, ऐसे साधक जो वाक्को पकड़ लें। यहाँ लिखा है,'वाणीको मनमें मिला दो।' वहाँ 'वाक्' शब्दका अर्थ है कर्मेन्द्रिय। उसको जब हम हिलाते हैं, हिल-हिलकर बोलती है। चाहे तो बोले, चाहे तो न बोले। इसलिए हम वाणीके स्वतंत्र कर्त्ता हैं, और चाहे तो अच्छा बोलें, चाहे तो बुरा बोलें। क्या बोलना चाहिए, क्या न बोलना चाहिए, यह नियम है शास्त्रमें—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्।

तपस्या ही व्यर्थ हो जायगी। कर्म इसीका नाम है। जिसको हम करने और न करनेमें स्वतन्त्र हों, और अपनी स्वतंत्रता छोड़कर यदि हम अपने आपको कर्मके आधीन कर दें तो हमने जड़ताके आधीन अपने आपको बना दिया। हम कर्मके आधीन हैं कि कर्म हमारे आधीन है? ध्यानाभ्यास साधन यहाँसे प्रारम्भ होता है। आत्माको प्रधानता देकर 'वाक्' शब्दका अर्थ कर्मेन्द्रिय-मात्र होता है और ज्ञानेन्द्रिय-मात्र होता है।

सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंको और कर्मेन्द्रियोंको मनमें मिला दीजिये। अर्थात् इन्द्रियोंको उनके-उनके विषयमें प्रवृत्त करना बन्द कीजिये। यह पहली बात हुई। 'यच्छेद् वाक्।' तो देखो, भीष्म माने मन, भीष्म माने मनोबल। भीष्मके बापका नाम क्या है? 'शन्तनु।' गंगा और शान्तनु—

'गगनं अभिव्याप्य गच्छति इति गंगा।'

'शं तनोति इति शन्तनुः।'

स्वच्छ ज्ञानसे युक्त होकर जहाँ बुद्धिकी धारा बह रही है, वहाँ मनोबल भीष्मकी उत्पत्ति होती है। 'शन्तन' शब्द—

शं कल्याणं तनोति इति शन्तनुः।

यह कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय दोनोंके शान्त हो जानेपर रह जाता है मन। मनका बाप कौन है? आपको मालूम है? देखो, आपका मन कहाँ जाता है? केवल जानी हुई चीजमें ही मन जाता है। अनजानी चीजमें मन नहीं जाता है। जितने मनोराज्य होते हैं, मनकी सारी प्रवृत्ति ज्ञातमें होती है, अज्ञातमें नहीं। संशय भी तभी होता है जब कुछ ज्ञात हो, कुछ अज्ञात हो।

इसका मतलब यह हुआ कि मनके बिना ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियकी प्रवृत्ति नहीं है। और ज्ञानके बिना मनकी प्रवृत्ति नहीं है। और ज्ञान एक शरीरमें खण्डित नहीं होता। समष्टिका एक होता है।

'ज्ञानं आत्मनि वहति।'

और समष्टिका जो ज्ञान है वह अनन्त ज्ञानसे जुदा नहीं होता। शान्त ज्ञानमें बहता हुआ ज्ञान और बहते हुए ज्ञानमें व्यक्तिगत मन और व्यक्तिगत मनके द्वारा कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रवृत्ति।

अब आपको ध्यानमें कहाँ बैठना है? कर्मेन्द्रियोंकी धारा और ज्ञानेन्द्रियोंकी धारा रहती है शरीरमें। और मनकी धारा रहती है एक शरीरगत अन्तःकरणमें। और वह धारा रहती है समष्टि ज्ञानमें और समष्टिका जो ज्ञान है, वह अखण्ड ज्ञानमें एक फुरणा है और वही अखण्ड ज्ञान आपका स्वरूप है—ध्यानकी यह प्रक्रिया उपनिषद् बताती है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 11 :

ध्यान एक व्यावहारिक पदार्थ है और वह करनेसे होता है, पर उसके प्रत्यक्ष परिणाम निकलते हैं। उसमें एक तो कर्त्ताके अधिकारके अनुसार ध्यान होना चाहिए। यह नहीं कि सोलहों धान बाईस पसेरी। जिसको गाँवमें ब्रह्म माने ब्रह्मराक्षस ही मालूम है। आप जानते ही हैं, हमारे गाँवमें कई ब्रह्म थे। चौरी उनकी बनी हुई थी। दक्षिण भी, पश्चिम भी, पूरब भी। अभी तो हमारे उधर ब्रह्मके ऐसे-ऐसे स्थान हैं, जहाँ दो सौ, पाँच सौ आदमी हाथ-पाँव पीटते रहते हैं। उनकी पूजा-उपासना करते हैं। पागलपन छुड़ानेके लिए जाते हैं।

तो जिस आदमीको 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ केवल 'ब्रह्मराक्षस' ही मालूम है, यदि उससे आप कहेंगे कि ब्रह्मका ध्यान करो तो वह ब्रह्मका क्या ध्यान करेगा? आपको तो ब्रह्म शब्दसे ही बड़ा प्रेम है। परन्तु जिसको आप ब्रह्मका ध्यान बताते हैं, वह ब्रह्म शब्दका अर्थ भी जानता है कि नहीं जानता है?

जो ध्यान करना जनता है, वह कर्त्ता, कैसा अधिकारी है? उसकी योग्यता क्या है और उसकी आकांक्षा क्या है? करना चाहता हो ब्याह और उसको ध्यान बता दिया जाय अकाम, आप्तकाम, पूर्णकाम परमात्माका तो कैसे ध्यान करेगा?

दूसरी बात होती है कि जो ध्यान हम कर रहे हैं, उससे हमारे लक्ष्यकी प्राप्ति होगी? लक्ष्य तो अभी मिला हुआ नहीं है। देखा हुआ नहीं है। ध्यान और लक्ष्यका सम्बन्ध भी ज्ञात नहीं है। तो ऐसा ध्यान करनेसे हमको लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा? यह श्रद्धा भी होनी चाहिए कि हम जिस रास्ते चल रहे हैं उस रास्तेसे उस गाँवमें पहुँचेंगे। नहीं तो मोटर आप क्या चलावेंगे?

एक तो अधिकारी कर्त्ताका स्वरूप, दूसरे साधन और साध्यके सम्बन्ध पर श्रद्धा, तीसरे ध्यानमें होती है आवृत्ति अभ्यास, टूट जाये तो फिर लगाओ, टूट जाये तो फिर लगाओ। और चौथे, ध्यानका होता है परिणाम। माने एक नतीजा निकलता है ध्यानका। और चूँकि ध्यान लगाया हुआ है, एक दिन ऐसा आता है कि वह छूट भी जाता है। आगन्तुक है न, वह! अपना काम करनेके बाद उसकी पूर्णाहुति भी हो जाती है। इन बातोंपर ध्यान रखकर ही आपको ध्यानके मार्गमें चलना चाहिए।

तो असलमें यदि आप ध्यान करें तो मनोबलकी वृद्धि होगी। शरीर बल आसनादि से बढ़ता है और क्रियाबल प्राणायामादि से बढ़ता है और मनोबल ध्यानादिसे बढ़ता है। आप जो ध्यान करते हैं उससे आपका ऐसा मनोबल बढ़ना चाहिए कि आप बुरे कामोंसे, बुरे भोगोंसे, बुराइयोंसे बच सकें। तब तो आपका ध्यान सबल होगा, समर्थ होगा। और, यदि आप इसलिए ध्यान करेंगे कि अब हम ऐसा ध्यान करते हैं कि संसारसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तो इसमें चाहे चोरी हो, या बदमाशी हो, चाहे जीवनमें क्रोध आवे, चाहे लोभ आवे, चाहे मोह आवे, हम तो असङ्ग तटस्थ दृष्टा हैं। तो ऐसा जब आपका ध्यान है, वह आपको उच्छृंखल बनानेमें सहायक हो जायेगा। वह असलमें ध्यान है ही नहीं। वह तो ऐसा ही है कि जैसे स्कूलके विद्यार्थियोंमें गये और उनसे कह दिया कि तुम हमारे पास बैठ जाया करो बिल्कुल ठीक-ठीक कायदेसे और बाहर निकलनेके बाद चाहे जो कुछ करो। तो क्या वह शिक्षक माना जा सकता है? जो अपने विद्यार्थियोंको क्लासमें तो संयमसे बैठनेकी शिक्षा दे और बाहर जानेपर उच्छृंखलताकी छूट दे दे क्या ऐसा शिक्षण देनेवाला ठीक शिक्षण देनेवाला है? तो विद्यार्थी तो उससे बहुत प्रेम करने लग जायेंगे कि भाई, देखो! कि यह तो केवल आध घण्टे-घण्टे भर ही हमको कहते हैं, ठीक-ठिकानेसे बैठो और बादमें हमको खानेकी-पीनेकी, लूटनेकी-मारनेकी, लड़ाई करनेकी सब छुट्टी है।

तो, असलमें यह ध्यान जो है, वह अपने अनुयायियोंकी संख्या बढ़ानेके लिए और अपनी सुविधाके लिए तो ऐसा ध्यान हो सकता है। परन्तु जो ध्यान तुम्हें व्यवहारमें उच्छृंखलताकी छुट्टी देता है, वह तुम्हारे जीवनका निर्माण करनेवाला नहीं है।

जो दुश्चरित्रतासे रोक सके, दुर्भावनासे रोक सके, दुर्गुणसे रोक सके, दुर्बुद्धिसे रोक सके, दुरभिमानसे रोक सके, तब ध्यान ध्यान होता है। ध्यान जीवनके निर्माणकी पद्धति है। वह कहीं भी उच्छृंखलताके लिए छूट नहीं देता है। तो आओ, आपको ध्यानके बारेमें कुछ थोड़ी-सी जो खास बातें हैं, वह सुनाते हैं।

ध्यानकी दो प्रक्रिया पहले मनमें बैठा लें—एक तो यह है कि मनको अपने साथ जोड़ते हैं कि मनको प्रकृतिमें डालते हैं। माने मनको हम अपने आत्माके साथ जोड़कर—मन मुझमें स्थिर हो गया। मनको अपनी ओर ले आते हैं कि मन एक दृश्य है। और उसको प्रकृतिमें डाल दिया। ये दो विभाग सामने हैं। तो पहले मनको अपने साथ जोड़ते हैं। मनमें ध्यान हो रहा है और मैं ध्यानका ध्याता हूँ।

तो मनमें ध्येय क्या है?

ध्येयाकार जो वृत्ति है, उसको बारम्बार-बारम्बार मनमें बनाना—इसका नाम 'ध्यान' है। अब यह जो ध्येयाकार वृत्ति है, इससे सम्पन्न 'मैं'। ध्याता हो गया। आप ध्यानमें बैठ गये। जहाँ तक आप अपनेको अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग, तटस्थ, द्रष्टा, साक्षी ब्रह्म नहीं जानते हैं, वहाँ तक आप ध्यान करके ध्यानी बनते जायेंगे, ध्याता बनते जायेंगे और इससे आपके महात्मापनका उत्कर्ष होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है। आपके जीवनमें सद्गुण आवेगा।

माने एक तो ध्यान हुआ, परमात्मापनपर जो पर्दा है, उसको काटने-वाला और एक ध्यान हुआ आपके जीवनमें महात्मापनको लानेवाला। तो आपका मन आपके साथ मिले, आपकी इन्द्रियाँ आपसे मिलें, आपकी विषयाकार-वृत्ति भी आपसे मिल जाय और आप ही

रहें—ध्यानकी यह पद्धति हुई और ज्यादातर लोग करते ऐसे ही हैं। वे उसको समझते नहीं हैं। ध्यानको समझना दूसरी बात है और ध्यानमें स्थित हो जाना दूसरी बात है।

अब आप देखो कि,

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञः तद् यच्छेद् ज्ञानात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेद् तद्यच्छेद् शान्तमात्मनि॥

हमलोग जब अनुष्टुपछन्दके रूपमें इसको पढ़ते हैं तो एक नियच्छेद्को जान-बूझकर छोड़ देते हैं। 'यच्छेद्वाङ् मनसि प्राज्ञः'—आप यह देखो कि कोई भी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय बिना मनके काम नहीं करती है। तो मन है तब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय क्रियाशील हैं, अपने-अपने विषयको ग्रहण कर रहे हैं और यदि मन इनमें अनुगत नहीं है तो आँख रहने पर भी देखेगी नहीं, कान रहने पर भी सुनेगा नहीं। तो क्या करना कि बाहरी इन्द्रियाँ मनसे भिन्न नहीं हैं—ऐसा एक विचार करना। इनमें हाथ जोरसे समेटनेकी बात नहीं है या पाँवको जोरसे बाँधनेकी बात नहीं है। बात यह है कि इन्द्रियाँ मनसे न्यारी नहीं हैं। एक भूमिका यह हुई कि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय मनसे न्यारी नहीं हैं। दूसरी भूमिका यह हुई कि मन ज्ञानसे न्यारा नहीं है।

आपके मनमें कभी दुश्मनकी बात आती है और कभी दोस्तकी। दुश्मनका भी ज्ञान है, दोस्तका भी ज्ञान है। आप कभी अमेरिकाकी सोचते हैं और कभी रूस की। तो रूस और अमेरिकाका ज्ञान है। आपका जो पूर्वज्ञात है, वही मनमें उतरता है। तो आप देखो कि ज्ञानसे जुदा मन नहीं है।

अब तीसरी भूमिका ध्यान की देखो!

'ज्ञानमात्मनि महति।'

मैं मन्त्रका अर्थ जो बता रहा हूँ, वह किसी भाष्यमें नहीं है, हमको मालूम है। यह जो एक शरीरमें होने वाला, बढ़नेवाला, बदलनेवाला ज्ञान है, यह ज्ञान महान् ज्ञानसे जुदा नहीं है। यह तीसरी भूमिका है। यह

ध्यानी लोगोंकी सबसे बड़ी कमजोरी तो यही है कि हम ध्यानी हैं और ये विक्षिप्त हैं। तो हम बड़े हैं, ये छोटे हैं।

तो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंको मनमें लीन करनेसे चरित्र विषयक जो दुर्बलता थी, वह तो गयी और मनको ज्ञानमें लीन कर देनेसे जो सद्वासना और दुर्वासनाकी प्रवृत्ति थी, वह गयी और अल्पज्ञानको महान् ज्ञानमें लीन कर देनेसे अहंभाव गया। यह देखो तीन बात ध्यानने मिटा दी। पहलेने कर्म और भोग विषयक दुश्चरित्रको मिटाया। क्योंकि, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय मनसे जुदा नहीं हैं। और, दूसरेने कहा कि मन ज्ञानसे जुदा नहीं है अर्थात् सद्वासना और दुर्वासना स्थापित करनेकी कोई जरूरत नहीं है और तीसरेने कहा कि यह तुम्हारा ज्ञान तुम्हारे शरीरके भीतर सीमित नहीं है। यह महत्तत्त्व—जो समष्टि-बुद्धि है उससे एक है। इसने तुम्हारे परिच्छिन्न अहंभावको काट दिया। अच्छा, अब यह जो महत्तत्त्वरूप ज्ञान है, वह अदलता-बदलता है। माने कभी लीन होता है और कभी फैलता है। कभी प्रकृतिके उन्मुख होता है, लयोन्मुख होता है तो दृश्यको भास नहीं कराता और कभी सृष्टि-उन्मुख होता है। तो यह बुद्धि कभी शान्त होती है और कभी विक्षिप्त होती है। महत्तत्त्वकी बुद्धि कभी परिणामको प्राप्त होती है, और कभी शान्त रहती है। जब बुद्धि सृष्टिको पकड़ती है। सांख्यकी भाषामें उसका नाम होता है 'विसदृश-परिणाम' एक नया-नया-नया दिखाती है। और, जब प्रलयकी ओर बुद्धि चलती है, शान्तिकी ओर चलती है, तब नया-नया-नया नहीं दिखाती है। एक सरीखी चीजको जब दिखाने लगती है, तब सदृश परिणाम हो गया। जब ज्ञान अनेक वस्तुओंको दिखाता है, तब वह प्राकृत परिणामको अपनेमें स्वीकार कर लेता है और जब वह अन्तर्मुखताको दिखाता है तो प्रकृतिकी अन्तर्मुखताको अपनेमें दिखाता है।

असलमें, ज्ञान तो शान्त महोदधि है, उसमें कभी लहर उठती है और कभी नहीं उठती है। यह हुआ महत्तत्त्व। और, उठी हुई लहरमें-से व्यष्टिज्ञान बनता है। एक बूँद पैदा होती है और वह बूँद ही मनके

रूपमें आती है और मन ही कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा काम करता है।

तो यह जो अखण्ड, शान्त आत्मामें—यह आत्मा भी मामूली नहीं है, क्योंकि महत्तत्त्व रूप जो ज्ञान है, वह शान्त आत्मामें लीन हुआ है।

तो देखो, यह प्रक्रिया हुई—दुश्चरित्रको मिटाया इन्द्रियोंके मनोलयने और मनका जो बुद्धिमें लय है, उसने सद्वासना, दुर्वासनाको मिटा दिया और उस व्यष्टिज्ञानका जो समष्टि ज्ञानमें लय होना है, उसने अहंभावको मिटा दिया और जब शान्त आत्मामें स्थिति हुई तब भ्रांतिजन्य विक्षेप सर्वथा निवृत्त हो गया। यह जो शान्त आत्मामें अवस्थिति है, उसने देखो किया क्या कि जो बाहर है, उसको भीतर खींचकर अपने आपमें लीन करके और अपनी पूर्णतामें बैठ गये। एक प्रकारसे देखें तो कश्मीरी शैवोंका जो आत्म-बोध है, वह यही है। सब अपनेमें लीन हो जाता है और सब अपनेमें-से निकलता है। माने अपना आपा ही सब है। 'अहं शिवः'—मैं शिव हूँ। 'अहमेव सर्वम्'—मैं ही सब हूँ। यह सब अपना प्रकाश है। स्वातन्त्र्य-शक्तिका विस्तार है। वेदान्तमें और इसमें क्या अन्तर है—इस बातको साधारण लोग नहीं समझ सकते।

अच्छा, अब ध्यानकी एक दूसरी प्रक्रिया देखो।

आप शरीरमें ही बैठे हुए हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥

यह ज्ञानकी पाँच नदियाँ हमारे हृदयमें बराबर गिरती रहती हैं। पंजाब है यह। ज्ञानकी पाँच धारायें बाहरसे हमारे भीतर गिरती रहती हैं।

पञ्च नद्यः सरस्वतीं।

पाँच नदियाँ कौन-सी? कानमें-से शब्द-ज्ञानकी धारा हृदयमें जाती है, आँखमें-से रूप-ज्ञानकी धारा हृदयमें जाती है, त्वचासे स्पर्श-

ज्ञानकी धारा हृदयमें जाती है, रसनासे स्वाद-ज्ञानकी धारा हृदयमें जाती है और नासिकासे गंध-ज्ञानकी धारा हृदयमें जाती है। तो जब ये पाँचों धाराएँ बिलकुल स्तब्ध हो जाँय, बाहरसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध— इनकी धाराको भीतर न ले जाँय, जहाँ-की-तहाँ चुप्प, तूष्णीम्! ठहर जाओ!!

बड़े जोरसे ओलेकी वर्षा हो रही थी। समष्टिसे तादात्म्यापन्न महात्मा ने, जो अपनेको देह नहीं जानता है अपनेको समष्टि जानता है, उसने आज्ञा दी तूष्णीम् माने जिसे आप अंग्रेजीमें 'स्टॉप' बोलते हैं और, वर्षा होना बन्द। ओले गिरना बन्द। समष्टिसे एकता होनेपर यह ध्यानकी सिद्धि, ध्यानका चमत्कार है। यह अवैज्ञानिक नहीं है। जो लोग हमारे आध्यात्मिक विज्ञानसे परिचित नहीं हैं, वे ही इसको अवैज्ञानिक मानते हैं। अच्छा, ऐसे चमत्कार हमने न देखे हों, सो बात नहीं है। बीचमें यह बात इसलिए कही कि जिन लोगोंकी समझमें ध्यानकी गम्भीर बात न आती हो वे इसकी फलश्रुति, इसका अर्थवाद समझें।

मोकलपुरके बाबाको नावपर लेकर चले तो कोई पच्चीस-तीस मीलकी नावपर यात्रा करनेपर हमारा घर आता था। रास्तेमें रात हो गयी और घनघोर बादल छा गये, बिजली चमकने लगी, चारों ओर बिल्कुल घुप्प अंधेरा। बाबाने चारों ओर देखा और बड़े जोरसे हँस दिया। हँस दिया तो बादल छँट गये और चारों ओर चाँदनी छिटक गयी और हमारी नाव रातभर चलती रही।

तो, समष्टिके साथ जब तादात्म्य होता है तो शक्तिका भी विकास होता है और सिद्धिका भी विकास होता है। यह कोई जादूगरी नहीं है। यह आपको हम ऐसे हाथ करके हिप्नोटाइज कर दें या आँख-से-आँख मिलाकर स्वप्राइज कर दें—वह तो आपको पाँच-दस मिनट रोक सकता है, घण्टे-आधे घण्टे रोक सकता है। परंतु, जिनका समष्टिके साथ तादात्म्य होता है, वे सारी सृष्टिमें परिवर्तन करनेमें समर्थ होते हैं। देखो, अब इस बातको काट देते हैं। यह सिद्धि, यह शक्ति समाधिमें तो यह

विघ्न है। लोगोंको दिखानेके लिए सिद्धि है और निर्गुण, निराकार, एकरस, अद्वय आत्मतत्त्वका बोध होनेपर इस सिद्धि और शक्तिकी दो-कौड़ीकी कीमत नहीं है। परन्तु, फलश्रुतिके लिए बीचमें मैंने यह बात बता दी। लोगोंकी रुचि होती है कि हम भी तो इस रास्तेमें चलकर देखें। बिना पैसेके आप सिनेमा देख सकते हैं। आप घण्टेभर रोज केवल तीन महीने तक अभ्यास कर लीजिये। कितने लोगोंके मनमें इच्छा हो गयी होगी कि भाई पैसा बचे।

आप अपनी तवज्जुह, अपनी सूरत, अपना ध्यान, अपना ख्याल तालुमें लगाइये। घण्टे-घण्टेभर रोज तीन महीने तक तालुमें अपना ध्यान लगाइये। अच्छा, तीन महीने नहीं, आप हफ्ते भर करके देख लीजिए। यदि आपको मालूम पड़ने लगे कि हाँ, भीतर कुछ दिखायी पड़ता है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्नः मनसस्थितिः निबन्धनी।

यह तो योग-दर्शनके सूत्रके भाष्यमें है। तालुमें दर्शन करनेसे विलक्षण, अलौकिक दृश्योंका दर्शन होता है, जो लोकमें दिखायी नहीं पड़ते। कहो और आश्चर्यकी बात आपको सुना दें। अपने मनको केवल कण्ठ-कूपमें सीमित कर दीजिये। गलेके भीतर जो छिद्र है, वहाँ अपने मनको सीमित कर दीजिये। 'क्षुद्पिपासा निवृत्तिः'—भूख और प्यास न लगे। यह नहीं कि शरीरमें कमजोरी नहीं आवेगी। यह सिद्धि नहीं मिलेगी। शरीरमें कमज़ोरी आवेगी, लेकिन भूख, प्यास नहीं लगेगी।

अच्छा भाई, अब फिर ध्यानकी बात करते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते।

ये पाँच झरने, पाँच नदियाँ निरन्तर बाहरसे बह रही हैं और भीतरकी ओर जाती हैं और आपके हृदय रूपी समुद्रमें जाकर एक क्षोभ

उत्पन्न करती हैं। शब्द ज्ञानकी धारा कानसे, स्पर्शज्ञानकी धारा त्वचासे, रूपज्ञानकी धारा आँखसे, रस ज्ञानकी धारा जिह्वासे और गंधज्ञानकी धारा नासिकासे—ये पाँच नदी हैं और ये आपके हृदयमें जो ज्ञानका सरोवर है, उसमें मिलती हैं। तो यह गन्ध है, यह रस है, यह स्पर्श है, यह शब्द है, यह रूप है—इनको स्थिर कर दीजिये। ये बाहरसे भीतरकी ओर न बहें और भीतरसे बाहरकी ओर न बहें। अपनी लायी हुई जो सामग्री है, उसको शान्त कर दो।

परसों एक लड़का हमारे ऊपर बहुत नाराज हुआ। बोला कि आप हमारे बापको क्या ज्ञान देते हैं? वे कहते हैं कि मैं किसीका बाप नहीं और तू मेरा नहीं! यह ज्ञान तो आपने उनको दे दिया। परन्तु, हमको खर्चके लिए पैसा नहीं देते हैं। पैसा बिलकुल नहीं छोड़ते हैं। पैसेको तो वे अपना समझते हैं और हमको अपना नहीं समझते हैं। यह क्या ज्ञान दे दिया आपने? यह बिलकुल सच्ची बात आपको सुना रहा हूँ।

'मनसा सह'

जैसे इन्द्रियोंसे ज्ञानकी धारा भीतर जाना बन्द हो जाय, वैसे मनीराम भीतरसे बाहर निकलनेकी जो कोशिश करते हैं, वह भी बन्द हो जाय। यह बात आपको कई बार सुना चुका हूँ कि यह बिलकुल भ्रम है कि हमारा मन कलकत्ता चला गया। क्यों आपको यह अनुभूति सच्ची मालूम पड़ती है? अरे, मन तो जहाँ है आपके कलेजेमें, नखसे लेकर शिखातक आपके शरीरमें। मनके तीन परिमाण माने जाते हैं—कोई मानते हैं कि अणुके बराबर मन है और यह जो नसें हैं शरीरमें, ये टेलीफोनकी तारकी तरह सब समाचार उसके पास पहुँचाती रहती हैं। कोई कहते हैं कि एक ही मन सारी सृष्टिमें है, भ्रमसे मालूम पड़ता है कि वह हमारे शरीरमें है। और, कोई कहते हैं कि नखसे लेकर शिखा तक सारे शरीरमें मन व्याप्त है। तो मन क्या है? इन्हीं हमारी इन्द्रियोंने बाहरके ज्ञान ले जाकर भर दिये हैं। यह विशेष-विशेष ज्ञानोंके पुञ्जका नाम मन है। 'मन' नामकी एक कोई खास चीज नहीं है। संस्कारोंका पुञ्ज ही मन है। तो उसकी ग्रन्थियोंको

आप गिनिये मत। आप हमारी बातपर थोड़ा ध्यान दीजिये। जितने विषयके संस्कार आपके मनमें हैं, असलमें उतनी ग्रन्थि हैं—स्त्रीकी ग्रन्थि, पुत्रकी ग्रन्थि, धनकी ग्रन्थि। इनको जब सामान्य करते हैं, तब एक है। जैसे कह दिया—धनकी ग्रन्थि। तो सत्तासामान्यकी दृष्टिसे तो एक है। परन्तु, धनमें मकानकी ग्रन्थि, नोटकी ग्रन्थि, जमीनकी ग्रन्थि।

तो मनमें जितने-जितने विषयोंके संस्कार हमारी इन्द्रियोंने डाल दिये हैं, असलमें उतनी ग्रन्थि पड़ गयी हैं। इसीसे 'अनन्तं वै मनः-मन अनन्त है।' 'अनन्ता वै वेदाः'—वेद भी अनन्त हैं। तो यदि एक-एक ग्रन्थिको तोड़नेकी कोई कोशिश करेगा, तो सफल नहीं होगा। स्त्री-विषयक, पुरुष-विषयक ग्रन्थि भी अनन्त हैं। आपके मनमें एक क्षणके लिए भी किसीके प्रति यदि सच्चा प्यार आया होगा तो आपके मनमें उस पुरुष या स्त्रीको लेकर एक गाँठ बन गयी होगी। और सम्भव है कि यदि आपके अगले जन्म होते रहें तो किसी समय वही ग्रन्थि अंकुरित होकर अपना रूप ग्रहण कर लेगी। अपने, आकारमें प्रकट हो जायेगी। इसीका नाम 'वासनाग्रन्थि' है और इसकी जातियाँ, किस्में अनेक होतीं हैं। तो यदि आपको एक-एकसे निपटना पड़े तो अनन्तकालमें भी उनसे नहीं निपट सकते।

तो, आपका मन कलकत्ता नहीं गया। अच्छा, कलकत्ता ही आपके मनमें आगया होगा? नहीं, कलकत्ता तो अपनी जगहपर है, वह भी नहीं आया। एक आपके मनमें ऐन्द्रियक, अनुभूतिसे कलकत्ताकी ग्रन्थि पड़ गयी। इन्द्रियोंने आपके मनमें कल्पित रूप कलकत्ता विषयके साथ जो मनकी गाँठ जोड़ दी थी, वह ग्रन्थि जब खुलती है तो भीतर कलकत्ता दिखायी पड़ता है। न कलकत्ता भीतर आया और न मन कलकत्ता गया। सारी दुनियाकी हालत यही है। आपका बच्चा भी आपके हृदयमें नहीं गया है और आपका हृदय बच्चेमें नहीं गया है। वह तो जहाँ-का-तहाँ है। परन्तु, बच्चेके बिना जब आपका हृदय फटने लगता है, तो वह हृदय फटनेकी क्रिया यों होती है कि वह पुत्र—स्नेह ग्रन्थि जब कुलबुलाने

लगती है तब आपका हृदय फटने लगता है। यह सब मनोग्रन्थि हैं और यह सब इन्द्रियोंने आपके हृदयमें पहुँचाया है। 'हृत्' शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें इतना ही होता है। न स्त्री है, न पुत्र है, न धन है। 'हृत्' माने हरति, आहरति संस्कारान्—जो इन्द्रियोंके दिये हुए संस्कारको अपने अन्दर रख लेता है, उसका नाम 'हृत्' है। 'हृत्' माने मन।

तो आप इन्द्रियोंसे तो नये संस्कार लीजिये मत और मनमें जो संस्कार भरे हुए हैं, उनको जाहिर करना बन्द कर दीजिये और, 'बुद्धिश्च न विचेष्टेत'—यह शान्ति है कि विक्षेप है, यह विवेक करनेवाली जो बुद्धि है, उसको भी शान्त हो जाने दीजिये।

तो देखो, इन्द्रियोंके द्वारा, आनेवाली ज्ञानधारा शान्त और मनमें भरे हुए संस्कारोंका बाहर जाना शान्त और शान्ति और विक्षेपके भेदका जो अंकुर है, वह शान्त। 'तामाहु: परमां गतिम्'।

नारायण, वास्तवमें आप इस मनको शान्त अथवा विक्षिप्त देखते हैं। समाधि लग गयी तब भी आप देखते हैं और विक्षेप हुआ तब भी। यहाँ मन और बुद्धिका थोड़ा-सा फर्क आपको बता दें तो अच्छा रहेगा। मन हमेशा पहलेसे ग्रहीत जो है, उसको जाहिर करता है। पहलेसे जो देखी हुई, सुनी हुई, अनुभव की हुई, पकड़ी हुई जो चीज है, वह मनमें जाहिर होती है। 'गृहीत ग्राहकता'—यह मनकी विशेषता है। और, अज्ञात ज्ञापकता—यह बुद्धिकी विशेषता है। जो पहलेसे पकड़ा हुआ नहीं है, उसको भी समझनेकी कोशिश करे, यह बुद्धिकी विशेषता है। बुद्धि ऐसे चीजको भी समझनेकी कोशिश करती है, जिसको इन्द्रियोंने कभी नहीं पहुँचाया है, जिसकी ग्रन्थि मनमें नहीं है। बुद्धि निर्ग्रन्थको भी, अज्ञातका ज्ञापन करती है और मन ज्ञातको जाहिर करता है और विषयोंको पकड़ती हैं इन्द्रियाँ। बाहर विषयोंको पकड़ती हैं इन्द्रियाँ, पकड़े हुए विषयोंको जाहिर करता है मन और अनजानी चीजको बतलानेकी कोशिश करती है बुद्धि। अज्ञात-ज्ञापकता बुद्धिमें है और ग्रहीत-ग्राहकता मनमें है और प्रत्यक्षग्रहण इन्द्रियोंमें है।

अब देखो हुआ क्या कि न तो आपकी बुद्धि नयी चीजको जाननेके लिए हिलती है। अब यहाँ भी शान्त है। समाधिकी दृष्टिसे विचार भी एक प्रकारके विक्षेप हैं और विचारकी दृष्टिसे समाधि भी एक प्रकारकी मूढ़ता है। दोनों ओरकी बात नहीं कहेंगे तो कैसे यह बात आपके ध्यानमें आवेगी? स्वरूपज्ञानकी दृष्टिसे समाधि भी एक प्रकारकी जड़ता है और समाधिक्री दृष्टिसे विचार भी, पृथक्-पृथक् ज्ञान भी एक प्रकारका विक्षेप है। तो यदि आपको ध्यान करना है तो इन्द्रियोंसे प्रत्यक्षका ग्रहण और क्रिया—दोनों शान्त और मनसे पकड़े हुए को जाहिर करना शान्त और बुद्धिसे समझनेकी जो चेष्टा है, वह शान्त और इस शान्तिमें आप तटस्थ, कूटस्थ हैं। इसमें भी एक बात है। ध्येयके साथ अपनेको मिला देना—एक स्थिति यह होती है और अपनेको ध्येयका साक्षी रखना एक स्थिति यह है। तो जब ध्येयके साथ एक होते हैं, तब सम्प्रज्ञात समाधि होती है और जब ध्येयका बिलकुल परित्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

यह दोनों भेद बताकर एक तीसरी बातपर आपका ध्यान खींचते हैं। जिसमें ये ध्यान, समाधि लगते हैं और छूटते हैं, वह क्या चीज है? और, जो इनको देखता है, वह क्या चीज है? यह जिज्ञासा आपके मनमें यदि कभी उदय हो? तो यदि दोनों दो रहेंगे तो उसका नाम 'द्वैत' होगा और जब वह अनुभव आपको स्फुरित हो जायेगा कि दोनों दो नहीं हैं, दो-पना केवल फुरणा है, तब उसका नाम अद्वैत हो जायेगा। अब बताओ कि हम क्या करें? हम मनके साथ मिल जायें कि मनको अपने साथ मिला लें?

अब देखो ध्यानकी एक और गुत्थी आपको सुनाते हैं। मनको यदि हम अपनेमें मिला लेंगे तो हम ध्याता बने रहेंगे, हमेशा ध्यानी बाबा बने रहेंगे; ब्रह्म नहीं होंगे। श्रीमद्भागवतमें तो इसका बढ़िया निरूपण है। ग्यारहवें स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें यह प्रसंग है। वहाँ यह प्रश्न उठाया है कि मन विषयोंमें लीन हो जाता है और विषय मनमें लीन हो जाते हैं। हम आपका ध्यान नहीं करा रहे हैं, ध्यानके बारेमें समझा रहे हैं। आपका ध्यान

क्या होता है, इसका एक ठीक-ठीक आइडिया आपको प्राप्त हो, इसके लिए सुना रहे हैं। अगर ध्यान भी सार्वजनिक ही होता तो क्या पूछना था? अरे भाई, वह तो अपने-अपने व्यक्तिगत हृदयका निर्माण है।

मैं कई बार सामूहिक ध्यानमें भी बैठ चुका हूँ और आप लोग बुरा न मानें तो हम नाम ले-लेकर बता सकते हैं कि कहाँ? पाण्डिचेरीमें योगी अरविन्दके यहाँ ध्यानमें बैठा हूँ—सायंकाल अन्धेरा हो गया था, सब लोग ध्यानमें बैठे तो मैं भी बैठा। प्रकाश तो बिलकुल बन्द कर दिया गया। यह बात सन् अड़तीसकी है। उस समय योगी अरविन्द मौजूद थे। तो अपने मनकी बदमाशी आपको बताता हूँ। सब लोग तो आँख बन्द करके ध्यानके लिए बैठे और मैं आँख खोलकर सबकी ओर देख रहा था कि किसके चेहरेपर क्या दीखता है, किसके चेहरेपर क्या दीखता है और मदर कैसे खड़ी हैं? अब मैंने सोचा कि मैं अगर एकान्तमें बैठता तो यह सब थोड़े ही करता! यह तो दूसरेके चेहरेको देखनेका काम मैं ध्यानमें बैठकर कर रहा हूँ। नाम तो है कि ध्यानमें बैठे हुए हैं और देख रहा हूँ दूसरेके चेहरेको! माने जब कई लोग होते हैं तो मनमें एक यह वृत्ति भी अंकुरित होती है कि दूसरेका ध्यान कैसा लग रहा है? ध्यान लगा रहा है कि नहीं लगा रहा है और लगानेपर उसका मुँह कैसा दिखता है।

अच्छा, यह जो चेहरेपर चमक आती है, यह सविशेषके ध्यानमें ही आती है, निर्विशेषके नहीं आती। निर्गुणके ध्यानमें कोई चमक नहीं आ सकती। क्योंकि, वृत्तियोंका जो विकास है, वही तो मुस्कानके रूपमें आता है। इसलिए, ये बड़े मस्त हैं—यह उनके ध्यानी होनेकी पहचान नहीं है। ये बड़ी मस्तीमें रहते हैं—यह ध्यानी होनेकी पहचान नहीं है। इनके अन्दर सिद्धियाँ हैं—यह भी ध्यानी होनेकी पहचान नहीं है। ये हर समय हँसते रहते हैं, मुस्कराते रहते हैं, इसका अर्थ है कि उनका जो चित्त है, वह विकसित होता रहता है। वह है अच्छी चीज! उसको हम बुरा नहीं बताते हैं। लेकिन ध्यानकी माया जो है, वह और ऊपर है। उसकी विलक्षण लीला और ऊपर है!

तो प्रश्न यह है कि विषयके संस्कार मनमें बैठे हुए हैं, वे बारम्बार मनमें उदय होते रहते हैं और इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण कर-करके बारम्बार मनमें भेजती रहती हैं। तो ऐसी स्थितिमें मन और विषय इनको अलग कैसे किया जाये? विषयोंके संस्कार पुञ्जका ही नाम तो मन है। तो नारायण, विषयसे मन अलग कैसे हो? बारम्बार विषयाकार होता रहता है और विषय इन्द्रियोंके रास्ते बारम्बार मनमें घुसते रहते हैं। बिना विषयका मन कहाँ होगा कि कोई मनको निर्विषय कर दे—यह प्रश्न है। और, इसका उत्तर क्या है?

इसका उत्तर यह दिया गया कि असलमें मन भी एक विषय ही है। इसलिए, मनको तुम अपने तटस्थ, कूटस्थ, द्रष्टा, साक्षीके साथ मत मिलाओ। तुम अपनेको परमात्माके साथ मिला दो!

मद्रूपः उभयं त्यजेत्।

तुम और परमात्मा एक हो जाओ और मन और विषयोंको एकमें डाल दो। जो देही है, ध्याता है, ध्यानी है, वह परमात्मासे एक अखण्ड है और मन जो है, यह विषयके सिवाय और कुछ है ही नहीं।

जीवस्य देह उभयं मद्रूपः उभयं त्यजेत्।

ये मन और विषय, दोनों आत्माके शरीर हैं। तो आत्माको परमात्मासे एक करके मन और विषय दोनोंका परित्याग कर दो। और, परमात्माके अखण्ड स्वरूपमें मन और विषय, दोनों फुरफुराहट हैं।

आपको सावधानीसे देखना हो तो भागवतके ग्यारहवें स्कन्धका तेरहवाँ ध्याय देखें। जहाँ सनत्कुमारादिकोंने ब्रह्माजीसे यह प्रश्न किया है और हंसावतार ग्रहण करके भगवान्ने इसका समाधान किया है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 12 :

पंचदशीमें एक जगह ऐसा आया है—

उपमृदनाति चेत् चित्तं ध्यातासौ न तु तत्त्ववित्।

जो चित्तका उपमर्दन करता है माने जो चित्तको रौंदता है—वह ध्याता है, वह तत्त्ववित् नहीं है।

घटका ज्ञाता घटको फोड़ता हुआ नहीं दिखायी पड़ता। जो घटतत्त्वका वेत्ता है, उसको घड़ा फोड़नेकी जरूरत नहीं रहती है। वह घड़ा बना रहे, तब भी उसको मिट्टी ही जानता है। तो जो चित्तका उपमर्दन करना चाहता है माने चित्तको तोड़-फोड़करके, मटियामेट करके चित्तको जानना चाहता है, वह चित्तका ज्ञाता नहीं, चित्ततत्त्वका ज्ञाता नहीं है। वेदान्ती लोग बड़ी मौजसे बोलते हैं, उनकी बात आपको सुनाते हैं—

देवार्चन स्नान शौच भिक्षादौ वर्ततां वपुः।

शरीर अपना काम करे! वह चाहे देवताकी पूजा करे, स्नान करे, पवित्रताके नियमोंको निभावे या भिक्षा माँगकर खाये।

तां रं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकं॥

वाणीसे चाहे प्रणवका जप हो, चाहे वेदका पाठ हो।

विष्णुं ध्यायत धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे निमज्जताम्।

यह बुद्धि चाहे विष्णुका ध्यान करे या ब्रह्मानन्दके महासमुद्रमें डूब जाय।

साक्ष्यहं किंचिदध्यत्र न कुर्वे नैव कार्ये॥

मैं हूँ केवल साक्षी। न बुद्धिके द्वारा कुछ करता हूँ और न मैं बुद्धिको प्रेरणा देकर कुछ करवाता हूँ।

अब कलवाली बातके साथ इसको मिलाओ। कल आपको सुना रहा था कि जबतक ज्ञानमें विषय न भासे, तबतक उसकी संज्ञा चित्त ही नहीं होती। बिना विषयका चित्त नहीं और बिना चित्तका विषय नहीं। मन यदि विषयाकारताका परित्याग कर दे तो न उसमें दिक् है, न काल है। असलमें जब मनमें विषयका आकार विशेष आता है तब पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, पहले-पीछे होता है। परिणामके द्वारा कालका सम्बन्ध और विषयकी दीर्घता और उसकी विस्तृतिके द्वारा स्थानका सम्बन्ध। तो चित्तका निरोध करनेसे देश और कालका अलगसे निरोध नहीं करना पड़ता। विषय अपनी कारणावस्थामें पहुँच जाय तो देशकालका भान ही नहीं होता। इसीलिए हमारे योगियोंके मतमें भी और जैनियोंके मतमें भी दिक्-कालका पृथक् निरोध अपेक्षित नहीं है। जहाँ वृत्ति विषयहीन हुई, वहाँ वृत्ति अपनेको द्रष्टा आत्मासे पृथक् दिखाती ही नहीं है। तो वृत्ति और विषय, विषय और वृत्ति—वृत्तिमें जो विषयोंके संस्कार भरे हुए हैं, वे वृत्तिमें उदय होकर स्वप्नवत् विषयोंको दिखाते हैं और वृत्ति जाग्रत्कालमें इन्द्रियोंके द्वारा उनको प्रत्यक्ष करके देखती है। तो प्रत्यक्ष नेत्र, श्रोत्रादिके द्वारा विषय मनमें जाते हैं और पूर्व संस्कारसे मन विषयोंको ग्रहण करता है। असलमें मन और विषय—इनको जो अलग-अलग करनेका प्रयत्न है, साधकका सारा क्लेश यही है। तब विषय सच्चे और चित्तकी विषयाकारता सच्ची—इस क्लेशको दूर करनेके लिए क्या करना चाहिए?

अबुद्ध जो श्रोता है, वह इसीमें लड़ाई ठान देता है कि हमारा मन विषयाकार न होने पावे। तो वह दोनों प्रयत्न करता है कि इन्द्रियोंके द्वारा बाहरी विषय हमारे मनमें न जायँ—इसके लिए तो इन्द्रियोंका निरोध करता है और पूर्वसंस्कारोंका उदय होकरके हमारा मन विषयाकार न हो—इसके लिए आन्तर-प्रयत्न करता है। ध्यानके साधकके ये दो ही तो प्रयत्न हैं कि बाहरी विषय इन्द्रियोंके द्वारा मनमें न जाय और मनमें जन्म-जन्मान्तरसे भरे हुए जो विषय हैं वे अपना आकार बनाकरके हमारे

मनको विक्षिप्त न कर दें। असलमें मन न कहीं आता है न जाता है और विषय भी न कहीं आते हैं न जाते हैं। न यह रूमाल आँखके रास्ते मनमें जाता है। बिलकुल नहीं जाता है। अपनी जगहपर रहता है। लेकिन मनमें रूमाल दिखता है। कभी-कभी तो ऐसा अभ्यास जब परिपाकको प्राप्त हो जाता है, तो आँख बन्द करके भी बाहरकी सब वस्तुओंको देखा जा सकता है।

बड़ी विचित्र लीला है और सब चीज अपनी जगह पर और मन कलेजेका जो केन्द्र है या नाखूनसे लेकर शिखा तक जो मनोव्याप्ति है, वह शरीरको छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाती। जो लोग मध्यम परिमाण-मन मानते हैं उनके मतमें ऐसा है। तो बात असलमें यह है कि यह जो द्वन्द्व साधकके मनमें है कि बाहरसे विषय कहीं हमारे दिलमें घुस न जाय और हमारे दिलमें जो घुसे हुए विषय हैं, वे हमारी इन्द्रियोंको प्रेरित करके प्रवृत्त न कर दें। भोगमें प्रवृत्त न कर दें। यह साधकका मानस-द्वन्द्व है।

तो, श्रीमद्भागवतमें इसके लिए सीधा सवाल उठाया गया। वह कल आपको पता बता दिया था। देखा होगा, ग्यारहवें स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें 'हंसोपाख्यान' उसका नाम है। यह बात कही गयी कि आप विषयको तो दूर छोड़ देना। रूमाल तो रहे तख्तेपर, घड़ी रहे तख्तेपर और आपका मन इन्द्रियोंके द्वारा रूमालके पास न जाय। तो आप यह चाहते हैं कि मनको तो खींचकर आत्माके पास जोड़ लें और विषयको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दें। एक ध्यानका दूसरा द्वन्द्व आपके मनमें यह आया।

तो, श्रीमद्भागवतका यह कहना है कि आप मनको अपने पास मत फेंकें, आप मनको विषयमें ही डाल दीजिये। जैसे रूमाल आपको दीख रहा है, वैसे ही मन भी आपको दीख रहा है। यह रूमाल और मनकी बात नहीं है, सारी सृष्टिकी बात है और अपने देहकी भी बात है और, अपने अन्तःकरणकी भी बात है।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।

विषयोंका सेवन करते-करते चित्त विषयोंमें चला गया है। विषयाकार हो गया है। जाने-आनेका अर्थ इतना ही होता है कि चित्त विषयके रूपमें दीख रहा है। और—

गुणाश्च चित्तप्रभवाः।

मनमें पहलेसे जो विषय भरे हुए थे, वही तो चित्तसे बाहर निकलकर दिखायी पड़ते हैं। बाहर नहीं निकलते हैं, चित्त तदाकार जो बीज था, वह अंकुरके रूपमें भास रहा है। तो आप यदि अंकुरको पकड़ेंगे तो फिर बीज पैदा हो जायेगा और बीजको पकड़ेंगे तो फिर अंकुर पैदा हो जायेगा।

यह मन और विषय दोनों बीजांकुर न्यायसे अनादि हैं। जैसे बीजसे पौधा पैदा होता है और पौधेसे फिर बीज पैदा होता है। आप अपने घरमें जब कोई भागवत कथा कराते हैं, नवदुर्गाका पाठ कराते हैं तो जौ बो देते हैं। उनमें-से अंकुर निकल आते हैं। अब आप यदि उस अंकुरको परिपक्व होने दें तो उसमें-से फिर बीज निकलेगा—एक बीजमें-से बीस बीज निकलेगा। तो अंकुरसे बीज, बीजसे अंकुर—यह कार्य-कारण परम्परा जो है, इसीका नाम संसार है। मनसे विषय और विषय संस्कारसे मन। तो इन्होंने कहा कि—'देखो जी! मनको पकड़कर अपने साथ मत मिलाओ।' यह श्रीमद्भागवतका प्रसंग है।

आप मनको विषयोंमें-से निकाल कर अपने साथ मिलानेकी कोशिश मत करो और अपने आपको मनके साथ मिलानेकी कोशिश मत करो। बोले—'अपनेको तुम बीज और वृक्ष, बीज और अंकुर दोनोंसे, मन और विषय दोनोंसे अलग कर लो।'

'अच्छा, अलग कैसे करें?'

बोले—'मनको विषयमें डाल दो।' माने दो राशि बना दो—एक द्रष्टा और एक दृश्य। तो मनको दृश्यराशिमें रखो। राशि माने ढेर। मनको द्रष्टा राशिमें मत ले आओ। द्रष्टा और दृश्य—यह दो राशि हो गयी।

तो बोले—'भाई! अपनेको हम मनसे अलग करके द्रष्टा हो गये, ठीक है। अब यह द्रष्टापना जो है, जबतक हम सावधान रहते हैं, तबतक यह द्रष्टापना है।'

वृत्तिसारूप्यं इतरत।

जहाँ असावधान हो गये, वहाँ चित्तवृत्तिके साथ मिल गये। तादात्म्य हो गया। तब बोले—'नहीं, एक बात जो बाकी रह गयी है कि एक चित्तसे ही आप क्यों मिलते हैं? प्रश्न यह है कि जब तादात्म्य आपका होता है, तो एक चित्तसे ही क्यों होता है? आप तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हैं और आपके चित्तमें ही देश और कालकी बस्ती है और विषयोंकी बस्ती आपके चित्तमें है। जब उससे आप न्यारे हो गये तो फिर एक चित्तसे ही आपका तादात्म्य क्यों होता है?'

'जीवस्य देह उभयम्।'

जीवात्माके दो देह हैं—एक विषयात्मक और एक चित्तात्मक। ये दोनों देह जीवात्माके हैं। तो चित्त और विषयरूप देहसे अपनेको न्यारा जान लेनेपर भी आपका जो जीवत्व है, वह बना हुआ है—

यहाँ वेदान्तका बड़ा कड़ा आक्षेप है, भला! वह जितने भी जीवको अनेक माननेवाले सिद्धान्त हैं, उन सबके ऊपर कटाक्ष करता है। पृथक्त्व क्यों है तुम्हारे अन्दर? चित्तके भेदसे जीवमें भेद है कि स्थानके भेदसे जीवमें भेद है? कि अभिमानके भेदसे जीवमें भेद है? आखिर जीव अलग-अलग क्यों?

तो भागवत कहता है कि—'देखो-जी! जब चित्त और विषयको छोड़कर तुम अलग होते हो, तो असलमें मुझसे एक हो जाते हो—

'मद्रूपः उभयं त्यजेत्।'

तुम अपने आत्माको मुझसे अलग रखकर चित्त और विषयको मत छोड़ो। हमारी अखण्डतामें अपनेको मिला दो। चित्त और विषयको छोड़ दो।

मद्रूपः उभयं त्यजेत्।

यहाँ तक कहा कि 'यदि तुम मेरे साथ अपनेको नहीं मिलाते, तो यह जो मुझसे तुम्हारी पृथक्ता है, और चित्तसे तुम्हारी पृथक्ता है, यह पृथक्ता तो एक गुण है।' आप जानते हैं, विभाग जो हैं, वह क्या है? दो फूल या फूलकी दो पंखुड़ियाँ आपसमें अलग-अलग हैं। यह विभाग है। यह विभाग नामका पदार्थ गुण है। यह द्रव्य नहीं है। विभाग नामका जो पदार्थ होता है, वह द्रव्य नहीं होता। वह केवल पर्याय है। जैनमतमें उसको पर्याय बोलते हैं और न्यायमतमें इसको गुण बोलते हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-संख्या—संख्या भी गुण है। कार्य होना, कारण होना, परत्व-अपरत्व, यह परे, यह पर है, अपर है—ये विभाग हैं, ये संख्या हैं—यह सब क्या है? यह सब गुण हैं, वस्तु नहीं हैं।

तो, जो विभाग वस्तु ही नहीं है, उसी विभागको, एक अवस्तुरूप विभागको आप अपने और चित्तके बीचमें रख रहे हैं, अपने और परमात्माके बीचमें रख रहे हैं। तो यह जो खण्डत्व है, यह खण्डत्व बारम्बार चित्तके साथ, विषयके साथ आपका तादात्म्य कर देता है। आप अगर यह कहो कि चित्तके साथ हमारा तादात्म्य है, विषयके साथ नहीं, तो यह देह जो है, यह विषय है। जैसे फूल विषय है, उसी तरह देह विषय है। यहीं एक बमगोला और हल्का-सा।

देहमें चित्त रहता है—यह आमधारणा है। परन्तु चित्तमें देह रहता है, यह खासधारणा है। एक आमधारणा है, एक खासधारणा है। देहमें चित्त नहीं रहता, चित्तमें देह रहता है। असलमें यह जो देह-देही विभाग है, यह चैत्य है चित्तका खेल है। जैसे स्वप्न देह-देही विभाग होता है, शत्रु-मित्र विभाग, पाप-पुण्य विभाग, सुख-दुःख विभाग, मैं-तू विभाग। और स्वप्नके शरीरमें भी देह और चित्त विभाग होता है। यह आपको मालूम है कि नहीं?

देहमें, स्वप्नमें आप कोई रूप धारण करके घूम रहे हैं। मनुष्यके रूपमें घूम रहे हैं। तो वहाँ भी आपको दुश्मनको देखकर गुस्सा आता है। और दोस्तको देखकर प्रेम आता है। यहाँतक कि स्वप्नमें भी स्वप्नदोष

होता है। वह दूसरी चीज है। बिलकुल झूठा होता है। स्थूल शरीरसे उसका सम्बन्ध नहीं होता है।

'स्वप्ने स्वनांतरं यथा।'

तो यह जो शरीर है आपका, चित्तमें है, चित्तमें। तो असलमें जिस चित्तमें यह शरीर है, उसी चित्तमें यह समूचा संसार है। यह देह भी एक विषय है और प्रपञ्च भी विषय, और यह सब कहाँ है? बस, जहाँ भासता है, वहीं है। चित्तमें ही है और यह जो चित्त है, इस चित्तको तुम डाल दो—जैसा विषय वैसा चित्त! जैसा चित्त वैसा विषय। और, अपना आपा जो है, साक्षी है। वह इससे न्यारा है। इतना तक तो हुआ योग। लेकिन यह जो न्यारा द्रष्टा है, इसकी यथार्थ स्थिति क्या है? इसलिए, क्योंकि देश भी चित्तमें ही है। इसलिए यह देशसे परिच्छिन्न नहीं है यह देशका द्रष्टा और चूँकि यह काल भी चित्तमें ही है। वह तो जहाँ-जहाँ विषयका भान होगा, वहाँ-वहाँ देश-काल रहेगा। तो यह जो द्रष्टा है, वस्तुस्थिति इसकी यह है कि यह देशसे सीमित इतना बड़ा नहीं है और कालसे सीमित इतनी बड़ी उम्रवाला नहीं है। न द्रष्टामें उम्र है, न तो लम्बाई-चौड़ाई है और न तो द्रष्टामें विषय है। इसलिए अविषय, अकाल और अदेश है। तब इस द्रष्टाको क्या कहा जा सकता है? इस द्रष्टाको अपरिच्छिन्न कहा जा सकता है। अपरिच्छिन्न माने संस्कृत भाषामें ब्रह्म होता है। ब्रह्म माने अपरिच्छिन्न। परिच्छेदके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित आत्मस्वरूप होनेसे अबाधित। माने आत्माको सत्य क्यों कहते हैं? रूमालकी तरह सत्य होनेसे आत्माको सत्य नहीं बोलते। आत्मा नहीं है, यह ज्ञान कभी किसीको हो ही नहीं सकता। इसलिए आत्माको सत्य बोलते हैं। कोई माईका लाल दुनियामें यह अनुभव और यह ज्ञान प्राप्त कर ले कि—'मैं नहीं हूँ'। यह अनुभूति कि आत्माका अभाव, अनुभूतिकी कक्षासे बिलकुल परे है। इसलिए आत्मा सत्य है और आत्मसत्यकी स्थापना किये बिना दूसरेका ज्ञान हो ही नहीं सकता। किसको होगा? तो जिसमें देश नहीं, काल

नहीं, जिसका बाध हो नहीं सकता, जिसके बिना दूसरेकी सिद्धि हो नहीं सकती, ऐसा आत्मसत्य।

तो कहो कि यह दुनिया बनता है—वह तो बदल कर बनता है। बनाता है, तो क्रिया करता हुआ बनाता है। देखो, बनता है तो बदलता हुआ बनेगा और बनायेगा तो क्रिया करता हुआ बनायेगा। अच्छा, बना-बनाया है उसको अपने अन्दर धारण करता है तो उसमें अवकाश है? अच्छा, थोड़ी देरके लिए बना लेता है तो क्या उसमें काल है? थोड़ी देर हो तो काल हो, थोड़ी दूरमें बनावे तो देश हो और बनावे तो क्रियाशील हो और बने तो परिणामी हो। और, यह आत्मसत्य न बदलता है, न बनाता है, न फैलता है, न सिमटता है और न इसमें किसी तरहका अवकाश है। ऐसा यह अखण्ड सत्य आत्मतत्त्व! आप परोक्षरूपसे ही इसको जान लीजिये। परोक्षज्ञानमें एक ही प्रतिबन्ध होता है—अश्रद्धा और अपरोक्ष ज्ञानमें केवल एक प्रतिबन्ध है—अविचार। अपरोक्षज्ञानमें प्रतिबन्ध है अविचार, परोक्ष-ज्ञानमें प्रतिबन्ध है अश्रद्धा। और नारायण! वैसे प्रतिबन्ध और भी हैं। परन्तु मुख्य प्रतिबन्ध यही है।

कहो तो प्रतिबन्धोंकी गिनती करा दें। एक भूत प्रतिबन्ध है। आप किसीसे प्रेम करके यहाँ आये हैं। दुनियामें आपका किसीसे प्रेम है। अब उसको आप घरमें बैठा कर और यहाँ आये हैं। तो वह जो प्रेम किसीके पास रखकर आये हैं, इसलिए यहाँ जो सुना हुआ पदार्थ है, श्रवण है, वह ज्ञानोत्पत्तिमें असमर्थ है। क्योंकि आप अपने प्रेमको वहाँ रखकर आये हैं, तो यहाँ ज्ञान कैसे होगा? यह एक प्रतिबन्ध है।

आगे और एक प्रतिबन्ध और लो। आप मनमें यह संकल्प करके आये हो कि—'ज्ञान श्रवण करनेके बाद हमको यह काम करना है।' यह दूसरा प्रतिबन्ध हो गया, भविष्यका। एक भूतका प्रतिबन्ध लेकर आये हुए हो और एक भविष्यका प्रतिबन्ध रखे हुए हो।

अच्छा, वर्तमानमें जो प्रतिबन्ध है, सो आपको सुना देते हैं।

वर्तमानमें प्रतिबन्ध होते हैं चार—(1) विषयासक्ति, (2) प्रज्ञामांद्य, (3) कुतर्क और (4) विपर्ययमें दुराग्रह। विपर्यय माने मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक सम्प्रदायका हूँ। आप कहोगे—'वाह! मैं कुरान माननेवाले सम्प्रदायका हूँ, तो यह ज्ञान कैसे स्वीकार करूँ?' है न विपर्यय? अपनेको कुरानी-पुराणी-बाईबिली—कुछ भी आप अपनेको मान बैठोगे। एक प्रतिबन्ध-हिन्दू-मुसलमान। तो यह जो विपर्यय है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, संन्यासी—यह विपर्ययमें दुराग्रह होना है। कुतर्क होना माने कायदेसे तर्क नहीं होना और बुद्धिका मन्द होना। और विषयासक्ति होना—ये चार वर्तमान-प्रतिबन्ध हैं।

अब भूत-प्रतिबन्ध हुआ तो मोह करके रखकर आये हो सो। और, भविष्य-प्रतिबन्ध है कर्त्तव्य बुद्ध्या स्वीकृत है सो। और, वर्तमानमें प्रतिबन्ध हैं चार। ये गौण प्रतिबन्ध हैं। ये मुख्य नहीं हैं।

असलमें तो परोक्ष ज्ञानमें केवल अश्रद्धा प्रतिबन्ध है और अपरोक्ष ज्ञानमें केवल अविचार प्रतिबन्ध है। तो आओ, आपको प्रतिबन्ध माने अड़चन, रुकावट है न, मारवाड़ियोंमें बोलते हैं 'अडाँस'! सो हमारे गाँवमें भी बोलते हैं। तो कोई चीज आड़े आगयी है।

यह जो असलमें आत्मा है, यह ब्रह्मका ध्यान करके ब्रह्म हो जाय, यह वेदान्तका अभिप्राय नहीं है। ब्रह्मकी उपासना करके ब्रह्म हो जाय, इसमें भी अभिप्राय नहीं है। यह तो जैसे हम किसी बच्चेको बतावें कि यह घड़ा मिट्टीका है, किसी औरतको बतावें कि यह जेवर सोनेका है, ठीक इसी तरहसे न ध्यान करके ब्रह्म होना है, न हाथ जोड़कर ब्रह्म होना है। असलमें तुम्हारा जो स्वरूप है वह ब्रह्म है। चींटी-माटेका स्वरूप भी ब्रह्म है। अगर चींटी-माटेका स्वरूप ब्रह्म है, तो फिर हम भी ब्रह्म, वह भी ब्रह्म!

ठीक है, वह ब्रह्म अपनेको जानता नहीं है और तुम भी नहीं जानते हो। तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं है और यदि तुमने जान लिया, तो तुममें-उसमें न जाननेका ही फर्क है। परमार्थमें कोई फर्क नहीं है।

अच्छा! तो, फिर हम पुरानी बातमें लौट आते हैं। पुरानी बात क्या है कि आखिर जब आप चित्तको मेरा मानते हैं या चित्तको अहं मानते हैं—यह देखो, यह ध्यानकी कुञ्जी है। आप लोग महाराज, बड़े-बड़े लोग हो, पढ़े-लिखे लोग हैं—हम एक गाँवके फकीरकी बात सुनाते हैं।

मैंने कहा कि—'महाराज! मनमें बुराई आती है।' सामान्य बात तो यही है कि मनमें बुराई आती है तो उसको दूर करना चाहिए, अच्छाई लानी चाहिए। आपके मनमें दानव आता है, उसकी जगह देवता आवे। देवता न आवे तो कम-से-कम मानव तो आवे सामान्य बात तो यही है। पर उस फकीरने जो कहा, सो आपको सुना दें। आप वह सुनकर उसका दुरुपयोग तो मत करना; लेकिन सुना तो देंगे जरूर।

उन्होंने कहा कि अच्छा, इस मनमें बुराई आती है तो तुमको दुःख होता है। तो वह चींटीके मनमें बुराई आती है और साँपके मनमें बुराई आती है और चमारके मनमें बुराई आती है, वह मथुरी भंगीके मनमें बुराई आती है, तो तुमको दुःख क्यों नहीं होता? महात्माने यह सवाल किया।

यह प्रश्न पर प्रतिप्रश्न हो गया। मैंने कहा—'मेरे मनमें बुराई आती है। मुझे बड़ा दुःख होता है तो क्या करें?' तो बोले दूसरोंके मनोंमें बुराई आती है, तो तुमको दुःख क्यों नहीं होता है?

अरे, मणिकर्णिका घाटमें हजारों मरकर जलते रहते हैं तो दुःख नहीं होता और हमारे परिवारका या मित्रोंमें-से किसीकी लाश जलने लगती है तो दुःख क्यों होता है?'

तो, जैसे संसारमें बहुतोंके घरमें चोरी होती है, तो तुम्हें क्यों दुःख नहीं होता और अपनी तिजोरीमें, अपनी जेबमें चोरी होती है तब दुःख होता है। तो असलमें यह जो तुम्हारे पास अपनी तिजोरी, अपना जेब है न! आयी बात ध्यानमें? आगयी न?

असलमें यह जो चित्तको अपने साथ जोड़ लिया गया, 'चित्त मेरा'

और 'चित्त मैं'—यह अविवेक जो है, इसको अविवेक बोलते हैं। यह जो अविवेक है, यह चित्तके साथ जोड़नेमें हेतु है। अविवेक ही चित्तके साथ जोड़नेमें हेतु है।

तो बोले—'भाई! यह चित्त मैं नहीं और मेरा नहीं, इसके लिए क्या करना पड़ेगा?' 'इसके लिए अपने स्वरूपको समझना पड़ेगा।'

किसी-किसीको विचार करते-करते बड़ा विक्षेप मालूम पड़ता है।

'असाध्यः कस्यचित् योगः कस्यचिद् ज्ञान निश्चयः।'

किसीको विचार करना असम्भव है, अशक्य है। क्योंकि बुद्धि-अंश जो है, उसके अन्तःकरणका, वह सुषुप्त है। तो उसको अभ्यास करके कोई स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए। किसी स्थितिमें रहनेका अभ्यास करना चाहिए। 'मैं द्रष्टा हूँ—मैं साक्षी हूँ'—यह भी एक स्थिति है, भला और कोई स्थिति करनेमें किसीको श्रम मालूम पड़ता है। यह भी एक परिश्रम है—स्थिति बनाये रखना-बनाये रखना, पकड़े रखना-पकड़े रखना। यह मुट्ठीको हर समय बन्द रखना जैसे कठिन है, न! यह मत समझना कि हर समय बन्द रख सकते हैं। आप पाँच मिनट बन्द रखकर दिखाओ तब मालूम पड़ेगा। बैठ जाओ एकान्तमें और अपनी मुट्ठीको भींचकर, पाँच मिनट बैठो। पाँच मिनट सिर्फ देखना। थोड़ी देरमें ढीली पड़ जायेगी। क्यों ढीली पड़ जायेगी? वह तो मुट्ठी भींचना नहीं है, वह तो मन भींचना है। मन रहना चाहिए न वहाँ? तो मन तो आपका पाँच मिनट एक जगह टिकेगा नहीं। ठीक इसी तरह एक वृत्तिको पकड़ना—घटाकार वृत्तिको पाँच मिनट आप अपने मनमें रखिये। घड़ा-ही-घड़ा! मुश्किल पड़ेगा। अच्छा तो कोई घड़ा-वड़ा कुछ भी न आवे। हमारे मनमें न घड़ा, न कपड़ा, न मकान कुछ भी न आवे। वह भी वैसा ही है। यह नहीं समझना कि इसमें कोई फर्क है। जैसे रखना मुश्किल है वैसे ही निकालना भी मुश्किल है। वह तो फालतू

जो लोग कुछ करते नहीं हैं, वे सुन-सुनाकर अपनी बुद्धिको बर्गला देते हैं। जैसे घटाकारवृत्तिको पाँच मिनट मनमें रखना मुश्किल है, वैसे घटाभावाकारवृत्तिको भी रखना मुश्किल है।

अभावप्रत्यालम्बनवृत्तिः निद्रा।

उसको भी रखना मुश्किल है। तो चित्तकी स्थितिको तुम पकड़ रखना चाहते हो तो नारायण! श्रम तो पड़ेगा ही। बिना श्रमके नहीं रह सकते।

हमारे गंगा किनारे लोग मजाक करते थे—'यह जो चित्त है न, चित्त! इसको फेंक दो चिदाकाशमें। बिखर जाने दो इसको। जैसे शरीर मिट्टीमें मिल जाता है, पानीमें गल जाता है, आगमें जल जाता है, हवामें सूखकर उड़ जाता है, जैसे आकाशसे एक हो जाता है, वैसे अपने चित्तको उठाकर फेंक दो चिदाकाशमें।'

यह चित्त मेरा क्यों? केवल इसीसे तादात्म्य क्यों? इसका अर्थ है कि जीवत्वका जो भ्रम है, वह दूर नहीं होता है। एक चित्तसे सम्बन्ध मेरा है, यह चित्त मेरा है और इसी चित्तकी बुद्धि मेरी है और मैं बुद्धिमान् हूँ। क्यों भाई? मैं बड़ा विद्वान् हूँ। विद्या कहाँ है? मैं बड़ा त्यागी हूँ। त्याग कहाँ है? मैं बड़ा तपस्वी हूँ। वह तपस्या कहाँ है? मैं बड़ा शान्त हूँ। सीताराम! आप बोलो, शान्ति कहाँ रहती है? चित्त ही में तो रहती है न!

तो; एक चित्तकी शान्ति, एक चित्तकी बुद्धि, एक चित्तकी विद्या, एक चित्तकी निवृत्ति, ये एक चित्तकी कलाएँ मानी जाती हैं। वैराग्य भी एक चित्तकी कला है और विद्या भी एक चित्तकी कला है। शान्ति भी एक चित्तकी कला है और प्रज्ञा भी एक चित्तकी कला है। यह चित्तकी एक-एक कलाओंको मैं और मेरी समझ करके, उसमें चित्तकी स्थिति मेरी स्थिति है, यह अविवेक क्यों? तो परमात्मा श्रीकृष्ण कहते हैं— भगवान् श्रीकृष्ण-बुर्जुआ नाम ले लेते हैं। हम लोगोंको बताया गया था कि जब जिज्ञासुको कभी समझना हो तो बुजुर्गका नाम लेकर उसकी

बुद्धिपर दबाव मत डालना। परन्तु हम कहते हैं कि हमारी बात मत मानो, पर उनकी बात मानो।

एक चपरासीने कहा—'हमारी बात मान लो।' 'नहीं मानेंगे।' अच्छा हम अपने इन्स्पेक्टरको ले आते हैं। 'जब इन्स्पेक्टरकी बात नहीं मानी तब उसने कहा, 'हम कलेक्टरको ले आते हैं।'

तुम हमारी बात नहीं मानते हो तो हम 'कबीर'की सुनाते हैं। 'नानक'की सुनाते हैं। तो जहाँ जिज्ञासु समझनेके लिए स्वयं अपरोक्ष साक्षात्कार करनेके लिए सामने बैठा है और उसके हृदयमें सच्ची जिज्ञासा है उसको हम अपने बड़प्पनको, रौब डालकरके, अपने बुजुर्गोंका दबाव डालकरके उसकी जिज्ञासाको पूर्ण नहीं कर सकते। वह तो स्वयं उसकी बुद्धिमें यह बात आनी चाहिए। समझमें आना चाहिए।

तो आप देखो, ये जितने वेदान्त हैं, वेदान्त साध्य-वस्तुका वर्णन नहीं करते हैं, सिद्ध-वस्तुका वर्णन करते हैं। सिद्ध वस्तु माने ऐसा है। ऐसा है, कहनेका मतलब क्या है, कि यह जो तुम थोड़ी देरके लिए कालकी उपाधिसे चित्तके द्रष्टा बनते हो, यह तो नमूना है। यह जो तुम केवल अपने हृदय-देशमें द्रष्टा बनते हो, यह नमूना है। यह जो तुम घटाकार वृत्तिके द्रष्टा बनते हो, यह केवल नमूना है, तो सच क्या है? यह नमूना असलमें थोड़ी दूरमें नहीं है। यह तो चिन्मात्र ब्रह्म है। यह थोड़ी देरके लिए नहीं है। यह है, इसलिए वेदान्त ऐसा बताता है। देरी और दूरी—देरी है कालमें और दूरी है देशमें। और, यह कोई दूसरी स्थिति नहीं है, कि तुमने बनाकर पैदा की है। बल्कि यह तो तुम्हारा स्वयं सहज स्वरूप है। तुम्हारी अखण्डतामें कोई खोल नहीं है कि उसमें कोई दूसरी चीज रहे। तुममें परिणाम नहीं है कि दूसरी चीज पैदा हो गयी हो। तुममें कोई दूसरी चीज पहले थी नहीं कि मर गयी हो, इस तरह अपने स्वरूपका बोध है।

अब ध्यान और ज्ञानमें अन्तर देखो। '*उपमृद्नाति। चेत् चित्तम्*

ध्याता सौ न तु तत्त्ववित्।' एक दिन बहस हो गयी एकरसानन्द आश्रममें। शास्त्रार्थ हो गया। 'हम सोनेको तब पहचान सकते हैं, जब सोनेको गला दें। सोनेको तोड़ दें, तब हम सोनेको पहचान सकते हैं।' एकने कहा—'बिलकुल मूर्ख हो तुम! न सोना गलानेकी जरूरत है, न हथौड़ेसे पीटनेकी जरूरत है। अरे, उसको तो कसौटीपर कस लिया कि सोना है। अब वह चाहे कंगनके रूपमें हो, चाहे अँगूठीके रूपमें हो। चाहे हाथमें पहनो, चाहे कुण्डल बनाकर पहनो, चाहे हृदयमें हार बनाकर पहनो। सोनेको पहचानना है। सोनेको पहचाननेके लिए तोड़नेकी या गलानेकी जरूरत नहीं है। इसीप्रकार यह सम्पूर्ण जो चित्त या चैत्य, विषय या वृत्ति और जो चित्त है, इसको हम तोड़कर, फोड़कर, गलाकर अपनेको द्रष्टा ब्रह्मके रूपमें अनुभव करेंगे, इसकी जरूरत नहीं है।

मद्रूपः उभयं त्यजेत्।

चित्तको अपने साथ मत मिलाओ और 'मैं'को चित्तके साथ मत मिलाओ। 'मैं'को चित्तसे अलग करके परमात्माके साथ मिला दो। माने चित्तसे अलग किया हुआ आत्मा परमात्मस्वरूप है—केवल यह जान लो और अज्ञान मिटा और चित्त और विषय सब-का-सब परमात्म-स्वरूप ही है। अच्छा, अब यह प्रसंग फिर सुनावेंगे।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 13 :

गीतामें आता है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। 17.3

अब थोड़ी श्रद्धाकी बात सुनाते हैं और अभी चित्तकी बात छोड़ते हैं। असलमें ये जितने आचार्य लोग हैं, अपने-अपने पन्थका प्रवर्तन करते हैं। वह पहले चाहते हैं कि विकारकी निवृत्तिके लिए एक संस्कार दे लें ऐसा और उसके बाद विकार और संस्कार दोनोंसे जुदा कर दें। नहीं तो पन्थ नहीं चले। ग्रन्थ नहीं चले। सम्प्रदाय नहीं चले। पहले विकारोंके निवारणके लिए एक संस्कार डाल लें। यह सभी आचार्योंको अभीष्ट है। यहाँ तक कि यदि आप दृश्यसे अलग रहनेका ही अभ्यास डाल लें, तो जब कभी असावधान हो जाओगे, दृश्यसे तादात्म्य हो जायेगा तो उसके बाद आपको पश्चात्ताप होने लगेगा। क्यों मैं असावधान हो गया? क्यों चित्तसे तादात्म्य हो गया? क्यों हमारी स्थिति टूट गयी? क्यों हमारी स्थिति बिगड़ गयी? क्यों? ऐसा क्यों होता है?

आपको समझमें आजाय ऐसी एक बात सुनाते हैं। सुपारीमें गणेश बनाकर पूजा करते हैं कि नहीं? हमारे यहाँ तो गोबरकी गौरी बनाते हैं। आप जानते हैं, योगिनी चक्र। योगिनीपूजा, मातृका पूजा, नवग्रहपूजा, गणेशपूजा होती है। जिन-जिन चीजोंसे पूजा होती है, उसपर आप ध्यान दो।

आप सुपारीको पहलेसे गणेश मानते हो, कि जब उसमें गणेशकी स्थापना की जाती है, तब मानते हो? अगर आप सुपारीको पहलेसे गणेश मान लोगे तो उसको तोड़कर खा नहीं सकते। पहले सुपारी गणेश नहीं थी। उसमें गणेशकी स्थापना की गयी। अब उसमें चन्दन चढ़ाओ, अक्षत चढ़ाओ, फूल चढ़ाओ और 'ॐ गं गणपतये नमः' करके पूजा करो।

'ॐ गणानां त्वां गणपतिꣳहवामहे' और उसके बाद दक्षिणा भी चढ़ाओ और उसके बाद क्या करो? कि—'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने परमेश्वर!' इसका नाम विसर्जन हुआ। तो जब सुपारीमें गणेश बैठाये गये तो सुपारीपर गणेशपनेका अध्यारोप हुआ और जब गणेशका विसर्जन किया गया, तब उनका अपवाद हो गया। यह देखो, यह धर्मकी प्रणाली है। गणेशको बैठाया भी और गणेशको विदा भी कर दिया। अब इसके बाद वह सुपारी तोड़कर खायी जा सकती हैं कि नहीं? जैसे पहले तोड़कर खायी जा सकती थी, वैसे ही बादमें भी तोड़कर खायी जा सकती है।

बोले—'फिर इसमें फायदा क्या हुआ?' फायदा यह हुआ कि यजमानके चित्तमें यह जो संस्कार बैठा कि 'मैंने गणपति की पूजा की है, इस देवताके सामने सिर झुकाया है, उस सुपारीका स्मरण मैंने नहीं किया है।' सामने रखी थी सुपारी और मैंने स्मरण किसका किया?

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः॥

देखो, सामने रखी थी सुपारी और स्मरण हुआ गणेशका। संस्कार सुपारीका नहीं हुआ, संस्कार तो यजमानके चित्तका हुआ। सुपारीका कहाँ हुआ? उसकी जो वृत्ति है, वह देवताके प्रति श्रद्धालु हो गयी। उसकी वृत्ति गणेशाकार हो गयी। अपने कार्यकी सफलताके प्रति उसके मनमें दृढ़ विश्वासका उदय हो गया कि हमने विघ्नेश्वर-विधि कर ली। अब गणेशजी हमारी मदद करेंगे। एक आन्तरिक मददगार मिल गया। इसीका नाम अध्यारोप-अपवाद है, भला! आपके घरमें गणेशकी पूजा होती है।

यह अन्नमय कोशसे अपहित जो चेतन है, उसको आत्मा बताना भला! राम-राम! यह शरीरकी उसमें उपाधि हो सकती है? प्राणकी उपाधि, मनकी उपाधि, फिर विज्ञानकी उपाधि और फिर आनन्दकी उपाधि, और फिर निरुपाधि तो पहले सोपाधिकमें आत्मापनेका

अध्यारोप और फिर उसका अपवाद। अध्यारोप और फिर उसका अपवाद। अध्यारोप और अपवाद—यह प्रणाली है।

तो आओ, आपको समान्यरूपसे संस्कारकी जो प्रणाली है ध्यान, उसको सुनाते हैं। हमारा जो जन्म है, हमारी जो दीक्षा है, हमारा जो संस्कार है, वह ऐसी पुरानी परम्पराके लोगोंमें हुआ है कि हम भूत-भैरवकी पूजासे लेकर ईश्वरकी पूजातक साक्षात् निराकार परमेश्वरकी पूजा करते हैं। और, एक कर्णिकासे लेकर प्रकृतिपर्यन्त, कीड़ासे लेकर ब्रह्मा पर्यन्तमें किस प्रकारके ईश्वरत्वका अध्यारोप और अपवाद होता है, इस पद्धतिसे शास्त्रोंकी व्याख्या करते हैं। एक कणसे लेकर प्रकृति तक, एक कीड़ासे लेकर ब्रह्मा तक जहाँ कहीं कहो, किसी क्षणमें और किसी कणमें, किसी देशमें, किसी कालमें, किसी वस्तुमें, अनात्मामें-आत्मामें ब्रह्मत्वका अध्यारोप करके और उंसके अपवादकी प्रक्रिया बता दें। यहाँ तक कि अल्पत्वका अपवाद हो जानेके बाद ब्रह्मत्वके अध्यारोपकी-अपवादकी जो प्रक्रिया है, सो भी सुना दें। क्योंकि ब्रह्मत्व स्वतः सिद्ध है। वह कोई प्रमाणादिके द्वारा जन्य नहीं है। ब्रह्मत्वजन्य नहीं है, स्वत:सिद्ध है। इसलिए प्रमाणके द्वारा जिस ब्रह्मत्वका ज्ञान होता है, वह भी कल्पित अल्पत्वके निवारणके लिए सादृश कल्पना ही है।

ऐसी स्थितिमें भूत-पूजा, भैरवपूजा, पितृपूजा, ऋषिपूजा, अवतार-पूजा, ग्रहपूजा, और साथ-साथ ईश्वरपूजा, आत्मपूजा और अपूजा-अपूजामें भी पूजापने करनेका आरोप है और उसका अपवाद है। कुछ नहीं करते। कुछ नहीं करते, यह भी एक पूजा है। अपूजामें भी पूजात्वका अध्यारोप है।

इसलिए हमारी जो शास्त्रीय प्रणाली है, उसको जो लोग शास्त्रीय प्रणालीसे नहीं समझते हैं, वे खण्डन और मण्डनमें, राग और द्वेषके चक्करमें फँसते हैं। चित्तमें राग-द्वेष होगा, दृश्यमें राग-द्वेष होगा, तादात्म्यमें राग-द्वेष होगा? हम अपने तटस्थ कूटस्थ बैठे हैं तो बहुत बढ़िया। इस स्थितिमें राग हो गया। और जब चित्तके साथ तादात्म्य हो

गया तो द्वेष हो गया। तो इस प्रणालिकाको हम बिल्कुल स्वीकार नहीं करते हैं। यदि तुम्हें एक स्थान पर राग होता है और दूसरे स्थानपर द्वेष होता है, तो डर-डरके होता है, भला! यह डरके कारण जो काम होता है, वह बिलकुल गलत होता है।

एक हमारे पास स्वामी रहते थे 'दण्डी स्वामी'—उनका नाम है। अभी मरे नहीं हैं, परन्तु वह दण्डित्व नहीं है। एक बार उन्होंने चिट्ठी लिखी कि आपसे हमारी अमुकने यह निन्दा की होगी, वह निन्दा की होगी। लम्बी चिट्ठी महाराजने लिखकर भेजी। अब! हे भगवान्! उन्होंने जिन-जिनका नाम लिया उन्होंने कभी उनकी निन्दा ही नहीं की थी हमसे! हमको मालूम ही नहीं था कि उनके अन्दर ये-ये दोष हैं। अमुक-अमुक उनकी यह निन्दा कर सकते हैं, बिलकुल ही नहीं मालूम था। उन्होंने जब चिट्ठी हमको लिखी कि हमारी यह-यह निन्दा आपसे की गयी होगी, तब हमें मालूम हुआ कि उनके अन्दर ये-ये दोष हैं।

तो, मनुष्य कभी-कभी अपनी कल्पनासे अपने मनको बिगाड़ देता है। आपको आओ, अब ध्यानकी एक शुरूआतकी प्रणाली सुनाते हैं। आप शान्तिसे बैठ जायँ। आप अपनेको द्रष्टा समझें, ब्रह्म समझें, यह सब बात तो आप बड़े लोगोंकी है। हम एक छोटी-सी बात आपको सुनाते हैं।

यह नाभि है न नाभि। नाभिके पास शरीरमें अग्निका एक केन्द्र है। क्यों केन्द्र है अग्निका वहाँ? यह जो पाचनकी क्रिया होती है, हम तो पहले समझते थे कि यह जब हम दाल-भात-रोटी डालते हैं पेटमें तो पेटमें जानेके बाद कोई चूल्हा होगा। आग जलती होगी और उसे पकाया जाता होगी पेटमें। जैसे हण्डियामें पकाते हैं वैसे पेटकी हण्डियामें पकता होगा। तो जठराग्निका भी एक केन्द्र होता है जो पाचन करती है। वह भौतिक अग्निके समान एक ईंधनसे जलनेवाली नहीं है। वह प्राणकी जो प्रक्रिया है, उसीसे प्रज्वलित होती है। क्योंकि बिना वायुके तो अग्नि

प्रज्वलित होती नहीं है। तो एक जठराग्निका केन्द्र है, वह भौतिक नहीं है। उसको शास्त्रकी रीतिसे त्रिकोण मानते हैं।

त्रिकोण क्यों मानते हैं? यह जब अग्निकी ज्वाला उठती है, तो नीचे वह फैली हुई होती है और ऊपरको सिमटती जाती है।

वैसे शास्त्रमें तो लिखा है कि, अट्ठाइस आहुति देनी चाहिए। लेकिन हम केवल पाँच ही आहुति आपको सुनाते हैं। (1) पहली बात यह है कि देहमें हमारा अभिनिवेश है जिसके कारण मृत्युका भय है। यह देह मैं हूँ, यह देह मेरा है, इसके कारण जो मृत्युका भय है, उसका मैं हवन करता हूँ। और (2) इस देहमें जो 'मैं-मेरा' करके जो दूसरेसे द्वेष है और (3) इस देहके कारण जो दूसरोंसे हमारा राग है, उसका हम होम करते हैं। और (4) जो पापका-पुण्यका कर्त्तापना है, अस्मिता जो है, जो भोग और कर्म दोनोंमें अस्मि-अस्मि, अहं कर्त्तास्मि, अहं भोक्तास्मि है।

हमारे एक साधु हैं, वैसे तो उनके पाण्डित्यकी बड़ी प्रख्याति है। परन्तु यह संस्कृत भाषा ऐसी है महाराज कि वह जरासे-में बता देती है कि कितना पाण्डित्य है?

वे जब 'अस्मिता' शब्दका प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ करते हैं कि जिसमें 'स्मिता' न हो सो अस्मिता। माने मुस्कान न हो। असलमें 'अस्मि' क्रियापद है। तो *अस्मेर भाव: अस्मिता*—अस्मिपनेका जो भाव है कि यह परिच्छन्न मैं हूँ।

तो, 'अस्मितां जुहोमि स्वाहा।' सम्प्रज्ञात समाधि जो है, उसकी गति अस्मि पर्यन्त है और अपने स्वरूपकी ख्याति होने पर अविद्याकी निवृत्ति होती है। तो (5) अनात्मामें आत्मबुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अशुचिमें शुचिबुद्धि, अपवित्रमें पवित्र बुद्धि—यह जो अविद्या है, इस अविद्याका मैं हवन करता हूँ।

आप जब कभी भी भजन करने बैठें—आपके भजनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। आप रामका ध्यान करें चाहे कृष्णका, आप अपनेको

द्रष्टा समझें कि मैं केवल सजग, साक्षी द्रष्टा हूँ अथवा आप समझें कि मैं ब्रह्म हूँ अथवा आप समाधिमें जाकर बिलकुल शान्त होना चाहें—ये सब ध्यानकी पद्धति हैं, इनमें कोई दोष नहीं है। परन्तु, किसी भी ध्यानकी पद्धतिमें जाना चाहें और उसके पहले आप अपनी नाभिमें इस त्रिकोण ज्ञानाग्निका चिन्तन करके,

ॐ अविद्यां जुहोमि स्वाहा।
ॐ अस्मितां जुहोमि स्वाहा।
ॐ रागं जुहोमि स्वाहा।
ॐ द्वेषं जुहोमि स्वाहा।
ॐ अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा।

—पाँच आहुति देकर आप ध्यानमें बैठ जाँय और देखिये रोजकी अपेक्षा आपका चित्त पवित्र हो जायेगा और ज्यादा ध्यानमें लगेगा। यह ध्यानका मददगार है।

अच्छा, आपको एक और आरामकी बात सुनाता हूँ।

वैसे बगीचेमें लोग आरामके लिए जाते हैं, इसलिए बगीचेका नाम भी 'आराम' है। लोग घरका काम-धन्धा, कल-कारखाना छोड़कर जाते हैं बगीचेमें। तो आपको मैं ऐसे आरामकी बात सुनाता हूँ कि यदि आप उसमें पहुँच जायँ तो आरामके मालिकसे भेंट हो जाय।

आरामस्यमपश्यन्ति न ते पश्यति कश्चन—ऋग्वेदका मन्त्र है।

लोग उसके आरामको, बगीचेको देखते हैं परन्तु, जिसका बगीचा है, उसको नहीं देखते हैं।

सब कर्मसे निवृत्त होकर आओ आप आराममें। नारायण, सब मनोरंजन पूरा कर लें, काम पूरा कर लें, भोजन-भाजन पूरा कर लें, रातको कुछ खेल-खाल करना हो तो वह भी पूरा कर लें। आपको कोई भोग-विलास करना हो तो वह भी पूरा कर लें। सीताराम! कोई डरनेकी बात नहीं है। जब आप बिलकुल निश्चिन्त होकर नींद लेनेके लिए पलंगपर सो जाँय, बिलकुल पाँव फैलाकर, आपको यह ख्याल होना

चाहिए कि अब छह घण्टे तक हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है। छह घण्टेके लिए मैं बिलकुल खाली होकर सो रहा हूँ। सो करके आप अपने शरीरको कल्पनासे छह हिस्सेमें बाँट दीजिये। पाँवके नाखूनसे लेकर मलद्वार पर्यन्त पृथिवीका हिस्सा है। पृथिवीकी प्रतिष्ठा मलमें है। कहते हैं कि साधन करनेवालोंका मल भी सुगन्धित होता है। ऐसा वर्णन उपनिषदोंमें मिलता है कि शरीर हल्का होता है, निरोग रहता है, उसमें किसी चीजको देखकर लोलुपता नहीं होती है और शरीरका रंग निखर आता है, स्वरमें माधुर्य आ जाता है। शरीरसे शुभगन्ध निकलता है, मूत्र और पूरीष कम होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में ये योगके प्राथमिक लक्षण बताये गये हैं।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वर सौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपूरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

तो सो जानेके बाद आप देंखे कि यह गन्धप्रधान पृथिवीका अंश है और स्वाधिष्ठान-चक्र मूत्रेन्द्रियके पासका जो भाग है, वह जल-प्रधान है नाभिके पास जो है वह अग्निप्रधान और हृदयके पास अवकाश बहुत अधिक है, इसलिए वायु-प्रधान है। उसमें चलना, फिरना, हिलना, यह जो प्रेशर बढ़ रहा है, धड़कन जो चलती है कम या तेज—यह हृदयके पास ज्यादा होता है। वहींसे रक्त भेजा जाता है। कण्ठके पास आकाशकी प्रधानता है और कण्ठके ऊपरका शिरोभाग जो है, यह मनःप्रधान है। आप ध्यान करके देखो!

अब सोते समय आप क्या करें कि मिट्टीवाला अंश जो है वह जैसे पानीमें मिल गया और पानीवाला अंश अग्निमें मिल गया और अग्निवाला अंश वायुमें मिल गया और वायुवाला अंश आकाशमें मिल गया और आकाशवाला अंश मनः प्रधान जो शिरोभाग है, उसमें मिल गया। मन प्रधान क्यों है इसमें? क्योंकि, कान भी इसीमें, आँख भी इसीमें, नाक भी इसीमें, जीभ भी इसीमें। ज्ञानेन्द्रियोंका प्रधान जो केन्द्र है, वह यह मुख ही है और जो त्वचादिका, कपोलादिका स्पर्श है,

उसकी भी प्रधानता है। तो मन जागरूक होकर शिरोभागमें निवास करता है।

हमने अपने पितामहको मरते देखा था। तो उनका पाँव पहले काला पड़ गया। फिर छाती तक काला पड़ गया, फिर गले तक काला पड़ गया। परन्तु मुँह चमके चम-चम-चम; जैसे सारी रोशनी खींचकर मुँहपर आगयी हो और एक बार हलचल हुई और खतम!

अब देखो, मनके दो हिस्से कर दो—ऐन्द्रियक-इन्द्रिय संज्ञान और विज्ञान। 'विज्ञान' माने बुद्धि। अब वहाँ आप सगुण साकारकी उपासना करते हो तो गुरुदेव हैं। गुरुदेवमें ईश्वर, ईश्वरमें गुरुदेव। और यदि आप निराकारकी उपासना करते हो तो देखो यह सारे जो हिस्से थे छह-के-छह, वे ईश्वरमें लीन हो गये। अथवा आप यों सोचो कि वे छहों चित्तमें लीन हो गये। ये छहों चित्तकी वृत्ति हैं और सातवाँ चित्त है। अथवा ये छह कोश हैं और आप साक्षी हैं। आपको नींद आजायेगी, बिलकुल पक्का। और जब प्रात:काल आपकी नींद टूटे तो ख्याल करके इस बातका, इसमें प्रमाद नहीं होना चाहिए कि आपके चित्तमें से या प्रकृतिमें-से या ईश्वरमें-से मन:प्रधान शिरोभाग प्रकट हुआ। उसके बाद आकाश प्रधान कण्ठ भाग प्रकट हुआ, वायु प्रधान हृदयभाग प्रकट हुआ, अग्नि प्रधान नाभिभाग प्रकट हुआ और जल प्रधान मूत्रेन्द्रिय भाग प्रकट हुआ और पृथिवी प्रधान निम्न भाग प्रकट हुआ। यह रोज सोते समय परस्पर लीन करके सोवें और परस्पर उदय करके जागें। आप यदि छह महीने बिना-नागा सोते और जागते समय इस वृत्तिका अभ्यास करें तो क्या होगा कि यदि ईश्वरमें आप सबको लीन करके सो जायेंगे तब तो आपकी शरणागति सिद्ध हो जायगी और यदि चित्तमें सबको लीन करके सो जायेंगे, तब समाधि सिद्ध हो जायगी और तटस्थ होकर सो जायेंगे तो आपकी द्रष्टाकी स्थिति मजबूत हो जायेगी और यदि आप ब्रह्मभावसे सो जाने देंगे तो आपकी ब्रह्मनिष्ठा दृढ़ होगी। इसके लिए अलगसे समय निकालना नहीं, अलग स्थान निकालना नहीं। थोड़े ही दिनोंके बाद

आपको ऐसा लगेगा कि मैं नींदमें नहीं सोता हूँ, मैं समाधिमें सोता हूँ। आपका चित्त बिलकुल हल्का हो जायगा।

तो, असलमें चित्तमें हल्कापन लानेके लिए ये सब साधन हैं। व्यवहार छुड़ानेके लिए नहीं हैं।

आजकल हमारे साधक लोगोंके मनमें एक ऐसी बात समा गयी है कि हम संसारके सुख-दुःखसे तो छूट जायँ और उनके जो हेतु हैं, उनमें लगे रहें। तो, यह जो असंगता आप चाहते हैं कि थोड़ी देर तक 'मैं दुःखी हूँ' इस वृत्तिसे हमारा सम्बन्ध न हो। वह तो आप अपने 'मैं'को दुःखके साथ मिला देते हैं तभी दुःखका अनुभव होता है और 'मैं'को सुखके साथ मिला देते हैं तभी सुखका अनुभव होता है। तो साधक जब यह चाहने लगता है कि हम राग-द्वेष न छोड़ें और सुख-दुःखसे मुक्त हो जायँ; हम पाप-पुण्य न छोड़ें और सुख-दुःखसे मुक्त हो जायँ; तो पाप-पुण्य छोड़े बिना, राग-द्वेष छोड़े बिना जो सुख-दुःखसे मुक्त होनेका ख्याल करेगा, उसका वह ख्याल हमेशा अधूरा रहेगा और संसारकी ओर खिंचता रहेगा। इसलिए, पाप-पुण्यसे छूटकर, राग-द्वेषसे छूटकर यदि आप सुख-दुःखसे छूटना चाहेंगे तो छूट जायेंगे।

इस प्रसंगमें एक जरा-सी बात और सुन लो आप! वह क्या है? आप लोगोंमें जो कायदेसे वेदान्तका स्वाध्याय नहीं करते हैं, उनको यह बात मालूम नहीं होगी और जो कायदेसे करते हैं, उनको जरूर मालूम होगी। पदार्थ दो तरहके होते हैं—एक आभासभास्य होता है और एक साक्षीभास्य होता है। यह घड़ी जो है उसको हम देखते हैं जरूर; परन्तु मन और आँखके द्वारा देखते हैं। तो मन और आँख आभास हैं और इनके द्वारा घड़ी दिखती है। परन्तु, ये मन और आँख किसके द्वारा दिखते हैं? ये साक्षीको दिखते हैं। आँखका साक्षी है, मनका साक्षी है, वृत्तियोंका साक्षी है, चित्तका साक्षी है।

तो यह जो सुख-दुःख हैं, ये घड़ीकी तरह आभास-भास्य नहीं हैं। कोई भी दुनियामें यह कहेगा कि यह रूमाल सुख है या यह रूमाल

दुःख है, परन्तु, रूमालमें सुख-दुःख असलमें आरोपित किये गये हैं। रूमाल न सुख है, न दुःख है। तब सुख-दुःखका अनुभव कहाँ होता है? आभासके द्वारा माने मन और इन्द्रियोंके द्वारा सुख-दुःखका बाहर कहीं अनुभव नहीं होता। असलमें साक्षी जब अपनी साक्षिताको विस्मृत करके मनके साथ तादात्म्यापन्न होता है तब मनोगत सुखको अनुभव करके 'मैं सुखी हूँ' अथवा मनोगत दुःखको अनुभव करके 'मैं दुःखी हूँ'—यह अनुभव करता है। आप कोई भी सज्जन रूमालकी तरह यह सुख है, यह दुःख है—यह न देख सकते, न दिखा सकते। माने दुःख-सुखमें न आकृति है, न रंग-रूप है, न कोई उम्र है, न वजन है, न स्थान है। केवल किसी भी अनुकूल मनोवृत्तिके साथ मैं जोड़ देंगे तब 'मैं सुखी हूँ'—यह अनुभव होगा और जब प्रतिकूल मनोवृत्तिके साथ अपनेको जोड़ देंगे, तब 'मैं दुःखी हूँ' यह अनुभव होगा। यदि आप मनोवृत्तिके साथ अपनेको न जोड़ें तो ये दोनों अनुभव आपको नहीं होंगे। असलमें सुख-दुःख नामका कोई वजनदार पदार्थ, ठोस मैटर नहीं है। और नारायण, यह ध्यानिक ही है। आपने अपने ध्यानीपनेका ध्यान किया और आप सुखी हो गये और आपने अपने दुःखीपनेका ध्यान किया और दुःखी हो गये। मनुजी कहते हैं सब ध्यानिक है—

ध्यानिकं सर्वं एतत्।

तो सुखाकार-दुःखाकार जो मनोवृत्ति है उसके साथ तादात्म्य ही सुखीपना-दुःखीपना है। इसलिए, जहाँ तटस्थता है, कूटस्थता है, असंगता है, साक्षिता है, ब्रह्मता है, वहाँ सुखीपना और दुःखीपना बिलकुल नहीं है। आपको संसारी और सुखी-दुःखीपनेसे छुड़ानेकी यह अध्यात्म-विद्या है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 14 :

जिसमें कुछ करनेकी विधि हो, कुछ करना हो तो प्रेक्टिकल और प्रक्रियात्मक कुछ होना चाहिए। आज मैं रास्तेमें—दरवाजेपर जब चढ़ने लगा, तो एक सज्जनने हमसे कहा कि 'स्वामीजी! कल जो आपने बताया था, वह ठीक-ठीक ग्रहण नहीं हुआ। उसको आप थोड़ा-सा और बता दीजिये।'

देखो, मनुष्य जो है, वह अपने व्यक्तित्वसे, आबद्ध है। यही नाखूनसे लेकर चोटी तक, यही हाथ-पाँव, यही दिल-दिमाग, यही अपना शरीर है, यह मैं हूँ—ऐसा कुछ फँसाव हो गया। इस व्यक्तित्वमें-से उठनेकी कोई प्रक्रिया चाहिए।

तो कल मैंने दो तरहकी बात बतायी थी—एक तो वासना-निवर्तक और एक अहंभाव-निवर्तक। अब हम उसकी आलोचना करते हैं जो प्रक्रिया हमने बतायी थी। उसमें एक प्रक्रिया यह थी कि शरीरके भीतर एक अग्निका स्थान है और वह है, जठराग्नि। पेटमें आग रहती है। तो, पेटमें आग नहीं हो तो अन्नका पाचन नहीं हो। यदि समष्टिमें आग नहीं हो, तो शीतलताका निवारण नहीं हो सकता। और शीतलता उत्पन्न भी नहीं हो सकती। यदि राष्ट्रमें आग न हो तो दुष्टोंको दण्ड नहीं दिया जा सकता। थोड़ी-थोड़ी आगकी भी जरूरत है। पेटमें आग न हो तो पाचन न हो। तो यह जो जठराग्नि है, वहाँ एक त्रिकोणचक्र-क्योंकि अग्निकी जो लपट है, वह त्रिकोण होती है और उसमें सत्त्व-रज-तम तीनोंका मिश्रण है। तो यह त्रिकोणात्मक चक्र है। वह्निकुण्ड उसको बोलते हैं—अग्निकुण्ड और उसमें ज्ञानकी आग जलती है। यदि उसमें भौतिक आग जले तो पेट जल जाय।

तो, वह जो ज्ञानकी आग जलती है, आप शान्तिसे बैठें और समझकर कि किस चीजका आप होम कर रहे हैं—केवल पाँच आहुतिका हवन करना। ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है और उसमें पाँच हवन। तो वह आहुतिका स्वरूप तो है दूसरा। देहमें जो 'मैं' होनेके कारण मौतका डर लगा रहता है, रोगका डर लगा रहता है, उसके लिए—

अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा।

यह है। और, किसीसे दुश्मनी न हो जाय, द्वेष न हो जाय, उसके लिए—

द्वेषं जुहोमि स्वाहा।

आदमीको द्वेषका भी पता नहीं लगता। द्वेष रहता है उसके मनमें; लेकिन पता नहीं चलता कि हमारा किसीसे द्वेष है। एक मजिस्ट्रेटके सामने एक अपराधी उपस्थित किया गया। उसके ऊपर यह अभियोग था कि उसने किसीको गाली दी है। तो मजिस्ट्रेटने पूछा कि—'भाई! तुम गाली देते हो?'

उसने कहा—'नहीं साहब! किस सालेने आपसे कहा? उस बदमाशकी मैं बोटी-बोटी काट डालूँगा। मैं कभी किसीको गाली देता ही नहीं हूँ।'

तो मजिस्ट्रेटने कहा कि—'ठीक है।' तो आदमीके अन्दर द्वेष कितना भरा है, वह उसकी जबानसे निकलता रहता है। उसकी क्रियासे प्रकट होता रहता है। वह दूसरेको फूटी आँख भी नहीं देखना चाहता है। तो रोज ज्ञानकी आग प्रज्ज्वलित करके और 'द्वेषं जुहोमि स्वाहा' हमारे हृदयमें किसीके प्रति द्वेष न हो। और तीसरी है—मनुष्य रागके कारण पक्षपात करता है और वह कहता है कि 'तुम हमको पक्षपाती समझते हो?' दिन-रात पक्षपात करेगा और कहेगा कि 'तुम हमको पक्षपाती समझते हो? तो उसके लिए एक आहुति दो—

रागं जुहोमि स्वाहा।

और एक जो अपना अहंभाव है—यह जो बारम्बार इन्सल्ट होती रहती है न, कि हमारा यह अपमान हुआ कि हमारा यह अपमान हुआ; असलमें हम ही अपना अपमान स्वयं करते हैं। जब हम अपनेको हड्डीमें, चाममें, मांसमें, पीबमें, विष्ठामें, मूत्रमें डाल देते हैं और इसीको जब 'मैं' कहने लगते हैं, तो हमने जितना अपना अपमान किया, उतना अपमान हमारा कोई दूसरा क्या कर सकेगा? तो—

अस्मितां जुहोमि स्वाहा।

अहंभाव न हो। वह अहंभाव समाधिका भी न हो कि 'मैं शान्त हूँ', 'समाधिस्थ हूँ'—ऐसा अहंभाव भी अपने मनमें न हो। 'मैं मूढ़ हूँ'—यह भी न हो और 'मैं बड़ा कारबारी आदमी हूँ' यह भी न हो और 'मैं शान्त हूँ'—यह भी न हो। पाँचवीं आहुति क्या है?

अविद्यां जुहोमि स्वाहा।

यह पाँचवीं आहुति होती है। अपवित्रको पवित्र समझना और अनित्यको नित्य समझना, दु:खको सुख समझना और अनात्माको आत्मा समझना यह चार प्रकारकी अविद्या होती है।

तो भगवान् शंकराचार्यने नित्यकर्ममें इस आन्तर-होमको रखा है—

ॐ अविद्यां जुहोमि स्वाहा।
ॐ अस्मितां जुहोमि स्वाहा।
ॐ रागं जुहोमि स्वाहा।
ॐ द्वेषं जुहोमि स्वाहा।
ॐ अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा।

तो, इसको मनुष्य समझ ले। आध्यात्मिक लाभ समझनेसे अधिक होता है। आधिदैविक लाभ विश्वाससे अधिक होता है। माने किसी देवतापर विश्वाससे अधिक लाभ होता है और आधिभौतिक लाभ जो होता है वह प्रयोगसे, कर्मसे अधिक होता है। आधिभौतिक लाभके लिए कर्म-प्रयोग चाहिए और आधिदैविक लाभके लिए विश्वास चाहिए और

आध्यात्मिक लाभके लिए समझ चाहिए। तो जो भी करना हो, समझकर करना। यह वासना-निवर्तक होम है।

अब देखो—एक अहंभाव-निवर्तक-व्यवस्था आपको सुनायी। दूसरी यह है कि आप लेट जायँ। खास करके उसी कामके लिए नहीं लेटें, नहीं तो एक संकल्प बना रहेगा और वह शरीरमें शिथिलता नहीं आने देगा। तो कैसे लेटना?

जब आपके घरके सारे काम पूरे हो जायँ, आप खा-पी लें। आप ताश-पत्ता खेलते हों तो खेल लें। और नारायण! हम सबके बारेमें तो ऐसी बात नहीं कह सकते। भोग-विलास करते हों तो कर लें। माने कोई शारीरिक चिन्ता जब न रहे, तो आप जिस पलंगपर हमेशा सोते हैं उस पलंगपर। उसके लिए पवित्र आसनकी कोई जरूरत नहीं है। लेकिन शरीरको बिलकुल ढीला छोड़ दें। और मन-ही-मन शरीरमें छह भाग बैठायें—

एक मिट्टीका भाग, एक पानीका भाग, एक अग्निका भाग, एक वायुका भाग, एक आकाशका भाग और एक मनका भाग। तो यह कैसे देखना होगा कि यह जो मल निकलता है न, अपने शरीरमें-से—तो पाँवके नाखूनसे लेकरके मलद्वारपर्यन्त मृत्तिका प्रधान भाग है शरीरमें। 'गन्धवती पृथिवी'। और उसके बाद मूत्रेन्द्रियपर्यन्त जलप्रधान भाग है। तो मिट्टी पानीमें मिल गयी।

यह आपके शरीरमें कभी-कभी पसीना होता होगा। तो सूखनेपर वह मैल हो जाता है। तो, पसीना ही मिट्टी बनता है। आप तो जानते हैं कि मैटर जो है वह विद्युत बन जाती है, शक्ति बन जाती है और विद्युत् जो है, वह पदार्थ बन जाता है।

इस प्रकार शक्ति और पदार्थ, पदार्थ और शक्ति। तो मिट्टी-पानीवाले हिस्सेमें मिल गयी। और, उसके बाद नाभि पर्यन्त अग्नि है। तो वह पानीवाला हिस्सा अग्निमें मिल गया। तो नाभिसे लेकर हृदयपर्यन्त वायुकी प्रधानता है। साँस आती-जाती है। वह वायुमें मिल

गया। और हृदयसे लेकर कण्ठपर्यन्त आकाश है। तो वायु आकाशमें मिल गया।

अब कण्ठसे लेकरके आज्ञाचक्र-पर्यन्त—आज्ञाचक्र माने दोनों भौंहोंके बीचका स्थान। यहाँ तक मनका विभाग है। आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघती है, जीभ चखती है। मुँहमें इन्द्रियोंमें मन-ही-मन होता है। कपोलमें स्पर्श भी बड़ा प्यारा लगता है। ठुड्डीका स्पर्श भी बड़ा प्यारा लगता है। तो इसमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पाँचोंके ग्रहणकी जो इन्द्रियाँ हैं और अनीन्द्रिय है, उसको मन बोलते हैं। मनका निवास उसमें है। तो आकाशको मनमें मिला लेते हैं। अब मनके दो विभाग होते हैं। एक वासनासे सम्पृक्त, वह ऐन्द्रियक वासना है और एक वासनासे असम्पृक्त। तो वह बुद्धिका जो विभाग है, वह शिरोभागमें रहता है।

तो अब देखो—आप उस वासनामुक्त ज्ञानमें अपने मनको मिला दीजिये और उस ज्ञानको यदि आपको आलम्बन चाहिए तो गुरुरूपमें देख सकते हैं। इष्टदेवके रूपमें देख सकते हैं। समाधिके रूपमें देख सकते हैं। शून्यके रूपमें देख सकते हैं। ईश्वरके रूपमें देख सकते हैं। उस ज्ञानमें सब कुछ मिल गया और आप लेटे-लेटे, सोते-सोते देखेंगे कि यह आपने लयकी प्रक्रिया बरती है, इसका नाम 'लयप्रक्रिया' है। यदि इसमें नींद आजायगी तो भी कोई हर्ज नहीं और नींद नहीं आवे, समाधि लग जाय तो भी कोई हर्ज नहीं। और गुरुसे, इष्टदेवसे तादात्म्य हो जाय तो भी कोई हर्ज नहीं और बुद्धि निर्विषय हो जाय, शून्यको विषय करके निर्विषय हो जाय तो निर्विषय हो जाने दो। कूटस्थ आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित है, तुम इसके द्रष्टा हो—यह भी बढ़िया है।

तो चाहे द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति हो जाय और चाहे समाधि लग जाय, चाहे शून्य दिखे, चाहे इष्ट दिखे चाहे गुरु दिखे, इससे हमारा कोई मतलब नहीं है। पर नींदके बाद प्रातःकाल जब उठें तो फिर आप इस

प्रक्रियाका ध्यान कर लें। ज्ञानात्मक शिरोभागसे यह मुखस्थ मनोभागमें और वहाँसे कण्ठस्थ आकाशमें, वहाँसे हृद्देशस्थ वायुभागमें, वहाँसे नाभिदेशस्थ अग्निभागमें और स्वाधिष्ठानस्थ जलभागमें और उसके नीचे पृथिवीभागमें, फिर समूचे शरीरमें चेतना व्याप्त हो गयी और उसके बाद उठकर आप काम कीजिये। इसप्रकार यदि बिना व्यवधानके—टूटे नहीं और छह महीने तक कोई यदि अभ्यास करे—होना यह चाहिए कि सोते समय लीन कर ले और जागते समय सृष्टि बना ले, तो छह महीनेके अभ्याससे ही मालूम पड़ने लगेगा कि आपके जीवनमें एक विलक्षण विश्राम, एक विलक्षण शान्ति आ गयी है।

अब एक दूसरी पद्धति सुनो। यह तो कलकी दुहरानेके लिए किसी सज्जनने कही थी। तो उनकी बात मानकर मैंने दुहरा दी। अब आप बैठ जाँय। बैठनेमें जरा भी तनाव शरीरपर या पीठकी रीढ़में या कण्ठमें या शिरमें कहीं भी नहीं होना चाहिए। हम पद्मासनको आसन नहीं बोलते हैं और न शीर्षासनको आसन बोलते हैं।

स्थिरं सुखमासनम्।

जिसमें सुखकी संवित् स्थिर हो जाय उसका नाम आसन होता है। आपका आराम बना रहे, नींद भी न आवे और विक्षेप भी न हों। जब दर्द हो रहा हो—यह घुटना दुःख रहा है और आसन मारकर बैठे हैं, वह नहीं। उसका नाम आसन नहीं है। चाहे आसनकी मुद्रामें भले आप बैठे हुए हों। आसनकी मुद्राका नाम आसन नहीं है। आपका विश्राम, आपका आराम, आपका सुख बिलकुल स्थिर होना चाहिए।

अब आपको एक मानसिक प्रक्रिया सुनाता हूँ। वह मानसिक प्रक्रिया क्या है? पीठमें जो रीढ़ है न, इसके साथ-ही-साथ एक शक्तिदण्ड है। शक्तिदण्ड ब्रह्मदण्ड—वह ब्रह्म भी है और उसमें शक्ति भी लिपटी हुई है— माया। यह हम जो ध्यान करनेके लिए कह रहे हैं, तो जब आप ध्येय बनाओगे तो यह शक्ति माया हो जायगी। तो एक शक्ति है और एक शक्तिका आधारस्तम्भ है।

जैसे देखो, यहाँ बिजलीकी रोशनी हो रही है। तो बिजली तो शक्ति है, परन्तु उसके लिए जो डण्डा बना हुआ हैं, लम्बा-सा, यह क्या हैं? यह उसका आधार है। तो सर्वत्र ज्ञानके लिए, शक्तिके लिए एक आधार होता है। बिना आधारके न कोई शक्ति होती है, न कोई ज्ञान होता है। तो यह जो सम्पूर्ण शरीरमें जो ज्ञानतन्तु फैलते हैं, उनका आधारभूत एक मेरुदण्ड है और उसमें भी, इड़ासे भी, पिंगलासे भी सूक्ष्म एक सुषुम्ना छिद्रात्मक नाड़ी है, उसमें योगी लोग और भी सूक्ष्म बताते हैं—शंखिनी, चित्रिणी-कई उसके भेद होते हैं। उससे कोई हमारा मतलब नहीं है।

मतलब तो केवल यह बतानेका हैं कि जब आप बैठें तो एक शक्तिदण्ड, एक ज्योतिर्मय दण्ड है। अब आप बार-बार उसमें एक भाग जोड़े *'मूल श्रृंगात् शिर: सुषुम्नापथेन जीव-शिवम् परमशिवपदे योजयामि, स्वाहा!'*

यह जो मूलाधार चक्रसे लेकरके शिरतक एक सूक्ष्मतम ब्रह्मदण्डमें जो सुषुम्ना-मार्ग जा रहा है, उस रास्तेसे हम बार-बार नीचेसे ऊपर, नीचेसे ऊपर, शिरके सुषुम्ना-मार्गसे, जैसे कमलमें-से ताँत निकलती है, उतने सूक्ष्म मार्गसे हम नीचेसे ऊपर प्रवेशकर रहे हैं। और अपने जीव-शिवको परम शिवसे एक कर रहे हैं।

'**जीवशिवं परमशिवपदे योजयामि स्वाहा**'!

यह जीव शिव है और हम इसको परम शिवके साथ एक कर रहे हैं। माने जीवभावका परित्याग कर रहे हैं। तो इससे क्या होगा? कि आपकी जो शक्तियाँ अधोगामिनी हो रही हैं। जो लोग हाथसे काम करते रहते हैं, उनकी शक्ति हाथमें रहती है। जो पाँवसे काम करते हैं, उनकी शक्ति पाँवकी ओर चली जाती है। तो देखो जिनकी आँख नहीं होती है, उनकी शक्ति दिमागमें कभी आ जाती है, कभी कानमें आ जाती है। जो लोग मौन हो जाते हैं, उनकी शक्ति लिखनेमें आ जाती है। अथवा वर्ष-दो-वर्ष जो लोग मौन रह लेते हैं तो उनके अन्दर बोलनेकी शक्तिका विकास हो जाता है। यह भी देखनेमें आता है।

तो, यह जो जीवश्रृंगको परम शिवमें मिलाना है, तो कोई कहे कि भावात्मक है। हाँ, यह आपकी स्त्री भी भावात्मक है, पुरुष भी भावात्मक है मन भी भावात्मक है, दुश्मनी भी भावात्मक है। तो भावात्मक-भावात्मकमें ही तो, आप फँसे हुए हैं। तो इस देहमें जो अहंभाव है, उसको अनन्तमें मिलाइये।

अनन्तसे मिलानेकी जो प्रक्रिया है, इसके बारेमें अब एक बात आपको सुनाता हूँ। एक चीज हमारे सामने रखी हुई थी, पर मेरी दृष्टि उसपर नहीं गयी। दृष्टि तो पहलेसे थी। एकने कहा—यहाँ चीज रखी है। हमने सामान्य रूपसे देखा, नहीं दिखी, तो हमने कहा—'हम नहीं देख रहे हैं, हम नहीं जान रहे हैं।' फिर किसीने बता दिया तो जान लिया। अब फिर चीज वैसी दिख रही है, वैसी जानी जा रही है। तो असलमें अज्ञानको भी दृष्टि ही देखती है।

घड़ेको हम नहीं जानते हैं, यह बात भी हमारा ज्ञान ही जानता है और घड़ेको जान लेनेके बाद भी ज्ञान ही रहता है। परन्तु एक क्रिया जो बीचमें हुई, उसपर आपका ध्यान नहीं गया। घटकी अज्ञानताको निवृत्त करनेके लिए एक ज्ञानता उत्पन्न हुई। 'यह घट है'—ऐसा बतानेपर हुई या दृष्टि वहाँ पहुँच जानेपर हुई। किसी भी तरहसे हुई। जहाँ पहले हम 'घटको नहीं जानते'—यह बुद्धि थी, वहाँ हम 'घटको जान गये', यह बुद्धि उत्पन्न हुई और फिर मिट गयी। लेकिन वह ज्ञान जो घड़ाको जाननेसे पहले था, वह बादमें भी रहेगा। और घटकी अज्ञानता मिटा करके उसकी ज्ञानता भी मिट गयी। यह एक अद्भुत प्रक्रिया है वेदान्तकी। और जो चलते-फिरते लोग जिसको—'वाचयामास भारतम्'—कर देते हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती है। इसकी जरूरत है।

असलमें जो अज्ञानको देख रहा है, वह भी द्रष्टा है और घटाकार वृत्ति शान्त हो गयी, उसको जो देख रहा है, वह भी द्रष्टा है। परन्तु घटके अज्ञानको मिटानेवाली एक जो घटक-ज्ञानात्मक वृत्ति उत्पन्न हुई थी

उसने अज्ञानको भी मिटा दिया। वेदान्तका कहना यह है कि अज्ञानको देखनेवाला जो साक्षी था, घटाकार वृत्तिको देखनेवाला, वही साक्षी है। परन्तु घटके ज्ञानने घटके अज्ञानको मिटा दिया और साक्षी पहले भी था, बीचमें भी था और बादमें भी रहेगा। तो हुआ क्या कि अज्ञानको मिटानेके लिए एक विशेष प्रभावृत्तिके उदयकी अपेक्षा रहती है। नहीं तो अज्ञान ज्यों-का-त्यों बना रह जायेगा। अज्ञान मिटेगा नहीं। यहीं वेदान्तकी आवश्यकता होती है।

अब हम इस बातको आपको बहुत प्रेमसे सुनाते हैं। कहो, आपको काव्यकी भाषामें सुना दें। एक चिदाकाश है, वह स्वयंप्रकाश है। आकाश तो है, परन्तु वह शून्याकाश नहीं है। निर्मल निरवकाश है, शुद्ध चिदाकाश है। स्वयंप्रकाश है। नीरव निरवकाश है। आकाशमें खं होता है, शब्द होता है, पोल होती है, अवकाश होता है। तो वह भी उसमें नहीं है। वह आकाश तो है; परन्तु न तो वह शब्द-गुणका आश्रय है और न तो किसीको अवकाश देता है। उसका नाम है चिदाकाश। उसका नाम है स्वयंप्रकाश। वह है नीरव निरवकाश। नारायण! माने वह न शब्दका आश्रय है और शब्द तन्मात्रासे उत्पन्न नहीं है और वह अवकाशात्मक नहीं है। अब देखो, आपको उसकी पहचान बताते हैं।

वेदान्तकी प्रक्रिया लो, युक्ति लो, अनुभव लो, तर्क लो। यह जो असत्य भासता है, उसका अधिष्ठान है, इसलिए सत्य है। वह जड़ताको प्रकाशित करता है, इसलिए चेतन है। उसीके लिए सब है, इसीलिए आनन्द है। और सबके साथ सम्बन्ध है इसलिए पूर्ण है। और वह अपनी आत्मासे अतिरिक्त होनेपर और कुछ नहीं हो सकता—इसलिए अपना आत्मा है।

यह जो नीरव निराकाश चिदाकाश है इसमें विलक्षणता क्या है? उसमें स्पर्श तो है—

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। गी. 6.28

उसमें स्पर्श तो है; परन्तु त्वचा नहीं है और वायु भी नहीं है।

अनन्त स्पर्श है, परन्तु उसमें न त्वचा है न वायु है, और न स्पर्शाकार वृत्ति है और न अहंस्पृष्टाभिमान है। मैं स्पर्श करनेवाला अभिमान नहीं है।

वह सौन्दर्य है; परन्तु ऐसा सौन्दर्य है जो किसी आकृतिके आश्रित नहीं है। उसको देखनेके लिए सूर्यकी रोशनी अपेक्षित नहीं है। उसको देखनेके लिए आँखकी जरूरत नहीं है। वह किसीका दृश्य नहीं है, ऐसा सौन्दर्य है। वह सुकुमारता है, वह एक रस है रस! ऐसा रस है जो जल आदिके आश्रित नहीं है। वह ऐसा रस है जिसको चखनेके लिए जीभकी आवश्यकता नहीं पड़ती। जिसको चखकर कोई भोक्ता नहीं बनता। स्वादी नहीं बनता, ऐसा रस है और अनन्त रस है।

एक सौरभ है, एक गन्ध है, एक सुगन्ध है, परन्तु वह पृथिवीके आश्रित नहीं है। उसको सूँघनेके लिए नासिकाकी जरूरत नहीं पड़ती। उसमें गन्धाकार वृत्ति—देखो, यह गुलाबका इत्र है, यह खसका इत्र है, यह मिट्टीका इत्र है—यह भेद उसमें नहीं होता। यह चमेलीका इत्र है, यह भेद उसमें नहीं होता। वह सुगन्ध है, परन्तु उसमें किसी भी द्रव्यका आश्रय नहीं है। सूँघनेके लिए किसी नासिकाकी आवश्यकता नहीं है और उसमें सूँघनेवाला कोई अभिमानी नहीं है। ऐसी जो अखण्ड वस्तु है, वह एक मधु है।

'मधुब्राह्मण' है। 'वृहदारण्यक-उपनिषद्'में 'मधुब्राह्मण है। तेईस वस्तुओंका मधुके रूपमें वर्णन है—

'ॐ मधु मधु मधु मधु!

'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानाम् मधु।' यह पृथिवी है, यह मधु है, यह रस है। परन्तु इसमें कोई चषक नहीं है, कोई प्याला नहीं है, कोई पिलानेवाला नहीं है, कोई सुराही नहीं है। न साकी है, न प्याला है। ऐसा है रस। न पीनेवाला अभिमानी है। केवल रस-ही-रस, केवल सुगन्ध-ही-सुगन्ध! परन्तु उस रस और सुगन्धमें भेद नहीं है।

केवल सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य, परन्तु सौन्दर्य, रस और सुगन्धका भेद नहीं है। केवल सौकुमार्य-ही-सौकुमार्य, केवल चिदाकाश-ही-

चिदाकाश। निरवकाश, नीरव स्वयंप्रकाश प्रत्यक् चैतन्य परमानन्दघन।

यह मैंने क्या सुनाया? आपको यह ज्ञान सुनाया कि ध्यान? इसका नाम ध्यान है, भला! इसका नाम ध्यान है, इसका नाम ज्ञान नहीं है। यह तो ज्ञानकी छत्रछायामें संवादी-भ्रम है। इसका नाम है संवादी भ्रम। संवादी भ्रम और विसंवादी भ्रम-दो तरहके भ्रम होते हैं। संवादीभ्रम—दूरसे रोशनी दिखी। देखनेवालेके मनमें ख्याल हुआ कि यह दीयेकी रोशनी है। एकके मनमें यह ख्याल हुआ कि यह मणिकी रोशनी है। दोनों रोशनीकी ओर दौड़े। अब जिसको दीपककी रोशनीमें मणिका भ्रम हुआ था, वह विसंवादी भ्रम है। दीपककी रोशनीमें मणि प्राप्त नहीं हो सकता। लेकिन, जिसको दीपककी रोशनीमें दीपकका ही भ्रम हुआ था, उसको दीपककी प्राप्ति होगी। लेकिन मणिकी रोशनीमें जिसने दीपक समझा था, उसको दीपक नहीं मिलेगा। जिसने मणि समझा था, उसको मणिकी प्राप्ति होगी। जैसी वस्तु है, उसके अनुसार कल्पनाका उदय होना—यह संवादी भ्रम होता है और जैसी वस्तु है उसके विपरीत कल्पनाका उदय होना, यह विसंवादी भ्रम होता है। आपको जो मैं सुना रहा हूँ, द्रव्य नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, भोक्ता नहीं है—

सर्व एष सर्व रसः सर्व गन्धः।

यह सर्व रस है, यह सर्व गन्ध है। यह असत्यका आश्रय सत्य, जड़ताका प्रकाशक चेतन और यह सबका शेषी आत्मा। सबका शेषी माने जिसके लिए सब, वह परमानन्दस्वरूप। यह जो आत्मदेव है, जिसके लिए सब और जिससे सम्बद्ध होकरके सब भासता है, इसमें असलमें ज्ञाता और ज्ञेयका विभाग नहीं है। इसमें नित्य अनित्यका विभाग नहीं है। इसमें आत्मा-अनात्माका विभाग नहीं है। इसमें द्रष्टा-दृश्यका विभाग नहीं है। इसमें चेतन-अचेतनका विभाग नहीं है। इसीलिए केवल भाषाका भेद होता है, वस्तुका भेद नहीं होता और यह

पूर्णताका बोध समग्र भेदको, विशेषको पी जाता है। सारा व्यवहार होते हुए भी ब्रह्म है, चलते हुए भी ब्रह्म है, खाते हुए भी ब्रह्म है, पीते हुए भी ब्रह्म है।

परन्तु जो ब्रह्मज्ञान है; वह एक क्षणमें सारा काम कर देता है और यह जो ब्रह्मभाव है, यह साधकके राग-द्वेषको मिटा करके उसके जीवनको ब्रह्मज्ञानाविर्भावके योग्य बना देता है। इसमें आप हिन्दू-मुसलमान देखते हैं तो गलती है। इसमें स्त्री-पुरुष देखते हैं तो गलती है। इसमें जड़ता-चेतनता देखते हैं तो गलती है। इसमें जीव-ईश्वर देखते हैं तो गलती है। इसमें माया-ब्रह्म देखते हैं तो गलती है। माया-ब्रह्म नहीं है। एक अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान और एक अद्वितीय ब्रह्मका भाव-भावात्मक होनेपर साधन हो जायेगा। और ज्ञानात्मक होने पर अविद्याका निवर्तक हो जायेगा। यह अद्वितीय ब्रह्मकी, वेदान्तकी प्रणाली है।

अब यहाँ ध्यान और ज्ञानका विश्लेषण माने दोनोंकी खिचड़ी न बने। जैसे स्त्री-पुरुष आश्लेषण करते हैं, आलिंगन करते हैं। उसका नाम हो गया आश्लेषण और विश्लेषणका क्या अर्थ होता है? विश्लेषण माने मिलना नहीं। जो दो चीज एकमें—ध्यान और ज्ञान-ज्ञानमें ध्यान मिल गया तो कर्त्ता हो गया और ध्यानमें ज्ञान मिल गया—पूरा ज्ञान मिल जाय तो परमेश्वर और अधूरा ज्ञान मिल जाय तो जीव। तो यह ध्यान और ज्ञानका विश्लेषण है, विवेचन है, तुलनात्मक समीक्षा है।

ध्यान प्रयत्नसाध्य है। वह एकादशी व्रत है। ध्यान माने एकादशी व्रत और ज्ञान माने काल। समग्र काल ज्ञान है और एकादशी तिथि ध्यान है—ऐसे आप समझो। समग्र विश्व ज्ञान है और वृन्दावन धाम ध्यान है, श्रीरंगजी ध्यान हैं। समग्र नाम-रूप ज्ञान है और स्त्रीकी आकृति, पुरुषकी आकृति, इष्टदेवकी आकृति—यह सब ध्यान है, भला! आकृति ज्ञान-प्रकाश है और ध्यान स्थिति है। ज्ञान सत् है और ध्यान आकृति है। ज्ञान चित् है और ध्यान वृत्ति है। ज्ञान निर्विशेष है और ध्यान विशेष

है। ज्ञान दिक्‌है तो ध्यान एक स्थान है। ज्ञान काल है तो ध्यान एक व्रत है। नारायण! ज्ञान अनन्त जीवन है, और ध्यान उसमें एक शरीर है। अनन्त जीवनमें जैसे एक आकृति बनी और बिगड़ी वैसे ध्यान है। ज्ञान अनन्त सौन्दर्य है और ध्यान उसमें एक रूप है। ज्ञान पृथिवी है तो ध्यान मिट्टीकी डली है। ज्ञान जल है तो ध्यान उसमें एक तरंग है। ज्ञान अग्नि है तो ध्यान उसमें एक चिनगारी है। ज्ञान वायु है तो ध्यान शरीरगत प्राण अथवा वायुका एक झोंका है। ज्ञान आकाश है तो ध्यान घटाकाश है। इस तरहसे नारायण, ज्ञान और ध्यानका विवेचन विश्लेषण, तुलनात्मक समीक्षा है।

देखो! सारा गेहूँ तो आप नहीं खाते हैं आधा पाव गेहूँ आप खाते हैं। वह जो समग्र गेहूँकी जो जाति है सृष्टिमें वह ज्ञान है और जो आधा पाव गेहूँकी रोटी जो आप खाते हैं, उसका नाम ध्यान है। अच्छा, इसको फिर सुनावेंगे!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 15 :

अब ज्ञानके लिए ध्यानकी कैसी रीति शास्त्रसम्मत है, वह आपको सुनाते हैं। क्योंकि जिसका लक्ष्य तत्त्वज्ञान नहीं है, किसी देवताका दर्शन है, उसके लिए ध्यानकी प्रक्रिया दूसरी है। लोग कहते हैं, महाराज! भगवान्‌का दर्शन करा दो। अच्छा तो भगवान्‌का ऐसा ध्यान करो, दर्शन हो जायेगा—वह प्रक्रिया दूसरी है। किसीका लक्ष्य समाधि होता है, हमारी समाधि लग जाय। तो कैसे आँख बन्द करके बैठना और मनको किस स्थितिमें ले जाना, तो समाधि लग जाती है, लक्ष्यभेदसे ध्यानकी प्रक्रियामें भी भेद होता है।

ईश्वरकी प्राप्तिके लिए ध्यान, समाधिके लिए ध्यान, सगुण-साकारके दर्शनके लिए ध्यान, सिद्धियोंके लिए ध्यान अलग-अलग होते हैं। तो इसीसे जब कोई कहता है न कि—'आओ हम तुमको ध्यान बता दें'—तो न उसको मालूम है कि ध्यान करके क्या करेंगे? और न आपको मालूम है कि ध्यान करके क्या होगा? जैसे किसीने कहा—'गंगास्नान आज कर लो, बड़ा पुण्य होगा।' वैसे—'आओ, ध्यानकी गंगामें स्नान कर लो, बहुत पुण्य हो जायेगा।' यह भी कोई पुण्यकार्य है और न इसमें मेहनत पड़ती है और न इसमें पैसा खर्च करना पड़ता है। तो लोग दौड़े-दौड़े चले जाते हैं कि आओ, ध्यान लगा लें।

वे 'ध्यान' नामपर ही मुग्ध हैं। बेचारे! वे ध्यानके नामसे हिप्नोटाइज हो गये हैं कि बड़े-बड़े महात्मा लोग पहले ध्यान करते थे, हिमालयमें रह कर लोग ध्यान करते हैं, तो आओ, हमको भी ध्यान मिल जायेगा। तो तत्त्व ध्यानकी जो प्रणाली होती है, तत्त्वज्ञानके लिए ध्यान—उसमें वेदान्तकी रीतिसे कुछ गिनी हुई प्रक्रिया हैं। उपासनाएँ तो बहुत हैं। अग्निविद्या है, शाण्डिल्यविद्या है, उद्गीतविद्या, हर विद्या हैं।

उपनिषदोंमें उपासनाएँ तो बहुत हैं परन्तु; तत्त्वज्ञानके लिए जो ध्यानकी रीति है जो ध्यानकी प्रक्रिया है वह बहुत थोड़ी है और वह बिना तत्त्वज्ञान लक्ष्य हुए—तत्त्वज्ञानको लक्ष्य बनाये बिना उनमें स्थिति भी नहीं होती है।

अब आपको एक शुरू-शुरूकी बात बताता हूँ। यह श्रौत-प्रक्रिया माने औपनिषद-प्रक्रिया है—यदि आप तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओंके प्रति आपका क्या दृष्टिकोण है? देखो—जब जाग्रत् है तब स्वप्न नहीं है, और जब स्वप्न है तब जाग्रत् नहीं है। जब सुषुप्ति है तब दोनों नहीं हैं। स्वप्नमें सुषुप्ति नहीं है, जाग्रत्में सुषुप्ति नहीं है इनके अन्वय-व्यतिरेकको देखो—ये तीनों अवस्थाएँ तत्त्व नहीं हो सकते।

तत्त्वज्ञानकी प्रक्रियामें आपको पहले ही यह सीखना पड़ेगा कि जैसे स्वप्नावस्था एक और उसमें दीखनेवाले तमाशे तत्त्व नहीं हैं, वैसे जाग्रतावस्था एक और उसमें दीखनेवाले तमाशे, इसके रिश्ते, इसके नाते, इसका पैसा, इसका मकान, इसके सम्बन्धी बदलनेवाले हैं। इनकी तो ड्यूटी ही जोर-जबरदस्तीसे बीस-इक्कीस घण्टे तक आप चला सकते हैं। सोना तो पड़ेगा न?

तो जो चीज छोड़ी जाती है और पकड़ी जाती है, पकड़ी जाती है और छोड़ी जाती है; जो आती है और जाती है—और जाती है और आती है उसको तत्त्वानुसन्धानकी पद्धतिमें तत्त्व नहीं माना जाता। यह आपको मालूम है कि नहीं?

जाग्रत् तत्त्व नहीं हैं, स्वप्न भी तत्त्व नहीं है और सुषुप्ति भी तत्त्व नहीं है। तीनोंमें जो एक रहता है और जो छूटता नहीं, जो बदलता नहीं, जो घटता-बढ़ता नहीं, उसका नाम तत्त्व है। तो तत्त्वज्ञानके मार्गमें जब आप चलेंगे ध्यान करनेके लिए, तो पहली बात यह होगी कि आप विनाशीको, परिणामीको, अनित्यको, बदलते हुए को अपना स्वरूप न मानें। आप इसी ध्यानमें स्थित हो जाइये कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों

मेरे स्वरूप नहीं हैं। हेय हैं ये माने तत्त्वको पकड़नेके लिए त्याज्य हैं। न जाग्रत् तत्त्व है, न स्वप्न तत्त्व है, न सुषुप्ति तत्त्व है। अवस्थाओंके गमनागमनका जो एक साक्षी सत्य है, वह तत्त्व है।

आपके ध्यानकी प्रक्रिया देखो, बिलकुल बदल जायगी और उसमें आप भूल मत करना कि जाग्रत् आप नहीं हैं तो जाग्रत्की कोई चीज आपकी नहीं है। इसमें गफलत नहीं करना। और कोई चीजमें सब होता है। यह आपका ब्राह्मणत्व, यह आपका संन्यासित्व, आपका मनुष्यत्व, आपका धनित्व, आपका विद्वत्व-वैदुष्य, आपका तपसित्व, आपका त्यागित्व, बुद्धिमत्व—ये कोई भी तत्त्व नहीं हैं। जाग्रत्में जिन विशेषताओंको अपने आपके साथ लपेट करके, अपने आपमें अध्यारोपित करके, अपने आपमें अध्यस्त करके जाग्रत्की जिन अवस्थाओंको आप अपनेमें विशेष मानते हैं, वह कोई विशेष आपमें नहीं है।

अच्छा, तो फिर सपनेकी विशेषता। सपनेकी विशेषताओंका अर्थ यह है कि भौतिक रूपसे मालूम न पड़ता हो, पर मानसिक रूपसे मालूम पड़ता है। स्वाप्निक विशेषताका अर्थ यह है। तो वे स्वाप्निक विशेषताएँ भी बदल जाती हैं। यह हम आपको तत्त्वज्ञान नहीं सुना रहे हैं। तत्त्वज्ञानके लिए क्या-क्या छोड़कर आपको ध्यान करना चाहिए, वह सुना रहे हैं।

तो जितनी भी मानसिक विशेषताएँ हैं, हे भगवान्! माफ करना—यहाँ तो बोलनेकी रीति है, 'माफ करना।' तो ऐसी बात ही क्यों कहीं जाय कि जिसमें माफी माँगनी पड़े। लेकिन—

कहूँ तो कही न जाय
और कहे बिना रहा न जाय।
ना कहूँ तो बाप कुत्ता खाय
और कहूँ तो माँ मारी जाय।

एक बच्चा बैठकर सोच रहा है—कि आज जो बढ़िया चीज घरमें बनी थी, वह तो चली गयी हमारी माँके दोस्तके घरमें और इसने कुत्ता

काट कर मांस बनाया है। तो '*कहूँ तो कही न जाय।*' बापसे कैसे कहूँ? और, *कहे बिना रहा न जाय। और न कहूँ तो बाप कुत्ता खाय,* और *कहूँ तो माँ मारी जाय।*

तो बात ऐसी है कि यदि आपको इन मानसिक स्वरूपकी बात नहीं सुनावें, यह आपका स्वरूप नहीं है; तो इसमें जो कुछ आपके मनमें ख्याल आता है—चाहे वह जाग्रत् लोकका हो, चाहे अधिदैव लोकका हो, चाहे अध्यात्म लोकका हो, चाहे गोलोक हो, चाहे वैकण्ठ हो, चाहे साकेत हो, चाहे कैलास हो आप जो कुछ अपने मनमें भाव करके सोचते हैं, वह जहाँ कैलास है वहाँ रहने दीजिये, जहाँ गोलोक है वहाँ रहने दीजिये। उससे हम छेड़छाड़ नहीं करते; लेकिन आपके मनमें स्वप्नवत् जो आते-जाते हैं, यदि इन्हींको पकड़ कर बैठ जायेंगे तब भी तत्त्वज्ञानके लिए अपेक्षित ध्यान नहीं होगा।

अच्छा, तब सुषुप्तिवत् कर दें। तो यदि आप सुषुप्तिवत् कर देंगे तब भी, वह भी तो टूटेगी। कब तक सुषुप्तिवत् रहेंगे? सुषुप्ति टूटेगी स्वप्न आवेगा, स्वप्न टूटेगा, सुषुप्ति आवेगी। स्वप्न-सुषुप्ति टूटेगी, जाग्रत् आवेगा। जाग्रत् टूटेगा, स्वप्न-सुषुप्ति आवेगी। तो ये हैं आने-जानेवाले पदार्थ और तत्त्व वह होता है जिसमें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंकी कल्पना मूर्त होकर दिखायी पड़ती है।

अन्यके रूपमें कहो तो वह अधिष्ठान ईश्वर है, आधार ईश्वर है और स्वरूपमें कहो तो वह अधिष्ठान द्रष्टा है। ये दोनों दो हैं कि एक है? तो द्वित्व भी कल्पनामें ही मालूम पड़ता है। इसलिए अपना स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करनेके लिए, साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिए जो ध्यान है, उस ध्यानका स्वरूप क्या है? जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाका अपने आपमें अध्यारोप न करना। यह जो विवेककृत जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे अपना जो न्यारापन है, तटस्थता है, कूटस्थता है, असंगता है, चिद्रूपता है, यह तत्त्वध्यानके लिए अपेक्षित है।

तो देखो—अब दो विभाग कर दिया। एक—त्याज्य है तीनों

अवस्था और तीनों अवस्थाके विलास। और, ज्ञांतव्य क्या है? तीनोंमें एक रहनेवाला आत्मा। ये दो विभाग हुए। अब इस आत्माके स्वरूपको जाननेके लिए साधन क्या है?

यह नहीं समझना कि हो गया साधन। हमने त्याग कर दिया। इसमें तो टिकोगे नहीं। बारम्बार जाग्रत्‌में, बारम्बार स्वप्नमें, बारम्बार सुषुप्तिमें तन्मय हो जाया करोगे। यह सामने ऐसा खेल हो रहा है महाराज कि अपनेको भूलकर इससे मिले बिना रह नहीं सकते। यह सामने एक खेल हो रहा है जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका और द्रष्टा इसमें तन्मय हो जाता है। जब तबला बढ़िया बजता है तब श्रोता भी अपने हाथसे ताल देने लगता है। जब बढ़िया नृत्य होता है तब दर्शकके भी पाँव थिरकने लगते हैं। जब बढ़िया संगीत होता है तब श्रोता भी झूम उठता है। तो ये जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके दृश्य—यह जो झलक, ये जो झाँकियाँ, आपके सामने आ रही हैं, ये कभी-कभी इतनी गम्भीर हो उठती हैं और इतनी ठोस वास्तविकताका रूप धारण करती हैं कि आप तो अपनेको भूलकर इन्हींके साथ मिल जाते हैं। तादात्म्य हो जाता है। अध्यास गाढ़े स्वरूपमें सामने आ जाता है। तो इसको दूर करनेके लिए क्या करना चाहिए?

इसकेलिए आप्य हैं। आप्य क्या हैं? श्रवण-मनन-निदिध्यासन—इन तीन साधनोंको आप प्रयत्न करके प्राप्त कीजिये। आप सुनिये कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे निराला जो आत्मा है, द्रष्टा, कूटस्थ, साक्षी, एकरस, असंग—वह केवल एक शरीर-अन्त:करणमें ही नहीं है, अद्वितीय ब्रह्म है। इससे आपके अज्ञानकी निवृत्ति होगी। और यदि यह बात आपके दिलके भीतर न उतरे तो मनन कीजिये। तो आपका संशय मिटेगा।

और, यदि श्रवण करने पर भी, मनन करने पर भी विपर्यय न मिटता हो, तो?

बारम्बार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके देहादि दृश्योंके साथ तादात्म्य

होता हो तो निदिध्यासन भी कीजिये। परन्तु, इन तीनों अवस्थाओंका परित्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित होना आवश्यक है। त्याज्य हैं तीनों अवस्थाएँ और ज्ञातव्य है अपना आत्मा और प्राप्तव्य हैं श्रवणादि साधन।

इतना होने पर भी अन्तःकरणमें जो दोष हैं, वे पचते नहीं। रागका अभ्यास है, द्वेषका अभ्यास है। जब अपच होता है तब कड़वी डकार आने लगती है। है कि नहीं? अपच होता है, उनकी डकार आती है। तो जब राग-द्वेष भीतर पचते नहीं हैं तो उनका वमन होता है, उनकी कै आती है, उनकी डकार आती है। ये राग-द्वेष भीतर पच जायँ इसकी युक्ति करनी चाहिए। माने ये कार्यपर्यन्त न आवें, व्यवहारमें क्रियाशील न हों, वाणीमें न आवें, हाथमें न आवें, रसनेन्द्रियमें न आवें, जननेन्द्रियमें न आवें, इनका परिपाक हो जाय।

परिपाक करनेमें कभी-कभी जहर भी निकलता है। लेकिन वह जहर भी यदि शिवजी पचा जाँय तो अमृत निकलता है। अब देखो, तीन अवस्थाओंका परिपाक करना—अपने स्वरूपमें स्थित होना, अपने स्वरूपको जानना और राग-द्वेषको पचा लेना और पचाकर मीठा बना लेना। कई-कई ऐसी कड़वी चीज होती हैं कि वे पकानेके बाद अपने काषायका परित्याग कर देती हैं। ऐसे अपने जीवनमें जो दोष हैं, उनको मिटाना नहीं है, उनको रूपान्तरित करना है। पाक बनाना है, पाक। पाक बनाकरके मीठा कर लेना है।

अब आपको ध्यानकी प्रक्रिया बताते हैं। चार बातकी जानकारी देनेके बाद ध्यान तत्त्व—साक्षात्कारके लिए नहीं होता तत्त्व-साक्षात्कारके मार्गमें जो विघ्न हैं, जो बाधाएँ हैं, जो प्रतिबन्ध हैं, उनकी निवृत्तिके लिए होता है, क्योंकि यदि ध्यानमें ध्येयके रूपमें यदि तत्त्वका साक्षात्कार हो तो वह एक बनायी हुई स्थिति होगी। और जैसे जाग्रत् टूटता है, स्वप्न टूटता है, सुषुप्ति टूटती है, वैसे वह अवस्था भी टूट जायेगी। ध्येयाकार वृत्तिको कोई अखण्ड रूपसे रख नहीं सकता;

क्योंकि वह जन्य है; क्योंकि जो वस्तु पैदा होती है वह मिट जाती है। तो आओ, ईश्वरकृपासे अपने ज्ञानकी प्राप्तिमें जो प्रतिबन्ध हैं, उनकी निवृत्तिका उपाय देखें क्या है? इसी उपायका नाम ध्यान है।

उपायेन निगृहणीयात् विक्षिप्तं कामभोगयोः।

सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामोऽलयस्तथा॥

आपका बन्दर अगर बन्धनसे छूट गया है तो आप कभी डण्डा दिखा करके भी काबूमें कर सकते हैं और गुड़ दिखा कर काबूमें कर सकते हैं। आप एक उपायका आलम्बन लेकर दूसरेका विरोध मत कीजिये। दूसरेका आलम्बन लेकर पहलेका विरोध मत कीजिये। देखो, हम गाँवके रहनेवाले हैं। हमारे घरमें बैल थे, खेती होती थी। गायें थीं, दूध देती थीं। बछड़े थे। वे बाँधनेके समय, ऐसी छलांग भरकर भाग जाते थे। तो कभी डण्डा लेकर बैलको घेरना पड़ता था, कभी हरी-हरी घास दिखाना पड़ता था। कभी उसके खानेकी जगहपर ले जाकर खली और भूसा डाल दिया तो वह अपने आप ही आकर खाने लगता था। यह नहीं कि रोज डण्डा ही काम दे, रोज हरी घास ही काम दे।

तो यह जो मनीराम हैं, इनको ध्यानस्थ करनेके लिए उपायकी आवश्यकता होती है।

'उपायेन निगृहणीयात्'

उपाय क्या करना चाहिए? पहले उपाय करके बादमें छोड़ देना होता है, इसीका नाम उपाय होता है। संस्कृत भाषामें उपाय माने युक्ति—

उपादायापि ये हेयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

नावपर चढ़िये और नदी पार होनेके बाद नावको छोड़ दीजिये।

उपायादापि ये हेयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

(वाक्यपदीय)

हमारे महाभाष्यका सार है।

अब देखना यह है कि कहाँ-कहाँसे उपाय करके मनको खींचना है—

विक्षिप्तं काम्भोगयोः।

कभी भोगमें संलग्न होता है। भोगमें वस्तु और क्रिया होती है और कभी काममें संलग्न होता है। उसमें न वस्तु है, न क्रिया है और केवल मानस-कल्पना होती है। इन दोनों दशाओंमें मन विक्षिप्त रहता है। और, एक तीसरी दशा ऐसी आती है, जब मन लयको प्राप्त हो जाता है, लीन हो जाता है। तो क्या उपाय करना चाहिए?

पहले आप इसपर ध्यान दो, ये जो लोग ध्यान करनेके लिए बैठते हैं और नींद-सी आ जाती है, थोड़ी देर तक कुछ मालूम नहीं पड़ता। तो यह कौन-सी स्थिति है? बोले—'हमें तो संसारका विस्मरण हो गया। प्रपंचका विस्मरण हो गया।' यह वृत्तिकी जो लीनता है, यह ध्यानकी कोई उत्तम स्थिति नहीं है। अच्छा तो वृत्तिका विक्षेप उत्तम स्थिति है? नहीं, वृत्तिका विक्षेप भी उत्तम स्थिति नहीं है। भक्ति-सिद्धान्तमें लयको तो दोष मानते हैं परन्तु; विक्षेपको तभी दोष मानते हैं जब वह अपने इष्टदेवको छोड़कर अन्यत्र जाय। और, यदि इष्टदेवके लिए मन हँसे, नाचे, गावे, तो उसको विक्षेप नहीं मानते। ईश्वरकी पूजाके लिए जो चन्दनकी जरूरत है, बेलपत्रकी जरूरत है, उसको उठाना है, लेना है, देना है, उसको भी वे विक्षेप नहीं मानते।

कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।

पर, वह भक्तिकी बात है। जब तत्त्वज्ञानके मार्गपर चलते हैं, तो किसी प्रकारका विक्षेप मनमें नहीं होना चाहिए और मनका लय भी नहीं होना चाहिए।

एक तीसरा प्रतिबन्ध और है, उसको बोलते हैं—'कषाय'। ठीक है, लय नहीं है और राग-द्वेष भी नहीं है लेकिन; राग-द्वेषकी बीजावस्था मनमें बनी हुई है। इसमें दुश्मन नहीं मालूम पड़ता। दोस्त नहीं मालूम पड़ता और जब ध्यानसे उठेंगे, फिर दोस्त आ जायेगा, दुश्मन आयेगा।

फिर मन उसमें पक्षपात करनेके लिए, अन्याय करनेके लिए चला जायेगा। तो क्या करना चाहिए इसके सम्बन्धमें कि लय-अवस्था जब प्राप्त होवे, मन विस्मरण करके लय अवस्थामें जा रहा हो—

लये सम्बोधये चित्तम्।

उसको जगा देना चाहिए कि—'बेटा! कहाँ जा रहे हो?' और यदि काम और भोगके लिए विक्षिप्त हो, तो उसको शान्त करना चाहिए। और यदि दोनोंकी बीजावस्थामें कषाय दशाको प्राप्त हो जाय तो सजग हो जाना चाहिए। जाग्रत् हो जाना चाहिए।

सकषायं विजानीयात् और, **सम प्राप्तं न चालयेत्।**

जब मन समताको प्राप्त हो जाय, दोस्त-दुश्मन बराबर, तो उस समयमें क्या करना? बीजको तो रहने न दो और राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त जो चित्त है, अविक्षिप्त जो चित्त है—लय, विक्षेप और कषाय इन तीनोंसे रहित जो चित्त है, उसको विचलित न करें। वैसे ही ज्यों-का-त्यों रहने दें।

समः प्राप्तं न चालयेत्।
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।
यदा न लीयते चित्तं, न च विक्षिप्यते पुनः।

जब चित्त लय नहीं होता। एक बात आपको बतावें-ध्यानमें शरीर गिरता नहीं है। ध्यानमें तो एक प्रयत्न है न! वह जो ध्यानके लिए प्रयत्न है, समाधिके लिए प्रयत्न है, वह शरीरको पकड़के रखता है और तन्द्रामें सिर लटक जायेगा। लय और निद्रामें शरीर गिर जायेगा। क्योंकि वहाँ अपना नियन्त्रण नहीं है शरीरपर। लयमें साँस बढ़ जायेगी, नींदमें साँस बढ़ जायगी, तन्द्रामें साँस बढ़ जायगी। आलस्य और मूढ़तामें शरीर भारी हो जायेगा। लेकिन ध्यानमें न शरीर झुकेगा, न साँस बढ़ेगी, न शरीरका भार मालूम पड़ेगा।

'सुप्रसन्नं लये चैव'—प्रसादका अनुभव होता है। लयमें अपने

मनको—होंठ चाहे मुस्कुराये चाहे न मुस्कुराये, मनसे कहो कि—'रे मन! तू मुस्कुरा!' तो अगर आपका मन मुस्कुरायेगा तो लीन नहीं होगा। अगर आपका मन इधर-उधर जाय तो कहो कि —'रे मन! जाग! इधर-उधर भटक मत। बताते हैं कि—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।

अभी बीचमें यह बात रह गयी कि आलस्य, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा, लय—ये सब लयके बच्चे-कच्चे हैं। इनसे मनको बचाओ। मनको प्रसन्न रखें। मनको प्रसन्न रखनेसे मन इनसे बचेगा और मनको विक्षिप्त न होने दें, राग-द्वेष न रहने दें। एक प्रकारका सुख आपके हृदयमें उदय होगा। यह जो रस, सुख अथवा आनन्द आता है, क्योंकि जब बाहरका सुख आना बन्द हो जाता है और बाहर वृत्तिका जाना जब बन्द हो जाता है, तब वृत्ति पहले तो सिमट करके विषय बनाती है। वह तो गन्ध बना दे, रस बना दे, रूप बना दे, शब्द बना दे। ये सब भोगके ही अन्तर्गत हैं। यदि अन्तरंगमें आपको कोई सुगन्ध आपको मालूम पड़े या स्वाद मालूम पड़े, या सौन्दर्य दिखायी पड़े या स्पर्शका अनुभव हो—कई ऐसे साधक होते हैं, हमारे पास आकर बताते हैं कि जहाँ हम ध्यानमें बैठें तो हमको लगता है कि हमारे सिरपर किसीके कोमल-कोमल हाथ घूम रहे हैं। ऐसा लगता है कि जब हम ध्यानमें बैठते हैं तो कोई दैवी शक्ति आकर हमारा चुम्बन करने लगती है। हमारे कपोलसे चिपक जाती है। ऐसा लगता है कि कोई मीठी-मीठी आवाज हो रही है। ऐसा लगता है कि कोई विलक्षण स्वाद जिह्वापर प्रकट हुआ। कोई दिव्य गन्ध नासिकामें आयी और, यदि इनसे भी मनुष्य व्यामुग्ध न हो, इनमें भी मूढ़ न हो, मनोवृत्तियाँ जो हैं, वे जैसे किरणोंका वक्री भवन होता है, वैसे ही हैं।

आप जानते हैं, यह जो इन्द्रधनुष दिखायी पड़ता है, आकाशमें लाल-पीला-हरा, यह क्या है? ये जो जलकी बूँदें होती हैं बादलमें,

छोटी-छोटी बूँदें, उनमें सूर्यकी किरणें प्रतिबिम्बित होकर नाना रंगोंके रूपोंमें भासती हैं। तो जब हमारा मन बाहरसे खिंचकर जब बूँद-बूँद-बूँद दीखने लगता है, तो प्रत्येक बूँदमें, बिन्दुमें आत्मा चैतन्यका प्रतिबिम्बन होता है। तो एक अलौकिक सौन्दर्यका दर्शन उसमें होता है।

देहेस्मिन् पर्वताः सर्वे नदाः नद्यश्च सागराः।

इस शरीरके भीतर पर्वत दिखते हैं उनपर पगडण्डी दिखती है, उनपर देवता उतरते हुए दिखते हैं, उसपर सन्त लोग चलते हुए दिखायी पड़ते हैं, नदी बह रही है, नद बह रहे हैं, वृक्षावली दिख रही है, पुष्पावली दिख रही है, फल लगे हुए दिख रहे हैं, बड़े-बड़े समुद्र उमड़ते हुए दिख रहे हैं पर; वे सब हैं क्या?

वे सब हैं कुछ नहीं। वे अपनी मनोवृत्ति-बिन्दुओंका वक्रीभवन है। जब वे टेढ़ी हो करके, संकीर्ण हो करके झुकती हैं। न भीतर नदी है, न नद है, न पर्वत हैं और जो हैं वे दिखते नहीं। दिखते हैं केवल मानसिक। ऐसी स्थितिमें कभी देवता दिखता है, कभी यक्ष दिखता है। बड़ा-बड़ा सुन्दर देवता। सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ। 'एहि-एहि'—आइये-आइये। आदर-सत्कारकी सुन्दर-सुन्दर सामग्री लेकर सामने उपस्थित होती हैं। बड़े-बड़े इष्टदेवता इस समय मनमें आते हैं। वे झूठे होते हैं। वे मनोबिन्दुओंके बने हुए होते हैं। वहाँ जो नादका उद्रेक होता है वह बिलकुल झूठा होता है। तो 'गौडपादाचार्य'ने कहा—'सावधान! मेरे प्यारे मित्र, सावधान!' आवाज आयी। जब हम ध्यान करनेके लिए बैठे और सुन्दर-सुन्दर दृश्य हमारे सामने आये, स्वाद आया तो 'गौडपादाचार्य' बोले—'मित्र, सावधान! तुम्हें अपने स्वरूपमें बैठना है। यह तुम क्या तमाशा देख रहे हो?' ये नदी, ये नद, ये लोक, ये लोकान्तर, ये देवता, ये सम्भोग, ये दिव्य सुख, ये सब-के-सब तुम्हारे मनोबिन्दुओंमें प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्यकी ही टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ हैं। यह सारा कला-कौशल•जो तुम्हें अन्तरंगके पटपर दिखायी पड़ रहा है।

जिस कलाको, चित्रको देखकर, ध्वनिको सुनकर, जिस सौकुमार्यका स्पर्श करके, जिस सौन्दर्यको निहार करके, जिस रसका आस्वादन करके, जिस सुगन्धका आग्रहण करके तुम तृप्त हो रहे हो, यह और कुछ नहीं, तुम्हारे मनकी जो बूँद-बूँद है, बूँदसे बनी हुई कुछ रेखाएँ हैं और उन रेखाओंसे बनी हुई कुछ आकृतियाँ हैं—

नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरं च्चित्तमेन्कीकुर्यात् प्रयत्नतः॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।
नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।

सुख केवल पाँच विषयोंसे ही नहीं आता है, इनकी शान्तिसे भी सुख आता है और विश्रामसे भी सुख आता है। एक विषयभोगका सुख होता है, एक विश्रामका सुख होता है। दो आदमी लड़ रहे हों तो तटस्थताका सुख होता है। मध्यस्थताका सुख होता है, उदासीनताका सुख होता है। अच्छा हुआ हम इन लोगोंसे अलग ही रहे बाबा! इसका भी एक सुख होता है।

नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।

वहाँ सुखका आस्वादन नहीं करना चाहिए। न शान्तिमें, न विक्षेपमें, न भोगमें, न बीजावस्थामें, न दृश्यमें, न अदृश्यमें-कहीं भी सुखास्वादन नहीं करना चाहिए। निःसंग रहना चाहिए।

जो जायेगा सो आयेगा। जो आयेगा सो जायेगा।

निःसंगः प्रज्ञया भवेत्। बस, केवल प्रज्ञा जाग्रत् रहे। 'प्रज्ञा' माने आत्माकी अखण्डताके विषयमें जो बोध है, वही यहाँ प्रज्ञा है।

अपनी प्रज्ञासे निःसंग रहे। किसी दृश्यमें या दृश्यकी उपरामतामें, लयमें या अलयमें, विक्षेपमें या अविक्षेपमें, भोगमें या अभोगमें, काममें या अकाममें—किसी भी अवस्थामें संग न करे। संगमन न करे। 'संगमन' माने तादात्म्य। 'संग' शब्दका अर्थ है—उससे एक न हो जाय।

हमारे महात्माने बताया था, सबसे बड़ा मन्त्र है, तुमको सुनायें। अरे, मन्त्र जप करनेका नहीं है, कहीं आप जाकर मन्त्रका जप नहीं करना। जप करनेका मन्त्र नहीं है, काहेका है वह? असंगताका मन्त्र है वह 'हाथ खींचो'। अपने हाथको बिलमें मत जाने दो। अपने हाथसे साँपको मत पकड़ो।

निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।

यह जो तुम्हारे सामने अच्छा या बुरा दीख रहा है, यह जो लय या विक्षेप दीख रहा है, सुख या दुःख दीख रहा है, उससे हाथ खींच कर रखो। और, ये लगेंगे तो बादमें मैले ही हो जायेंगे। आप अपनेको सुन्दर बनानेके लिए चाहे जितना बढ़िया पावडर लगाइये, अन्तमें वह मैल होगा और उसको धोना पड़ेगा। कितना साबुन लगाइये, पर साबुनको भी छुड़ाना ही पड़ेगा।

निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।

तो प्रज्ञा जाग्रत् रहे औ निःसंग रहिये।

निश्चलं निश्चरं च्चित्तमेकीकुर्यात् प्रयत्नतः।

देखो, दो बात हैं—एक निश्चरतचित्त है और दूसरा निश्चल चित्त है। निकलकर जानेवाला चित्त निश्चरत है और अपने आपमें काँपनेवाला चित्त निश्चल है। बाहर जाना और भीतर ही काँपना। जानेमें क्या है? नवीन-नवीन विषयोंका ग्रहण है। और, कम्पनमें क्या है? एक ही विषयका बारम्बार ग्रहण है। एक ही विषयका बारम्बार ग्रहण भी तत्त्वध्यान नहीं है।

विच्छिद्य विच्छिद्य ग्रहणम्।

यह टूटकर, टूटकर, टूटकर एक-ही वस्तुको ग्रहण करना, बार-बार एक ही वस्तुको टच करना—यह चलता हुआ चित्त है और एकसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें, तीसरेसे चौथेमें—इस तरह विषयसे विषयान्तरमें जाना माने चलता हुआ चित्त है।

तो चित्त न चले न हिले—न हटे न सटे—चित्त ऐसा हो जाय।

एकी-कुर्यात् प्रयत्नतः। चित्त और विषय दोनोंको एक अवस्थामें लाकर छोड़ दे।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

'यदा न लीयते चित्तं'—देखो भाई! हम शास्त्रीय प्रणालीसे ध्यानकी बात आपको सुना रहे हैं। यह हमारे औपनिषद सम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त है। हम नहीं जानते, आप क्या ध्यान सीखते हैं? क्या ध्यान करते हैं? ध्यानकी बात आपको तरह-तरहकी सुनायी। लेकिन मैं सोचता था कि ध्यानकी प्रक्रियाको ग्रहण करनेके लिए आपका चित्त पहले तैयार हो जाय। जो लोग कहते हैं कि 'पोथीपत्रा फाड़कर फेंक दो।' मैं जो आपको सुना रहा हूँ, यह भी फाड़कर फेंकना पड़ेगा। यह कोई मामूली चीज नहीं है। हाँ, यह है कि यदि इनको फाड़कर फेंक देंगे तो जो कोई आपको कोई बात सुनावेगा अच्छी, तो आप यह मान लेंगे कि इसके आचार्य, इसके गुरु ये ही हैं। असलमें ध्यान ग्रन्थ और पन्थसे छुड़ानेके लिए होता है। परन्तु; ग्रन्थ और पन्थ नहीं रहे तो ध्यान होगा ही नहीं, मिलेगा ही नहीं। ग्रन्थ और पन्थ ध्यान देते हैं और देकर स्वयं ग्रन्थ और पन्थसे छुड़ाते हैं। यह उनकी महिमा है। यही उनकी उदारता है।

आजकल कोई व्यक्ति आपको ध्यान देगा तो, आपको चेला बनावेगा। बाँधकर रखेगा और ग्रन्थ और पन्थ कहते हैं—

'तू प्रभु जीवे, मैं मर जाऊँ।'

तू अनन्त हो जा, तू अद्वय हो जा, तू ब्रह्म हो जा। उसके बाद हम नहीं रहेंगे। हम अपने आपको हटा लेंगे। तुम सावधान, स्वावलम्बी तो हो जाओ।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

यह श्लोक जो मैं बोल रहा हूँ, 'आदि शङ्कराचार्य' जो अद्वैत सम्प्रदायके आचार्य हुए हैं। उनसे बहुत पहलेके हैं।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।

लय न हो। लय होनेसे अपनेमें कारणता आती है और कारणता आनेसे अपनेमें निर्विशेषता भंग हो जाती है। जो कारण है, वह निर्विशेष नहीं हो सकता। वह तो कार्यसे विशेष है।

यदा न लीयते चित्तम्—और जब विक्षेप होता है तो कार्यता सच्ची हो जाती है। लयमें कारणता सच्ची होती है और विक्षेपमें कार्यता सच्ची होती है तो जब चित्तमें न कार्य है न कारण है—

अनिङ्गनमनाभासं।

चलना और हिलना नहीं। अनिङ्गमन्—संकेत नहीं, इशारे नहीं। और 'अनाभासम्'—विषयका आभास नहीं। द्वैतकी गन्ध नहीं। रसास्वादनसे विनिर्मुक्ति। तुम क्या? यह तुम माने ध्यानके ब्रह्म। ज्ञानके नहीं। हे भगवान्! लो 'शङ्कराचार्य भगवान्'ने कहा—कि 'यह जो ध्यानका ब्रह्म है'—अभी जो इतनी प्रक्रिया सुनायी न! यह दो नम्बरके अधिकारीके लिए है। ज्ञानका जो ब्रह्म है, वह एक नम्बरके अधिकारीके लिए है। तो जब ध्यानका ब्रह्म ऐसा है—'अनिङ्गनमनाभासं'—उसमें न चलना है, न हिलना है, न अहं है—'अनाभासं'—न विषय है, न विषयी है। न इसमें, भोक्ता है न भोग्य है। 'अनाभासं'का अर्थ है न भोक्ता है, न भोग्य है। न कर्ता है, न कर्म है। न ध्याता है, न ध्येय है। इस समय तुम्हारी क्या स्थिति है? बोले—'ब्रह्म सम्पत्ति है।' सम्पन्न ब्रह्म है यह। सम्पन्न ब्रह्म माने हुआ-हुआ ब्रह्म। यह ब्रह्म सम्पत्ति है, यह हुआ-हुआ ब्रह्म है। और है ब्रह्म? बोले है। ब्रह्म जो है, वह ध्येय नहीं है, ध्यान नहीं है, ध्याता नहीं है। ध्यानस्थ नहीं है। तब वह क्या है?

वह जो ब्रह्म है—

'स एष आत्मा।'

यह ध्यान उसका उपलक्षण है, भला! ध्यान ब्रह्म जो है, यह ज्ञान ब्रह्मका उपलक्षण है। उपलक्षण है माने उसको पहचाननेका संकेत-स्थल है। यह महल नहीं है, यह 'नन्दगाँव' नहीं है, न 'बरसाना' है। यह

क्या है? यह 'संकेतवट' है। यह जो ध्यान है, यह जो ध्यान-ब्रह्म है, यह न शुद्ध आत्मा न शुद्ध परमात्मा। यह क्या है? यह उपलक्षण है। उपलक्षण है माने संकेत मात्र है। इस संकेतके द्वारा संकेतित जो यथार्थ स्थिति है, परमार्थ है, उसको परब्रह्म बोलते हैं।

'शङ्कराचार्य'का कहना है कि जिसको एक ही झटकेमें खट्टसे विद्याका स्विच दबकर अविद्यारूप अन्धकारका नाश नहीं हो जाता, उसके लिए यह ध्यानकी प्रक्रिया है और वेदान्तके सम्प्रदायमें अद्वैतके सम्प्रदायमें जैसे यह प्रक्रिया है, इसी प्रकार दो-तीन प्रक्रिया और हैं। अद्वैत वेदान्तके सम्प्रदायमें केवल वही चलती है। परन्तु आजकल अद्वैत सम्प्रदाय भी तो मनमाना चलता है न!

वह भी तो परम्परासे प्राप्त नहीं जो—गेरुआ कपड़ा रंग लिया। जो 'ब्रह्म-ब्रह्म' करने लगा, वही अद्वैत सम्प्रदायका हो गया। तो यह जो प्रक्रिया है, यह सीखने योग्य है।

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञयान्यग्रयाणतः।

क्या त्यागना है, यह सीखो। क्या जानना है, यह सीखो। क्या पाना है, यह सीखो और क्या पचाना है, यह सीखो। इनमें-से एक सत्य है और तीन झूठे हैं। अब आप इनमें देखो—अपने मनसे आप सोचो कि—ये चार बातें जो बतायीं—छोड़ना, जानना, पाना और पचाना, इनमें-से तीन झूठी और एक सच्ची।

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञयान्यग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः॥

इसमें जो एक ज्ञानब्रह्म है, उसको छोड़ करके जो छोड़नेकी, पानेकी, पचानेकी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब मिथ्या हैं।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 16 :

एक बालक है, वह अपने घरमें माताको जेवर पहने देखता है और पहचानता है कि यह कंगन है हाथमें पहननेका। यह कुण्डल है कानमें पहननेका, यह हार है गलेमें पहननेका। परन्तु वह स्वर्णधातुको नहीं जानता है। स्वर्णधातु तो वह है जो हारमें भी है और कुण्डलमें भी है। यह नहीं कि सोनेको पहचान लिया-कुण्डलमें, सोनेको पहचान लिया हारमें, सोनेको पहचान लिया, अंगूठीमें। ऐसा नहीं।

सोनेको सिल्लीमें भी पहचान लिया, सोनेको कणमें भी पहचान लिया, सोनेको द्रवमें भी पहचान लिया। स्वर्णधातुकी पहचान हो गयी। तो जो केवल हारको पहचानता है, जो केवल कंगनको पहचानता है, जो केवल अंगूठीको पहचानता है, वह पहचानना उसका व्यष्टिज्ञान है, समष्टि-ज्ञान नहीं है और उसकी जो स्मृति है, उसकी धारणा है, उसकी कल्पना है, वे ध्यानके भेद हैं।

ज्ञान व्यष्टिका है तो अज्ञानयुक्त ज्ञान है और ज्ञान समष्टिका है तो सर्वज्ञता है और जब व्यष्टि और समष्टिसे रहित ज्ञान है, तो शुद्ध-ज्ञान है। ज्ञान-तो-ज्ञान ही है। तो कंगन ध्यान है और सोना ज्ञान है, ऐसे आप समझो। जिसने सोनेको पहचान लिया उसके लिए वह चाहे कंगनकी शकलमें हो, चाहे हारकी शकलमें हो, चाहे कुण्डलकी, उसकी शकल-सूरत, आकृति, और बनावट और नाम कंगन, हार अलग-अलग भले हों, शकल-सूरत अलग-अलग भले हों, जो सोनेको पहचानता है, उसके लिए सब शकलें अलग-अलग होनेपर भी सोना एक है।

अब आपको ध्यान और ज्ञानकी बात सुनाते हैं। आपका ध्यान समग्र देश-काल-वस्तुको अपनेमें लीन कर लेता है कि तात्कालिक जो देश-काल-वस्तुकी प्रतीति है, उससे मुक्त होकर रहता है। माने आप अपने एक शरीरमें बैठे हैं और ध्यानमें मनोवृत्तिको लीन कर लिया है और बाहर जो देश-काल-वस्तु है सो ठीक है। उससे कोई मतलब नहीं

है। क्योंकि एक अन्त:करणमें होनेवाला जो ध्यान है, वह समग्र देश, समग्र काल और समग्र वस्तुको अपनेमें लीन कैसे कर लेगा? यह कल्पना साधारण ध्यानीके मनमें नहीं आ सकती।

तो, जब आप एक देहका आसन लगाकर बैठते हैं और एक शरीरमें रहनेवाले मनको रोक करके ऐसी अवस्थामें ले जाते हैं, जहाँ पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण और पहले और बाद और घड़ा और कपड़ा-इनका भान न हो, तो वह आपके अन्त:करणमें ध्यान बनता है।

अच्छा, अब हम इसको जरा व्यापक-दृष्टिसे लेते हैं। केवल अपने शरीरसे सम्बद्ध देश-काल-वस्तु ही नहीं, समग्र देश-काल-वस्तुकी प्रतीति अपने अन्त:करणें होती है। देहमें बैठे हुए नहीं, देह तो एक द्रव्यका अवयव है और देहकी जो लम्बाई-चौड़ाई है, वह देशका अवयव है और जो इसकी जो उम्र है, वह कालका अवयव है। समग्र-काल, समग्र-देश और समग्र-द्रव्य केवल हमारे अन्त:करणमें तदाकार वृत्ति होनेसे भासता है और तदाकार वृत्ति न होनेसे नहीं भासता है। तो हमारा अन्त:करण कितना बड़ा?

समग्र देशका आश्रय, समग्र कालका आश्रय, समग्र वस्तुका आश्रय! आप देखेंगे, इसप्रकार ध्यान करनेवाले आत्माको विभु मानते हैं। ये योगीलोग जो हैं, ये सांख्यवादी लोग जो हैं—वे आत्माको विभु मानते हैं। क्यों? विभु आत्माके ध्यानमें ही समग्र देश-काल-वस्तु भास रहे हैं—लेकिन वे अन्त:करणके भेदसे आत्माका भी भेद मानते हैं। वे कहते हैं कि सबके जन्म अलग-अलग हैं, सबकी मृत्यु अलग-अलग है, सबके सुख-दु:ख अलग-अलग हैं, सबके पाप-पुण्य अलग-अलग हैं। सबके करण-इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं। इसलिए—'**पुरुषबहुत्वं सिद्धम्।**'

'इसलिए पुरुषका बहुत्व सिद्ध हो जाता है'—ऐसा भी कहते हैं।

वेदान्तियोंका इस सम्बन्धमें कहना यह है कि जन्म अन्यगत, मरण अन्यगत, करण अन्यगत, सुखदु:ख अन्यगत, पाप-पुण्य अन्यगत

अलग-अलग शरीरोंमें अलग-अलग और इसके कारण विभु आत्मामें भेद हो जाय, यह बिलकुल असंगत कल्पना है। किसी कक्षामें वह ग्राह्य हो सकती है, परन्तु वास्तविक नहीं हो सकती। इसलिए एक आत्मा-उसका नाम चाहे 'विभु' रखो, चाहे 'ईश्वर' रखो और एक अन्तःकरण और एक अन्तः-करणकी समाधि और एक अन्तःकरणका विक्षेप-यह शिवस्वरूप आत्मा। शैवोंने कहा कि—'ऐसा है।' यह योगियोंके ध्यानमें और शैवोंके ध्यानमें यही अन्तर है।

परन्तु ज्ञान क्या है? यह तो बूँद-बूँदमें ध्यान, बूँद-बूँदका ध्यान है। बिन्दुका ध्यान अथवा सिन्धुका ध्यान। घटाकाशका ध्यान अथवा महाकाशका ध्यान। तो, असलमें ध्यान जिस अन्तःकरणमें होता है, वह अन्तःकरण यदि निर्वृत्तिक, सन्मात्र, निर्विशेष है तो चिन्मात्र आत्मासे भिन्न नहीं हो सकता और यदि चिन्मात्र निर्विशेष है तो सन्मात्र आत्मासे भिन्न नहीं हो सकता। क्योंकि सत् और चित्में भेद करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है। कोई विशेष नहीं है जहाँ निर्विशेष सत् है। तो निर्विशेष होनेसे ही वह चित्से भिन्न नहीं होगा और जो निर्विशेष चित् है वह निर्विशेष होनेसे सत्से भिन्न नहीं है। इसलिए समाधिकी दशा अलग और विक्षेपकी दशा अलग, यह कल्पना करनेका कोई कारण ही नहीं है। तो यह चिन्मात्र ही सत् है और सन्मात्र ही चित् है। उसमें न कोई अन्तः-करण है और न समाधि है और न विक्षेप है। न बन्धन है, न मुक्ति है, न जन्म है, न मरण है और यह सब होता हुआ चाकचिक्य, चकाचौंध, यह आत्माकी ही दमक है। ज्ञानस्वरूप आत्मा ही कमीके रूपमें, कहींके रूपमें, कुछके रूपमें, समाधिके रूपमें, विक्षेपके रूपमें माने देश-काल-वस्तुके रूपमें भी और अवस्थाओंके रूपमें भी भास रहा है।

तो, आत्मज्ञान जो है वह दूसरी चीज है और उस आत्मज्ञानको प्राप्त करनेके लिए मार्गमें जहाँ हम देहमें बैठे हैं यहाँसे ऊपर उठानेके लिए 'ध्यान' नामकी एक वस्तु है। यहाँतक कि सर्वज्ञ ईश्वर भी ध्यानकी एक अवस्था है और समाधि भी ध्यानकी एक अवस्था है समष्टि भी

ध्यानकी एक अवस्था है और व्यष्टि और विक्षेप भी और यह जीवात्मा भी ध्यानकी एक-एक अवस्था हैं। प्रत्येक कुण्डल, प्रत्येक कंगन, प्रत्येक हार ध्यानकी अवस्था है सबको मिलाकरके, घोलकरके, घुलाकरके जो स्वर्णकी एक अवस्था है, वह भी ध्यानकी एक अवस्था है।

असलमें होता यह है कि आदमी अपने व्यक्तित्वका मोह नहीं छोड़ पाता। इसलिए ध्यान तो उसकी समझमें आता है, परन्तु ज्ञान समझमें नहीं आता। कुल-का-कुल ईश्वरकी शरणमें कौन जायेगा? एक व्यक्ति। समाधि कौन लगायेगा? एक व्यक्ति। एककी समाधिसे सबकी समाधि तो होती नहीं। एककी ईश्वर प्राप्तिसे सबको ईश्वरकी प्राप्ति तो होती नहीं। जैसे एक-एककी चोरी अलग-अलग है, सबको अलग-अलग चोरीकी सजा मिलती है, जैसे एकका दान-दाक्षिण्य आदि सब गुण अलग-अलग हैं, सबका नहीं है। जैसे एकके चित्तकी चंचलता, काम, क्रोध, लोभ, मोह उसीको तकलीफ देते हैं, वैसे एककी समाधि, एकका ध्यान एकको ही आनन्द देता है। यह जैसे एक-एक अपने-अपने व्यक्तिपनेको अलग-अलग मान लिया गया है और सोलहों आने देहके सम्बन्धसे ही तो अलग माना हुआ है। यह शरीर ध्यानी बन जाय, यह शरीर ज्ञानी बन जाय ऐसे ही है, जैसे यह शरीर धनी बन जाय, यह शरीर विद्वान् बन जाय, यह शरीर तपस्वी बन जाय।

देहमें अहंभावकी स्थापना करके और इसमें हम कुछ विशेष चाहते हैं। ज्ञानको भी आभूषण बनाना चाहते हैं। ज्ञानको इस अहंका आभूषण बनाना चाहते हैं। तो, ध्यान तो अहंका आभूषण बन सकता है, परन्तु ज्ञान अहंका आभूषण नहीं बन सकता है।

सन्धयोऽखिलवृत्तीनां अभावाश्चावभासिताः।

अब आओ, आपको ध्यानकी प्रक्रिया सुनाते हैं। गाँवमें 'डीह बाबा' होता है, 'डीहबाबा'। आप नहीं जानते होंगे, 'ग्रामदेवता।' मद्रासकी ओर जाते हैं तो गाँवके बाहर वह मिट्टीके बना-बनाकर वह

खपरैलको पका-पकाकर बड़े ऊँचे-ऊँचे रखे रहते हैं। हमारे गाँवकी तरफ भी प्रत्येक गाँवमें 'डीहबाबा' होते हैं। हमने देखा है बचपनमें, सुअरके बच्चेकी बलि देते हैं। 'डीहबाबा'को और तो अब जो गाँवका आदमी होता है, वह समझता है कि अगर 'डीहबाबा' नाराज हो जायेंगे तो हमारा सर्वस्व बिगाड़ देंगे। और खुश हो जायेंगे तो हमको भी खुश रखेंगे। तो वह 'डीहबाबा'को खुश रखनेकी कोशिश करता है। तो हमारी महत्त्वबुद्धि परब्रह्म परमात्मामें है कि 'डीहबाबा'में—ब्रह्मराक्षसमें है? तो अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार, अपने-अपने विवेककी रोशनीमें मनुष्य देखता है।

आओ, आत्माको ढूँढें जरा। तो, आप लोग आत्मा माने जैसा-कैसा-वैसा आत्मा नहीं समझना। आत्मा-माने आप स्वयं। यहाँ वस्तुको पकड़ो। आप स्वयं आत्मा हैं। यह जो आँखसे आप ही देखते हैं कि कोई दूसरा देखता है? आपका क्या ख्याल है? आँखसे देखनेवाले आप हैं कि कोई दूसरा है? तो आँखसे देखनेवाले आप और कानसे सुननेवाले आप, नाकसे सूँघनेवाले आप, जिह्वासे स्वाद लेनेवाले आप, त्वचासे छूनेवाले आप। अब यहीं देख लो न! विषय हैं अलग-अलग, इन्द्रियाँ हैं अलग-अलग और आप एक हैं। नाकसे कोई दूसरा सूँघता है? आँखसे कोई दूसरा देखता है, कानसे कोई दूसरा सुनता है—ऐसा तो नहीं है न? आप इस शरीरके भीतर जो हैं सो?

श्रीगोविन्दाय नमो नमः।

आप यह देख लीजिये कि आँख और रूप अलग-अलग हैं और देखनेवाले आप हैं। जरा यहाँ ध्यान जमाइये। तो अलग-अलग आते हैं। कभी लाल, कभी काला, कभी पीला। और यह ओंठ पानकी 'कट'का है—यह आकृति हुई। इसका नाम आकृति हुआ और लाल-लाल है—यह रूप हुआ। यह नाक उठी हुई है कि चिपटी है—यह आकृति हुई। परन्तु आँखसे जितनी दिखायी पड़ती है, वह गोरी-गोरी, वह काली-काली, वह उसका रूप है, रंग है। तो अलग-अलग रूप आपकी

आँखके सामने आते हैं और अलग-अलग आकृतियाँ भी आती हैं। अलग-अलग रूप होने पर भी आपकी आँख तो वही-की-वही होती है।

अच्छा, आँखकी अवस्था भी अलग-अलग होती है, आप यह ध्यानमें रखिये। किसीकी आँख अन्धी होती हैं, किसीकी मन्दी होती हैं, किसीकी तेज होती हैं, किसीकी ऐंचाताना होती हैं, किसीकी कानी होती है। आँख तो कानी भी, ऐंचाताना भी? मन्द भी। किसीको बाईस नम्बरका, तीस नम्बरका चश्मा। है भगवान्! जवान-जवान लोगोंको मैंने देखा। और कोई बिना चश्मेके। तो आँख भी अलग-अलग होती है। एक व्यक्तिकी ही आँख बचपनमें कुछ, जवानीमें कुछ, बुढ़ापेमें कुछ! ऐसे कान भी किसीका जोरसे सुनता है और किसीका कम सुनता है। इसीतरह नाक भी होती है, जीभ भी होती है, त्वचा भी होती है। परन्तु; इनके द्वारा विषयोंको ग्रहण करनेवाला एक है, विषयकी अनेकता होने पर भी और इन्द्रियोंकी अनेकता होनेपर भी ग्रहण करनेवाला, एक होता है। तो जो अनेक ये रूप, शब्द, स्पर्श या गन्ध जो है, वह आप नहीं हैं। यह ध्यान कीजिये और अनेक जो इन्द्रियाँ हैं, वह भी आप नहीं हैं। इन्द्रियाँ अनेक हैं, अनेक तरहकी हैं—आप इनसे भी जुदा हैं। इन सबके भीतर रहकर इन सबको आप देख रहे हैं। इन सबके द्वारा आप काम ले रहे हैं।

अच्छा, तो मनोवृत्तियाँ भी अनेक हैं। आप जानते हैं कि दिनभरमें कभी रोने लगते हैं। दिनभरमें कोई आपको देखे दो-तीन बार तो, एक बार उदास देखेगा, एक बार हँसते हुए देखेगा। आप हँसते हुए हैं कि उदास हैं? आपकी मनोवृत्ति बदलती रहती है, मूड़ बदलता है, मन बदलता रहता है।

यह ज़ो लोग कर्मसे सृष्टि नहीं मानते हैं, माने कर्मानुसार सृष्टि नहीं मानते हैं, मुसलमान लोग, ईसाई लोग, वे ईश्वरकी मौज मानते हैं। सृष्टि क्या है? जैसे यह समुद्रकी तरंग है, वैसे यह खुदाकी मौज है, तो यह

आपका मन है। अच्छा, तो मौज भी तरह-तरहकी होती है। आप वह भी नहीं हैं। मौज अनेक हैं आप एक हैं। कभी बुद्धि जाग्रत् रहती है, कभी वासना जाग्रत् रहती है।

आप देखो, एक ही विषय उपस्थित होने पर बुद्धि कहेगी, छूना मत। मन कहेगा, जरा भोग लेवें तो क्या हो गया? तो मन अलग, बुद्धि अलग। कभी बुद्धि उस भोगका समर्थन करेगी, कभी विरोध करेगी। बुद्धि कभी सो जायगी कभी जाग जायगी। तो आप विषयसे भी निराले, इन्द्रियोंसे भी निराले, मनोवृत्तियोंसे भी निराले, बुद्धि-वृत्तियोंसे भी निराले, उनके सोने-जागनेसे भी निराले, यह आपका स्वरूप है। इसमें आप थोड़ी देर टिकिये न!

अभी मैंने एक हिस्सेको छोड़ दिया है। उसमें आपका ध्यान गया कि नहीं गया? पाँव चलते हैं। कभी तेज दौड़ते हैं, कभी धीरे-धीरे चलते हैं। कभी नहीं दौड़ते हैं। हाथ कभी काम करता है, कभी जोरसे मशीन चलाता है। कभी हाथ जोड़ता है। देखो, हाथमें अनेक क्रियाएँ होती हैं। कभी जीभ बोलती है, कभी जीभ चुप रहती है और शौच-लघुशंकाके लिए कभी-कभी आप जाते हैं और बिना शौच-लघुशंकाके भी रहते हैं न? सब हालतोंमें रहते हैं न? इसकी क्रिया कैसी होती है? प्राणके द्वारा। तो कर्मेन्द्रियोंसे क्रिया भी अनेक होती हैं, कर्मेन्द्रियाँ भी अनेक हैं। और इनमें कभी क्रिया होती है, कभी इनमें क्रिया नहीं भी होती है। तो आप प्राणसे भी निराले हैं। कर्तापनकी ओर क्रिया ले जाती है। मनकी इन्द्रियको स्वीकार करके आप भोक्ता बनते हैं। मनकी शान्तिमें भी भोक्ता बनते हैं और मनकी चंचलतामें भी भोक्ता बनते हैं। कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे जब आप कर्मेन्द्रियवाले हैं, तब आपका नाम कर्ता। जब आप ज्ञानेन्द्रियवाले हैं, अन्तःकरणवाले हैं, तब आपका नाम भोक्ता। यह कर्तापन है और भोक्तापन दोनों बुद्धिका अभिमान है। परन्तु; भोक्तापन बुद्धिकी शान्तिमें ही रहता है और कर्तापन केवल क्रियाशीलतामें ही भासता है। आप शरीरको लेकरके द्रव्य हैं। आप

ज्ञानेन्द्रियोंको लेकरके ज्ञाता हैं। आप कर्मेन्द्रियोंको लेकरके कर्ता हैं। आप अन्त:करणको लेकर भोक्ता हैं और भोक्ता भी विश्राम करता है। आनन्दमय कोशमें समाधिमें भोक्ता विश्राम करता है। तब आप क्या हैं? आओ, अपने कूटस्थ स्वरूपमें बैठ जाओ।

सन्धयोऽखिलवृत्तिनामभावाश्चाभिभासिता:।

अलग-अलग वृत्ति होती है। आप ऐसे नहीं मालूम कर पाते हैं तो थोड़ी देरके लिए बैठ जाइये, बैठना नमूना है। पहले हमको बचपनकी याद है—'अमृतधारा' नामकी दवा आती थी। अब आती है कि नहीं आती है, हमको मालूम नहीं। पर जैसा जितना हो-हल्ला उसका शुरू-शुरूमें सुननेमें आया था, जितनी पहले भभक थी, उतनी अब सुननेमें नहीं आती है। ऐसे आदमी भी होता हैं। कोई आदमी शुरू-शुरूमें आगकी तरह जलता है और फिर राख हो जाता है। कितने योगी, कितने साधु, कितने नेता शुरू-शुरूमें कितने भभकते हैं और अन्तमें बुझ जाते हैं।

जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

जो फलता है वह झड़ जाता है और जो जलता है, वह बुझ जाता है। तो 'अमृतधारा' नामकी दवा आती थी, तो छोटी-छोटी शीशीमें उसके नमूने दो-दो आने, चार-चार आनेके नमूने आते थे। बड़ी शीशी लेनी हो तो बड़ी आती थी। तो यह ध्यान क्या है? यह ज्ञान दृष्टिका एक नन्हा-सा नमूना है। एक बूँद।

आपके अन्त:करणमें जब ज्ञानकी एक बूँद, आनन्दकी एक बूँद, सत्स्वरूपकी एक झाँकी, ज्ञानस्वरूपकी एक रश्मि, आनन्दामृतधाराकी एक बूँद जब आपके हृदयमें प्रकट होती है, तब उसका नाम होता है ध्यान। अनन्त आनन्दामृतधाराकी एक बूँद! अनन्त ज्ञानप्रकाशकी एक रश्मि। अनन्त सत्ता, अनन्त सत्‌की एक क्षणिक झाँकी जब आपके हृदयमें आती है, तब उसका नाम होता है ध्यान। उसको आप नमूना समझिये।

हमारे गाँवके कहार लोग जो हैं, ये पहले कलकत्तेमें काम करते थे। तो जब कलकत्तेसे आते तो इतना-इतना-इतना कपड़ेके नमूने और वह बड़े-बड़े नमूनेका पैकेट बना होता था। अब ऐसे करके जब नमूने-नमूने करके ले आते तो इतना हो जाता उनके घरमें तो फिर उनकी कमीज बनवाते थे, उनकी गंजी बनवाते थे, रंग-बिरंगी जैसे आजकल एक नया फैशन चला है न! उसमें मैच-मैच करनेका सवाल नहीं होता है। मैचवाला सवाल छूट गया। तो तरह-तरहकी एक ही पोशाकमें यह लेकर आते थे। तो वह जैसा थान नहीं होता था, मिलमें पूरे कपड़े जितने बनते थे, सब नहीं होते थे। उनका एक नमूना होता था।

वैसा यह ध्यान जो है, यह ज्ञानका एक नमूना है, नमूना। क्या बोलते हैं इसको? 'सेम्पल'। ज्ञानका एक सेम्पल है ध्यान। लेकिन जो अभी मैं सुनाने जा रहा हूँ वह क्या है? देखो, आपके मनमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ उदय होती रहती हैं। घटाकार वृत्ति आयी। घटाकार वृत्ति नहीं, वह स्त्री-आकार वृत्ति आयी। समझ लो, अपने मनमें बेटी आयी। अपने मनमें बेटा आया। अपने मनमें पति आया। अपने मनमें पत्नी आयी। और कल्पना आयी कि ऐसा मकान बनेगा। तो ये अलग-अलग आते रहते हैं। जाते रहते हैं और आप बिलकुल एक ही रहते हैं। तो मनमें ही आते-जाते रहते हैं न? मनमें रात आयी, मनमें दिन आया और आप वही हैं।

तो जब यह एक बार मनमें दिन आया, एक बार रात आयी, तो दोनोंके बीचमें भी तो कुछ होता है न? भाई, इतनी देर तक तो मनमें कुछ नहीं रहा। तो वहाँ मनका, आपका विषय क्या रहा? कुछ नहीं देख रहे थे। तो कर्मेन्द्रियोंसे कर्म होने और न होनेमें ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान होने और न होनेमें, मनके सुखी-दुःखी होने और न होनेमें, तरह-तरहकी वृत्तियाँ उदय होने और अस्त होनेमें, नयी-नयी वृत्तियोंके मिटने और आनेमें, और उनकी सन्धियोंमें आप स्वयंप्रकाश रहकरके सबको देख रहे हैं। सबको देख रहे हैं। इसका नाम हो गया द्रष्टा।

दो आदमी आपसमें लड़ रहे हों, तो जो एकका पक्ष लेगा, वह तो हो गया पक्षपाती और जो छुड़ानेके लिए पहुँच गया वह तो हो गया मध्यस्थ और जो उदासीन भावसे बैठा है कि—'भाई! सड़क पर तो ऐसी लड़ाई होती रहती है।' तो तुम बैठे हो और तुम्हारे सामने कभी वृत्ति उदय होती है, स्त्रीकी कभी पुरुषकी, कभी दोनोंकी नहीं और कभी सो जाते हैं। कभी निद्रा है, स्वप्न है, जाग्रत् है और तुम द्रष्टा हो, साक्षी हो, गवाह हो। साक्षी माने गवाह होता है गवाह। पक्षपाती गवाह नहीं होता, दुश्मन गवाह नहीं होता। गवाह वह होता है जो दोनों ओरसे किसीसे मिला हुआ न हो। गवाह अनमिला होता है, उसका नाम साक्षी है। सबके बदलने पर नहीं बदला, इसलिए उसका नाम कूटस्थ है। किसी वृत्तिके साथ वह कर्ता-भोक्ता नहीं बना, इसलिए उसका नाम तटस्थ है। वह सबको देखता है, इसलिए उसका नाम द्रष्टा है। उसके बिना किसीकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, सबको प्रकाशता है, इसलिए उसका नाम प्रकाशक है। दूसरे अपने प्रकाशके लिए उसको किसी दूसरेकी जरूरत नहीं है, इसलिए उसका नाम स्वयंप्रकाश है।

तो वह एकरस है, तटस्थ-कूटस्थ। वह कूटस्थ है एक सरीखा, बदलता नहीं है। वह तटस्थ है। किसीके साथ तादात्म्यापन्न नहीं होता, असंग है। वह प्रकाशक और स्वयंप्रकाश है। किसका देश-आकार वृत्तिका। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणवाली और उनकी समष्टिवाली वृत्तियोंका। पहले-पीछे सब वृत्तियोंका, काल-वृत्तियोंका और घट-पट-मठ आदि समस्त पदार्थोंका और समस्त द्रव्योंका जो केवल एकरस, कूटस्थ, बिना बदले हुए तटस्थ माने असंग रहकर और साक्षी माने सबको देखता हुआ, प्रकाशक माने सबको प्रकाश देता हुआ और स्वयंप्रकाश माने अपने प्रकाशके लिए किसीका पराधीन न होता हुआ, ऐसा है।

यह आप इन शब्दोंके अर्थ पर आप ध्यान दें। कूटस्थ माने

परिवर्तन-शील नहीं। तटस्थ माने किसीके साथ तादात्म्य न करनेवाला, असंग माने उदासीन। द्रष्टा माने देखनेवाला-केवल देखनेवाला ही नहीं, सबका प्रकाशक, उसके प्रकाशके बिना दूसरा कोई भी प्रकाशित नहीं हो सकता। और स्वयंप्रकाश—अपने प्रकाशके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं करता। न देशकी, न कालकी, न वस्तुकी, न आश्रयकी, व विषयकी!

ध्यानसे उठे तो ऐसा मालूम हुआ कि 'मैं ध्यानस्थ हो गया था।' बस-बस, पकड़े गये। बस, यहीं पकड़े गये। यह ध्यान तो है पर, ज्ञान नहीं है। वेदान्त यही कहता है कि जब तुम तटस्थ रहते हो, कूटस्थ रहते हो, द्रष्टा रहते हो, असंग उदासीन रहते हो, एकरस रहते हो, साक्षी रहते हो, यही तुम्हारा स्वरूप जब है और जब तुम प्रकाशक रहते हो और स्वयंप्रकाश रहते हो और देश-काल-वस्तु सबको अपनी प्रतीतिमें दिखाते हो, तो भले मानुष! यह तो सोचो कि तुम एक शरीरमें कैसे अँटोगे? एक अन्तःकरणमें कैसे अँटोगे? तुम तो अद्वितीय ब्रह्म हो। यह बात वेदान्त बताता है। इसका नाम होता है—ज्ञान!

यह जो तुम कूटस्थ-तटस्थ-द्रष्टा-साक्षी-असंग-उदासीन-एकरस, सर्वावभासक स्वयंप्रकाश, देश-काल-वस्तुके साक्षी तुम हो! तुम, इस 'तुम'को क्यों नहीं बोलते—'अहं ब्रह्मास्मि'? क्या आपत्ति है तुमको बोलनेमें? यह जो—

अहं तटस्थः कूटस्थः असङ्ग उदासीनः साक्षी सर्वावभासकः स्वयंप्रकाशः सोऽहं।

ऐसा जो मैं हूँ—

स ब्रह्मैव भवति नेतरत।

वह केवल ब्रह्म ही है, दूसरा हो ही नहीं सकता। तो वेदान्त यह नहीं कहता कि तुम आज तक नागरिक थे, आज सिपाही हो गये। आज तक तुम एक स्नातक थे, आज कलक्टर हो गये। यह 'ब्रह्म' कोई उपाधि नहीं है, कोई ओहदा नहीं है। आज तक तुम एक वकील थे, आज जज

हो गये। यह वेदान्त नहीं बताता है। वह तो अपनेको ब्राह्मण मानकरके एक पागल आदमीको बताता है कि तुम मनुष्य हो। यह वेदान्त है, भला! एक संन्यासी अपनेको संन्यासी मानकर जो पागल हो गया है उसको वेदान्त बताता है कि तुम मनुष्य हो। अपनेको जो हिन्दू-मुसलमान मानकर जो पागल हो गया है उसको वेदान्त बताता है कि तुम मनुष्य हो। अपनेको जो पाकिस्तानी और हिन्दूस्तानी मानकर पागल हो गया है उसको वेदान्त बताता है कि तुम मनुष्य हो। अपनेको जो देह मानकर पागल हो गया है उसको वेदान्त बताता है कि तुम जीव हो। जीव मानकर जो पागल हो गया है उसको वेदान्त बताता है कि तुम ईश्वर हो और जो अपनेको ईश्वर मानकरके दुनियाकी खटपट-सृष्टि-प्रलयका कर्ता अपनेको माननेको व्याकुल हो रहा है, उसको वेदान्त बताता है कि तुम ब्रह्म हो।

वेदान्त अनहुएको कुछ होनेकी शिक्षा नहीं देता। वह तो असलमें जो तुम हो, अपनेको नहीं जानते हो, वह तुम्हारा न जानना जो है, उसको वेदान्त मिटाता है। तुमको ब्रह्म बनाता नहीं, तुम अपने तटस्थ कूटस्थ असंग उदासीन द्रष्टा साक्षी सर्वावभासक स्वयंप्रकाशरूपमें तुम बैठे हुए हो। परन्तु फिर भी तुम अपनेको परिच्छिन्न घेरेवाला जो मान रहे हो, यह तुम्हारी मान्यता अविवेक मूलक है, अज्ञानमूलक है, भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्तिको वेदान्त हटाता है।

तो ध्यान प्रधानत: योगका विषय है, यह तो आप जानते हैं आयुर्वेदका विषय अलग होता है कि नहीं? एक डॉक्टरसे आप सलाह लो। हम डाक्टरीको भी आयुर्वेदके अन्तर्गत ही मानते हैं। यह भी एक शाखा है। वह आयुर्वेदके अनुसार सलाह देगा। एक वकील है, वह कानूनका जानकार है। वह कानूनके अनुसार सलाह देता है। एक ज्योतिषी है, वह ग्रह-नक्षत्रके अनुसार कोई बात बताता है। सबका अपना-अपना विभाग होता है। तो ध्यान योगका विभाग है, भला!

ध्यान योगका विभाग है, वह धर्मके साथ मिलता है तब

देवताका ध्यान होता है। उपासनाके साथ मिलता है तो इष्टदेवताका ध्यान हो जाता है। वह अष्टाङ्गयोगके साथ मिलता है तो समाधिका साधन हो जाता है। और, वह वेदान्तके साथ मिलता है तो वह अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन बन जाता है।

परन्तु; ध्यान मुख्यतः योगका विषय है और ज्ञान मुख्यतः वेदान्तका विषय है। ईश्वर मुख्यतः क्रियाका विषय है। तो जब खिचड़ी मचा देते हैं न, चार दिन—'विवेक चूड़ामणि' और 'पञ्चदशी' पढ़ी। ध्यानकी महिमा सुनी तो उधर भागे। चार दिन ध्यानकी महिमा सुनी कि समाधि लगाओ, फिर उधर भागे, इष्टदेवकी महिमा सुनी तो उधर भागे, चार दिन ध्यान किया फिर जपकी महिमा सुनी तो जपकी ओर भागे। तो असलमें कहीं भी मनुष्यकी निष्ठा जब नहीं होती है, तब वह अपने स्थानसे च्युत हो जाता है।

यदि आप अपने जीवनमें पहले सत्कर्म और सद्गुणोंको धारण कर लेते हैं, यह पहली 'तत्' बात है। और,'तत्' पदार्थके शोधनके उपयोगी इष्टदेवका ध्यान कर लेते हैं और 'त्वं' पदार्थके ज्ञानके उपयोगी आत्म चिन्तन कर लेते हैं, तो आपको एक बड़ी मजेदार बात मैं सुनाता हूँ। साधु सावधान!

वह बात क्या है कि असलमें देहसे अलग अन्तःकरणकी उपलब्धि किसीको प्रत्यक्षरूपसे नहीं होती है। और अन्तःकरणसे अलग देहकी उपलब्धि भी प्रत्यक्षरूपसे किसीको नहीं होती है। यह सार्वजनिक अनुभवकी बात मैं कह रहा हूँ। जो लोग भूतलोक-प्रेत लोकमें विचरण करते हैं, उनकी बात मैं नहीं कर रहा हूँ, भला! उनका स्तर दूसरा है।

भूतलोक-प्रेतलोक-ऋषि-पितरलोक, तपलोक-जनलोक-महर्लोक हैं न! जो ऊपरके लोकोंमें विचरण करते हैं, वे असलमें आधिदैविक ज्ञानकी कक्षामें हैं। वे हमारे आध्यात्मिक ज्ञानकी कक्षामें है ही नहीं। इसलिए जैसे एम. ए. क्लासवाला जाकर मैट्रिक-क्लासवाले

विद्यार्थियोंको भड़कावे कि तुम लोगोंको अभी ऊँची शिक्षा नहीं दी जा रही है, इसको छोड़ दो। ऐसे हम नहीं करते हैं।

हम एक ऊँची बात सुनाते हैं। कम-से-कम शरीरसे कोई ऐसा काम मत करो जिससे दूसरेको नुकसान पहुँचता हो। दूसरेको नुकसान पहुँचता हो, ऐसा काम शरीरसे बिलकुल न करो। जिससे दूसरेको नुकसान पहुँचता हो, ऐसा काम बन्द कर दो। जहाँ तक हो सके, शरीरसे सेवा हो, श्रम हो-आलसी न बने शरीर। वेदान्तका काम शरीरको आलसी बनाना बिलकुल नहीं है। और, इन्द्रियकी प्रवृत्ति, मनकी प्रवृत्ति औचित्यकी मर्यादाका उल्लंघन न करे। आप बुद्धिके द्वारा कभी अनर्थका समर्थन न करें। यह नहीं कि इन्द्रियोंसे आप कोई भोग न भोगें—आप कर्म न करें—या आपका मन बिलकुल ठप्प पड़ जाय, यह हम बिलकुल नहीं चाहते। और, बाहरकी चीजोंको लेकर आप बड़प्पनमें मत भटकें। वह तिजोरीमें रखा हुआ जो पैसा है, वह आपके बड़प्पनका हेतु नहीं हो सकता। बैंकमें जो रखा है, वह आपके बड़प्पनका हेतु नहीं हो सकता। कब नोटके नम्बर बदल जायेंगे और कब तिजोरीमें रखी हुई चीजका अवमूल्यन हो जायेगा, हीरे-मोती-सोनेका भाव कब गिरेगा, कब उठेगा—यह सब कुछ मालूम नहीं है। कब सरकार ले लेगी, कब चोर-डाकुओंके हाथमें जायेगा, कुछ पता नहीं है। और यह विद्याबुद्धि भी अभिमान करने योग्य नहीं है। आपको बिलकुल सीधी-सीधी बात बताते हैं और यह सबकी समझमें आने लायक है।

वृन्दावनमें हमारे पास एक ठाकुर साहब प्राय: आते हैं। उनका 'मंगलसिंह' नाम है। बड़ा भारी साफा बाँधकर आते हैं। वे कोई बीक स्टेटसे सम्बद्ध हैं। पिछले चुनावमें जो दस वर्ष पहले हुआ था उनके बड़े सुन्दर मैट्रिक पास लड़केको-साफा-वाफा बाँधकरके राजाके रूपमें बनाकर घोड़ेपर बैठा दिया। और वह 'मुरसान'के राजा 'महेन्द्र प्रताप' चुनावमें खड़े थे। चुनावमें घोड़ेपर बैठा कर, साफा बाँधकर जुलूस निकाला उस लड़केका।

अब घोड़ा जो बिदक गया, सो लड़का गिरा। उस मैट्रिक पास लड़केको एक अक्षर अंग्रेजीका ज्ञान नहीं रहा। गिरनेके बाद बड़ी-बड़ी चिकित्सा हुई। फिर वर्ष दो वर्षके बाद दर्जा चारसे जो हिन्दीकी योग्यता है, उसकी जगायी गयी। वीकानेरमें उन्हींका मन्दिर है, उसी मन्दिरमें पुजारीका काम करता है। उसकी सारी जानकारी लुप्त हो गयी।

आप इसी विद्याका अभिमान करते हैं कि हमारे पास यह डिग्री है। एक जरा-सा धक्का लगा दिमागपर, और उसकी पढ़ी हुई आजीवनकी विद्या तत्काल नष्ट हो गयी। इसका क्या अभिमान करना है? और यह बुद्धि-महारानी जो दो-चार पैग जाते हैं तो कैसी हो जाती है? मालूम है? हाँ-हाँ अपनी माताओंको लोग मारते हैं। हमारे पास माताओंने शिकायत की है कि हमारा बेटा जब पी लेता है, तब हमको मारता है, गाली देता है और जब होशमें आता है तब पाँवमें गिरकर माफी माँगता है। तुम्हारी बुद्धिकी यही कीमत है। वह दस-बीस-पचीस रुपयेकी वस्तु होगी।

अरे! ताड़ी पीनेसे क्या हो जाता है, हमको मालूम है। भाँग खानेसे क्या हो जाता है वह भी मालूम है। बड़े-बड़े साधक महाराज! तो तुम्हारी यह विद्याकी स्थिति है और यह तुम्हारी बुद्धिकी स्थिति है। इनके अभिमानको धारण करके तुम अपने अन्दर क्या बड़प्पन ला सकते हो? तो महाराज, बात है सीधी कि हमको छोटेपनमें इस बातसे बड़ा लाभ हुआ है। आपको अपना अनुभव सुनाते हैं।

यह जो आपका अन्तःकरण है न, देहमें ही है। क्योंकि—सारे विश्वमें हमारा अन्तःकरण है; यह प्रतीत तो होता नहीं है। यह तो शास्त्रोंमें सुन-सुनकर मानना पड़ता है। तो अन्तःकरणके बिना तो देह हमारा देखा हुआ नहीं है और देहके बिना अन्तःकरण भी देखा हुआ नहीं है। इसलिए एक बात आपको, जिससे हमको बहुत लाभ हुआ है, वह बात आपको सुनाते हैं।

यह अन्तःकरण और देह इन दोनोंमें अपने आपको मत मिलाओ।

यह अहंकार सहित देह पृथक् चेष्टा कर रहा है और इसको आप देखते रहिये। आँख कभी मन्द होगी, कभी तेज होगी। कान कभी सुनेंगे, कभी नहीं सुनेंगे। कभी घुटनेमें दर्द होगा। कभी बलवान होंगे। कभी वाणी बोलेगी, कभी नहीं बोलेगी और कभी अन्त:करण शान्त होगा, कभी नहीं होगा। कभी इच्छा होगी, कभी इच्छाकी शान्ति होगी। एक बात- केवल एक बात ध्यानमें रखिये-यह ध्यान है—

अन्त:करण और देहको चिदात्मा मत मानिये। आप तटस्थ कूटस्थ असङ्ग उदासीन दृष्टा साक्षी सर्वावभासक स्वयंप्रकाश हैं। अपने आपको अहंकारके साथ बिलकुल मत मिलाइये। और, अन्त:करणकी जो स्थितियाँ हैं, उनको अपने आपके साथ मत जोड़िये।

'बस-बस! महाराज! बोले—महाराज, इच्छा होती है।'

देखो, अब आपको सुनाते हैं। जब इच्छा हो तो यह मत कहो कि यह इच्छा हमको हुई और हमको परेशान करती है। आप यह कहो कि पूर्व-पूर्व वासनाके जो संस्कार हैं, उसके अनुसार इच्छाका उदय हुआ और संस्कारका वेग समाप्त होते ही वह इच्छा समाप्त हो जायगी। न मैंने वह इच्छा की, न वह इच्छा मुझमें है। और न इसका कोई परिणाम, कोई नतीजा इसका मेरे साथ जुड़ सकता है। बस, है न! देखो, एक ध्यानकी पद्धति आपके सामने साफ हुई कि नहीं? स्पष्ट हो गयी ध्यानकी प्रकृति कि नहीं? यह ध्यानकी प्रकृति है।

अन्त:करण देह और दैहिक वस्तुओंसे, कृत्योंसे, सम्बन्धोंसे तटस्थ नहीं है। आप तटस्थ हैं। लो, एक दूसरी पद्धति हो गयी। यह भी एक प्रक्रिया है।

अन्त:करण बदल रहा है, आप कूटस्थ हैं। अन्त:करण दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। आप उसमें कर्ता अथवा ज्ञाता नहीं हैं, केवल साक्षी हैं। ज्ञाता और साक्षीमें फर्क होता है। जो किसी औजारसे देखे सो ज्ञाता। और जो बिना औजारके ही देखे, सो साक्षी। माने आँखसे जो देखता है वह ज्ञाता है और जो बुद्धिसे देखता है वह ज्ञाता है। जो बिना मन और

बुद्धिके ही प्रकाशमात्रसे देखता है वह द्रष्टा है, साक्षी है। तो नारायण! केवल इतनी बात—

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहं कृतम्॥

अपने चिदात्माको अन्तःकरण और देहमें प्रविष्ट मत कीजिये। जैसे आप घड़ीको देखते हैं, वैसे अन्तःकरण सहित इस देहपिण्डको देखिये। यह देहपिण्ड वैसे ही है जैसे घड़ी पिण्ड है और घड़ीका भी लीवर काम कर रहा है। अन्तःकरण सहित देह दृश्य है। आप उसमें अपनेको मत घुसाइये। और उसको ऐसे देखिये जैसे मेजपर रखी हुई घड़ी। घड़ी तो चलती है, चलने दीजिये। घड़ी रुकती है, रुकने दीजिये। घड़ी बिगड़ती है, बिगड़ने दीजिये।

बस यह जो आप घड़ीसे मिलते हैं और घड़ीके गुण-धर्मको अपने ऊपर जोड़ते हैं, इसका नाम है 'ग्रन्थि-गाँठ'। घड़ी उठाकर ले जाय कोई तो आपका दिल ले जायेगा। क्यों? आपने अपने दिलको घड़ीके साथ जोड़ दिया है। 'घड़ी मेरी'—यही ग्रन्थि है। तो इस दिलके साथ जो आपने गाँठ लगायी है कि यह दिल मेरा, यह देह मेरा—इस ग्रन्थिको भेद दीजिये। असलमें यह ग्रन्थि है नहीं। मानी हुई है। अच्छाजी! यह तो आपके बतानेके पहले भी नहीं थी। ठीक है 'ग्रन्थिभेदात्पुरात्येवम्।' यह तो पहले भी ऐसा है, ठीक है, पहले भी ऐसा है, अब भी ऐसा है। बादमें भी ऐसा है। आप इस गाँठको झूठ-मूठ मत लगाइये।

बोले—'तब फिर हममें और दूसरोंमें भेद क्या हुआ?'

'दूसरे इस बातको नहीं जानते हैं, पर आप जानते हैं। ज्ञान भेद बनानेके लिए नहीं होता।' हम चूरू गये थे राजस्थानमें, 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम' संन्यासी होनेके बाद गये थे। तो कोई बात चली तो सेठ जयदयालजीने कहा—कि ज्ञानी-अज्ञानीमें भेद ही क्या रहेगा?

तो मैंने उनसे कहा—'ज्ञानसे ज्ञानी अज्ञानीका भेद बनता है कि ज्ञानी-अज्ञानीका भेद टूटता है?' तो हँसने लगे वे। उनकी बुद्धि बड़ी

अच्छी थी, भला! उन्होंने पहले तो पूछा—कि 'यदि ऐसा है तो ज्ञानी और अज्ञानीमें भेद क्या? दोनों एक हो गये?'

तो मैंने कहा—'ज्ञान होनेसे ज्ञानी-अज्ञानी कट जाता है कि बन जाता है?'

तो बोले—'कट जाता है।'

तो देखो, बात केवल इतनी है कि आपके अन्तःकरणमें जो अहंकार काम कर रहा है, उसको और बुद्धि, मन, चित्त-पूरा-का-पूरा अन्तःकरण, प्राण—ये एक घड़ीकी तरह पृथक् पिण्ड है—ऐसा ध्यान करो न यह मैं और न यह मेरा। इसको देखते रहिये। बोले—घड़ी बन्द हो गयी। हो जाने दो। बन्द होना माने मर जाना। घड़ी चल गयी। चलने दो, कोई हर्ज नहीं। जब तुम्हारी है ही नहीं, तो बन्द है कि चल रही है, इससे तुमको क्या मतलब? बोले—'गलत चल रही है। कुछ आगे बढ़ गयी, कुछ पीछे हो गयी—इससे तुम्हारा क्या मतलब? यह तो रास्ते पर चलते हुए किसी दूकानकी दीवाल पर घड़ी लगी दिखती है, ऐसे ही यह भी एक घड़ी है। बोले कि नहीं, दूसरेकी जैसी हो सो हो, हमारी ऐसी रहनी चाहिए।'

बोले—'बस! इसीका नाम ग्रन्थि है।' चिदात्माको, स्वयंप्रकाशको इस अहंकी घड़ीसे मिला दिया। देखो? एक ध्यानका स्वरूप यह बताया कि अपनेको अन्तःकरण और और उसमें काम करनेवाले अहंसे पृथक् कर देखो और यह आपको बिलकुल ज्ञानके आविर्भावमें, अज्ञानकी निवृत्तिमें मदद करनेवाला ध्यान है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 17 :

एक बार कहीं यात्रा करनी थी मोटरसे, तो जो सड़कोंका नक्शा होता है मँगवाया कि मोटरसे किस रास्ते, कहाँ-कहाँसे होकर जाना है? अब एक सज्जन आये और वे बोले—कि—'यह नक्शा शायद झूठा हो और जो बोर्ड होता है नक्शा प्रदर्शित करनेवाला उसको लोगोंको परेशान करनेके लिए बनाया हो! कोई ठगी हो!'

अब आप विचार करो कि यदि आपको यात्रा करनी है, और उस नक्शेसे कुछ फायदा उठा सकते हो, तो आपको उस नक्शेसे फायदा उठाते हुए आगे बढ़ना चाहिए—

परोक्षज्ञानं-अश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत्।

शास्त्रमें जो आत्माका स्वरूप, परब्रह्मका स्वरूप बताया हुआ है, यदि उसका ठीक-ठीक स्वाध्याय किया जाय तो तत्काल परोक्षज्ञान होता है। और, यदि उसमें श्रद्धा न करें, गुरुमें श्रद्धा नहीं, वेदान्तमें श्रद्धा नहीं, सन्तमें श्रद्धा नहीं, तो परोक्षरूपसे जो बात जानी जा सकती है, उसके जाननेमें भी बाधा पड़ जायगी। तो एक अनजाने मार्गके लिए श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता पड़ती है।

अब कहो कि हमें तो अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना है। तो अपरोक्ष ज्ञानके लिए विचारकी आवश्यकता है। विचार क्या है? चार माने होता है चलना और विचार माने होता है—एक विशेष प्रकारसे चलना। 'वि' माने विशेष प्रकार और 'चार' माने चलना और कहो तो बोलना पड़ेगा

कि विपरीत चार। विपरीत चारका क्या अर्थ है कि आँख सामनेको जाती है न! तो आँख जाती है घड़ीकी ओर और हम घड़ीमें-से निकलकर आँखमें आजाँय। यह विपरीत हो गया। मन चलता है आँखकी ओर। तो हम आँखमें-से चलकर मनमें आजाँय। हम चलते हैं मनकी ओर तो मनमें-से निकलकर हम अपने आपमें आजाँय। यह जो निवृत्ति है, असलमें निवृत्ति ही विचार है। जहाँ-जहाँ आप प्रवृत्त हो रहे हैं—

एष मार्गो नृणां क्षेमः।

श्रीमद्भागवतमें बताया कि यह मार्ग मनुष्योंके लिए कल्याणकारी है। भले—दिनभर भटके; लेकिन शामको अपने घर लौट आये तो उसकी कुशल मनाओ दिनभर भटके; तो भटके लेकिन शामको तो अपने घर लौट आओ। तो वेदान्तकी साधना क्या है? ध्यान क्या है? एक ही बातको दो तरहसे आचार्योंने कहा है—

यतो यतो विरज्यते विमुच्यते ततस्ततः।
यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः॥

पञ्चदशीकारने इसको बदल दिया, बात वही-की-वही है। जहाँ-जहाँसे निवृत्ति होती है, वहाँ-वहाँसे मुक्ति होती है। जहाँ-जहाँसे वैराग्य होता है, वहाँ-वहाँसे मुक्ति होती है। अब देखो, एक मुक्तिका मार्ग देखें—

आप स्वच्छन्दवादी प्रकृतिके हैं, उच्छृङ्खल। आपके जीवनमें कोई जंजीर नहीं है। उच्छृङ्खल माने? संस्कृतभाषामें 'उच्छृङ्खल' शब्दका प्रयोग करते हैं तो 'उत्-शृंखला'। शृंखला माने जंजीर और उच्छृङ्खल माने जिसके जीवनमें कोई जंजीर न हो, मर्यादा न हो, बन्धन न हो। उसको उच्छृङ्खल बोलते हैं।

तो एक शृंखला बनाओ कि हम धर्मके अनुसार भोग करेंगे, धर्मके अनुसार कर्म करेंगे, धर्मके अनुसार संग्रह करेंगे, धर्मके अनुसार बोलेंगे, तो क्या होगा?

अधर्मके अनुसार करना, अधर्मके अनुसार भोगना, अधर्मके अनुसार इकट्ठा करना, अधर्मके अनुसार बोलना—इन चारोंसे निवृत्ति हो गयी।

तो धर्म क्या है? धर्म प्रवृत्ति है कि निवृत्ति? देखो, धर्म पापसे निवृत्ति है और पुण्यमें प्रवृत्ति है। अब आप अपने मनको ईश्वरमें लगाओ। तो ईश्वरमें लगाना क्या है? दुर्गुण, दुर्भावना, दुर्वासनाकी ओरसे निवृत्ति है और शुभमें प्रवृत्ति है। उसमें भी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों हैं।

अच्छा, अब आओ, ध्यान करो। तो उपासना और ध्यानमें क्या अन्तर है? श्रद्धाकी प्रधानतासे उपासना होती है। उसमें जिसकी उपासना की जाती है, उसकी कृपाका बहुत भरोसा होता है। और, अभ्यासकी प्रधानतासे ध्यान होता है और विचारकी प्रधानतासे ज्ञान होता है। श्रद्धाकी प्रधानतासे उपासना की—हमारा इष्टदेव हमारी मदद करेगा। और अभ्यासकी प्रधानतासे चाहे कुछ भी हो जाय, प्रलय हो जाय! एक बौद्ध अभ्यास कर सकता है, परन्तु उपासना नहीं कर सकता है ईश्वरकी। वह तो बुद्धकी ही करेगा। एक जैन अभ्यास कर सकता है, उपासना करेगा तो अपने तीर्थंकरकी। उसको ऋजुमति बोलते हैं। और, एक भक्त उपासना करता है। अपने पौरुषका बल होता है ध्यानमें, और भगवान्‌की कृपाका, अनुग्रहका बल होता है उपासनामें।

अच्छा आओ, उपासना, ध्यान और ज्ञानपर विचार करें। श्रद्धाकी प्रधानतासे उपासना, पौरुषकी प्रधानतासे ध्यान और वस्तुतन्त्र, जो चीज जैसी है उसको वैसा जानना ज्ञान है।

तो, ईश्वरका पौरुष है उपासनामें और आत्माका पौरुष है ध्यानमें। और दोनोंमें जो पौरुष है वह उपाधिसे है। विचार करके देख लो। निरुपाधिक जो है, उसमें न आत्मपौरुष है, न परानुग्रह है। वह अपना स्वरूप है। तो दुनिया जितनी-जितनी छूटती जाती है और

अपने आपमें जितना-जितना बैठते जाते हैं, उतना-उतना ही ध्यान होता है।

अब इसके लिए हम तीन प्रक्रिया सुनाते हैं आपको। आप कोई आलम्बन लेकर ध्यान करना चाहते हैं कि बिना आलम्बनके? प्रेमका आलम्बन क्या है? तो प्रेमका स्वरूप क्या है, यह बात अलग है। प्रेमका स्वरूप है रस। और प्रेमका स्वभाव क्या है? प्रेमका स्वभाव है आत्मीयता। तो प्रेमी अपना मानता है, सम्बन्ध बनाता है। और, प्रेमका आलम्बन क्या है? प्रेमका आलम्बन है प्रेम। प्रेमको देखकर प्रेम बढ़ता है। प्रेमका सहारा लेकर प्रेम बढ़ता है।

तो अब जरा आओ, ध्यानकी ओर। तो शब्दका आलम्बन—जैसे श्रीरमण महर्षि लोगोंको बताते थे—'कोऽहं?' 'कोऽहं?' 'मैं कौन?' 'मैं कौन?' यह विचार चला। हमारे 'अहंग्रह' उपासक लोग बताते हैं—'सोऽहं', 'सोऽहं'। 'सोऽहं'—मैं वह हूँ—यह उपासना है। परोक्ष जो 'सः' है, उसको अहंके रूपमें चिन्तन करना, यह उपासना है। 'सोऽहं' उपासना है। अनेक प्रकारसे शब्दका आलम्बन ले सकते हैं। क्योंकि शब्द जो है, वह अनुत्थित वृत्तिको उत्थित करता है। शब्दमें उठानेका सामर्थ्य है। उठानेका क्या सामर्थ्य है? जो चीज सो रही है उसको जगा देना, यह शब्दका सामर्थ्य है। सोये हुएको जगाना। जो अपना अहं, सच्चा अहं सो रहा है, उसको शब्दका आधार लेकर जाग्रत् करना।

कई लोग तो 'अहं-अहं' इतना ही करते हैं। 'अस्मि-अस्मि' 'अहं-अहं', इतना ही आलम्बन होता है। तो आलम्बनमें पदार्थका आलम्बन, शब्दका आलम्बन, अर्थका आलम्बन, विचारका आलम्बन, ये चारों आलम्बन लेकर मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है।

एक महात्मा, जिसको आप तत्त्वज्ञ मानते हैं, उसको आप अपने हृदयमें बैठाइये-आलम्बन है। स्थूल आलम्बन है और फिर देखिये कि वह क्या सोच रहा है? तो उसके विचारका आलम्बन हो गया। उसको

जो आनन्द आ रहा है, वही आपको आ गया। और फिर उसकी जो अस्मिता है, ब्रह्ममें, उस अस्मिताका उदय हो गया। आप महात्माका ध्यान करते हैं? ज्यादातर ऐसा होता है कि जो भक्तलोग होते हैं वे अपने इष्टदेवका ध्यान करते हैं और ध्यान किये बिना तो जिज्ञासु लोग भी नहीं रह सकते। तो वह अपने गुरुका ध्यान करते हैं। परमहंस रामकृष्णको यदि 'गुरु' कह दिया जाय, तो वे नाराज हो जायेंगे। वे कहेंगे—'ॐ नमो भगवते परमहंसाय'। 'ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय।' हमारे तो भगवान् हैं। 'ॐ नमो भगवते रमणाय।' तो शब्दका सहारा लेकर गुरुका ध्यान। गुरुकी मूर्तिका ध्यान, उनके विचारोंका ध्यान, और उनके आनन्दका ध्यान, और उनके अहंका ध्यान। तंत्रमार्गमें सर्वत्र गुरुका ही ध्यान होता है।

अब आपको ध्यान करना है तो शब्दका आलंबन लीजिये। अहं, अहं, अहं ब्रह्म अस्मि। तत् त्वं अस्मि। ऐसा! 'प्रज्ञानं ब्रह्म।' ऐसे अनेक होते हैं। 'अहं वा भगवो त्वं असि।' 'त्वं वा भगवतो अहं अस्मि।' ये शब्दावलम्बन हैं। 'मैं' 'भगवन् तुम हो' और 'तुम भगवन्' मैं हूँ। और 'मैं भगवान् तुम हो'—ऐसा आलम्बन लेते हैं। तो शब्दका आलम्बन लेना और अर्थका आलम्बन लेना।

अर्थका आलम्बन लेना—अर्थ माने दिग्कालाद्यपरिच्छिन्न अनन्त आत्मतत्त्व है।

दिग्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥

जहाँ न पूर्व है न पश्चिम, न उत्तर न दक्षिण, न ऊपर है न नीचे, न बाहर है न भीतर। जहाँ न पहले है न पीछे, न दोनोंके बीचमें, वर्तमान। जहाँ न वह है न तू है। न मैं है—ऐसा जो प्रत्यक् चैतन्य आत्मतत्त्व है स्वानुभव स्वरूप! केवल अर्थका ही चिन्तन करना। शब्द और अर्थ दोनोंका चिन्तन करना, यह भी होता है और दोनोंका चिन्तन छोड़कर अचिन्तनका चिन्तन करना—

अचिन्तनं चिन्तनम्।

हमने पहले एक सूत्र लिखे थे। 'विज्ञानसूत्राणि' उनका नाम था। अभी नहीं, वह संन्यासी होनेके बाद नहीं। वह तो बाल्यावस्थाका प्रभाव था उन्नीस-बीस वर्षके थे—तो यह ब्रह्मचिन्तन क्या है? आत्मचिन्तन क्या है? उसमें ब्रह्मचिन्तन कैसे होता है? एक सूत्र था उसमें— 'अचिन्तनं चिन्तनम्।' कुछ चिन्तन नहीं करना ब्रह्म चिन्तन है। चिन्तनसे मुक्ति, चिन्तनात्मक अन्त:करण से मुक्ति। यही अपना नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वरूप है। 'अचिन्तनम् चिन्तनम्'।

इसका अर्थ हुआ, 'अध्यानम् ध्यानम्' तो शब्दके आलम्बनसे चिन्तन, अर्थके आलम्बनसे चिन्तन, दोनोंके आलम्बनसे चिन्तन और दोनोंके परित्यागसे चिन्तन। अच्छा, अब आपको इसमें जो रहस्य है, सो बताता हूँ।

ये चारों प्रकारका चिन्तन परिच्छिन्नात्म-बोधको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं है। कहनेके लिए कह दिया अब काटनेके लिए काट भी देते हैं।

असलमें शब्दका आलम्बन लेकर ध्यान, अर्थका आलम्बन लेकर ध्यान, दोनोंका आलम्बन लेकर ध्यान और दोनोंका परित्याग—ये सब अन्त:करणकी वृत्तिकी प्रक्रिया है। इसलिए हम एक अन्त:करणमें बैठ जाते हैं और सबको छोड़ करके उसके द्रष्टा हो गये। असलमें यह तटस्थ कूटस्त द्रष्टाके रूपमें स्थित होनेके लिए एक प्रक्रियामात्र है। 'दृग्दृश्य विवेक'की प्रक्रिया है। 'वाक्यसुधा' भी उसको बोलते हैं। 'वाक्यवृत्ति' भी बोलते हैं।

तो, कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि यह अचिन्तन अथवा समाधिदशाका हो जाना ही वेदान्तकी पराकाष्ठा है। परन्तु, आपको यह मालूम होना चाहिए कि यह संसार चिन्तनकी निवृत्ति है। यह तो प्रपञ्च-विस्मरणकी एक अवस्था है। यह तो प्रपञ्चका केवल अभान है। अभी इसमें जो मूल गुत्थी है वह खुली नहीं है। वह क्या है? मूल गुत्थी क्या

है कि 'आत्मा अद्वितीय ब्रह्म है'—यह बोध हुआ क्या? तुम आँख बन्द करके बैठ गये। दुनियाका मालूम पड़ना छूट गया। यह भी हुआ कि 'मैं द्रष्टा हूँ।' यह भी हो गया, परन्तु, जिस दृश्यका अभान हुआ, जैसे सुषुप्तिदशामें प्रपञ्चका अभान हो गया। सोते समय क्या मालूम हुआ बेटा कि बेटी, मकान कि पलंग? कुछ भी तो मालूम नहीं पड़ता था। परन्तु उठनेके बाद सब सच्चा हो गया कि नहीं? सब मेरा हो गया कि नहीं?

ऐसे यदि तुम्हें अचिन्तनरूप समाधि लग जाय और तुम उसके द्रष्टा रह जाओ तो सारी दुनिया ज्यों-की-त्यों तुम्हारे सामने आवेगी कि नहीं आवेगी? आवेगी! तो वह दुनिया सच्ची हो गयी कि नहीं? मेरी हो गयी कि नहीं? तो यह जो केवल ध्यानकालमें सम्बन्धका परित्याग करके द्रष्टा हो जाते हैं या समाधिकालमें अभानदशामें पहुँच जाते हैं, उनके लिए क्या संसारका द्वैत कट गया? तो बोले—'भाई! अभी तो तुम योगकी भूमिकामें रह गये। अब आपको जिज्ञासा हो, रुचि हो तो आओ, वेदान्तकी भूमिकामें ले चलें। और, न हो तो आप मौज करो! आपको अपना नाम 'अद्वैतानन्द' पसन्द नहीं है तो 'द्वैतानन्द' रखिये उसमें क्या बात है? आप अद्वैत प्रकाशका अनुभव नहीं चाहते हैं तो आप द्वैतप्रकाश रहिये। तो जिस दृश्यका विवेक करके आप उससे अलग हुए हैं कि यह दृश्य मैं नहीं, और यह दृश्य मेरा नहीं और समाधि लगाकर जिस दृश्यका मालूम पड़ना ही आपने बन्द कर दिया है, असलमें वह दृश्य है क्या ?

कोऽहम् कथमिदम् जातं को वै कर्ताऽस्मि विद्यते। विचाराः सोऽयमीदृशः॥

आप लोग तो शहरके निवासी हैं यदि हम गङ्गा किनारे किसी ब्रह्मज्ञानीके पास जाकर और समाधि लगाकर बैठ जाँय और वह हमारा हितैषी होगा तो जोरसे एक चपत हमारी कनपटीमें मारकर और हमारी समाधि तुड़वा देगा। कहेगा—'वेदान्तका विचार न करके यहाँ समाधि लगाकर बैठा है? कर चिन्तन! द्वैतकी ग्रन्थि है, उसका भेदन करनेके लिए चिन्तन कर, चिन्तन! क्या समाधि लगाकर बैठा है?'

भ्रान्तिकी निवृत्ति करनेके लिए विद्यावृत्ति—विद्या माने किताब पढ़ना नहीं होता है। विद्या माने कागज पर लिखी हुई नहीं, वस्तु विषयक यथार्थ वृत्ति होती है, जो वस्तुका यथार्थ ज्ञान है, उसका नाम विद्या है। वह विद्या क्या करती है? भ्रान्तिको मिटाती है और भ्रान्ति मिट जाय तो प्रपञ्च चाहे भासे चाहे न भासे, इसकी कोई कीमत नहीं रह जाती। चाहे आप व्यवहारमें हाथ-पाँव पीटिये—

काश्यां श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरविपरित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तं कैवल्यं याति हतशोकः॥

आप काशीमें मरिये या चाण्डालके घरमें, 'राम-राम' बोलकर मरिये या 'हाय-हाय' करते हुए मरिये।

एक महात्माकी मृत्यु हुई। बड़ी पीड़ा थी उनको। पर सब सह गये। सब गये तो अन्तमें उनके मुँहसे 'उफ' निकला कि 'ओम्' निकला हो। अब तो भगत लोग थे वे कहें—'नहीं, नहीं, महाराज 'उफ' करके मरेंगे? वे तो 'ओम्' करके मरे।' और जो वेदान्ती थे, वे बोले—'नहीं, वह तो 'उफ' ही था। 'ओम्' नहीं था।

बोले—'अरे! महाराज उफ बोलेंगे? अरे बाबा! महाराज ऐसी स्थितिमें पहुँच गये थे कि 'उफ' बोले कि 'ओम्' बोले, उसमें उनको कोई भेद-बुद्धि नहीं थी। तुम क्यों उनको ऐसी स्थितिमें ला रहे हो? 'मरनेके समयमें 'ओम्' नहीं बोलेंगे तो उनका कल्याण नहीं होगा?' अरे, वे तो हाय-हाय करें और छटपटायँ, सिर पिटें और ऐसे भी मरें, पागल भी हो जाँय! मानलो, ज्ञानी पागल हो जाय तो उसकी मुक्तिमें कोई बाधा पड़ेगी? और, यदि मुक्तिमें कोई बाधा पड़ती है तो ज्ञानी ही नहीं हुआ है।

तो, असलमें यह जो वेदान्त है, वह प्रपञ्चका विस्मरण करानेके लिए हैं। कोई नशा नहीं है। और तो सब नशे हैं। नशे कई तरहके होते हैं। भोगमें क्या नशा नहीं होता? आप लोगोंमें-से बहुत ऐसे लोग होंगे, जिन्हें भोगका अनुभव होगा। भोगके समय क्या नशा नहीं होता है? ऐसे

महाराज, अभ्यास आदिके द्वारा एक ध्यानका नशा पैदाकर लिया और उस नशेमें दुनिया भूल गयी।

बोले कि—'वाह, वाह! बड़ी ऊँची स्थिति हो गयी।'

तो, दुनियाको भूल जानेका नाम असली ध्यान नहीं है। असलमें यह जो भूल हो रही है, कि यह दुनिया हमारे सिवाय कुछ और है, इस भूलको मिटा देनेवाला जो ध्यान है वह सच्चा ध्यान है। अनात्माकार वृत्ति तिरस्कारपूर्वक आत्माकार वृत्तिका जो प्रवाहीकरण है देखो, इसमें वृत्तिकी शान्ति नहीं है। वृत्तिका प्रवाह है। जो लोग वेदान्त पढ़ते हैं, उनकी नजर मैं खींचता हूँ इस बात पर कि 'समाधान' नामका जो साधन है, वह बहिरंग नामके तृतीय भागमें पृष्ठ साधन है 'समाधान।'

अन्तरंग साधन जो श्रवणादि हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन वृत्तिकी शान्ति नहीं हैं। वृत्तिकी शान्ति है समाधान। वृत्तिकी शान्ति निदिध्यासन नहीं है। निदिध्यासन तो ज्ञानका परिपाक होनेके लिए श्रवण किये हुए और मनन किये हुए अर्थका वृत्तिमें परिपाक होनेके लिए वृत्तिका अभ्यास है, दुहराना है। निदिध्यासन माने अचिन्तन नहीं।

'निदिध्यातुम्' नितरां ध्यातुं इच्छा निदिध्यासा। ध्यातुं इच्छा दिध्यासा। ज्ञातुं इच्छा जिज्ञासा। पातुं इच्छा पिपासा। हातुं इच्छा जिहासा।

यह निदिध्यासा क्या है? निदिध्यासन क्या है और उपासना क्या है? श्रुत और श्रद्धित जो अर्थ है, माने सुना हुआ और श्रद्धा किया हुआ जो अर्थ है; उसकी वृत्तिका प्रवाह उपासना है। जहाँ श्रवण और ध्यानके बीचमें विश्वास है वहाँ उपासना हो जाती है। और जहाँ श्रवण, ध्यानके बीचमें मनन है, **वहाँ निदिध्यासन** हो जाता है।

श्रवण और **ध्यानके बीचमें मनन** निदिध्यासन और श्रवण और ध्यानके बीचमें विश्वास, उपासना।

अच्छा, अब आपको ध्यानकी दो प्रक्रिया सुनाता हूँ। यह जो आजकलके लोग कहते हैं न, कि पुराने लोग जहाँ तक पहुँचे थे, उससे आगेकी बात कर रहे हैं। एक बात हम मानते हैं, भला! हम केवल

जड़ताकी श्रद्धाकी बात नहीं कर रहे हैं। जहाँ तक बाह्य पदार्थोंका विज्ञान है, आजकल दूरबीनके द्वारा, खुर्दबीनके द्वारा, प्रयोगके द्वारा, लेबोरेटरीमें जाँचके द्वारा, भूगर्भमें—आकाशमें प्रयोगके द्वारा विज्ञानकी आज जितनी उन्नति देखनेमें आती है, भौतिक-विज्ञानकी, बाह्य विज्ञानकी उतनी हमको प्राप्त नहीं है। पुराने जमानेमें ऋषियोंको प्राप्त थी कि नहीं, यह आप खोज करके देखिये। हम उनकी शानके खिलाफ क्यों बोलें? बिना मशीनके ही मशीन बना लिया करते थे। अपने कलेजेको ही मशीन बना लेते थे। परन्तु आन्तर्ज्ञान जो है, आत्मज्ञानके बारेमें आज जो लोग नयी खोजका दावा करते हैं, वे सपना देखते हैं सपना! आत्मा तो एक सुनिश्चित वस्तु है और बाहरसे वहाँ उसको पहुँचने तक, उसको जानने तक एक-एक कण, एक-एक रेशा देख लिया गया है। इसमें देखो, युक्ति है।

अगर आपको कहीं बाहर ढूँढ़ना है, तो उसका कहीं अन्त नहीं है। बाहरका अन्त कभी नहीं है। लेकिन यदि लौटना है तो अपने आपमें आकर उसका अन्त हो जाता है। आपमें आकर उसका अन्त हो जाता है। अध्यात्मज्ञानमें अपने आपमें आकर उस ज्ञानका अन्त हो जाता है। वही ज्ञान-स्वरूप है, सर्वावभासक है, सर्वप्रकाशक है और यदि ज्ञानको बाहर फेंके तो उसका कहीं अन्त नहीं होता। यदि एक-एक कणको गिनकर कोई दुनियाको जानना चाहता है, तो कभी नहीं गिन सकता। लेकिन सब किसको मालूम पड़ रही है, यदि इसको देखना चाहता है तो अपने आपको जान सकता है। सम्पूर्ण ज्ञानोंकी शुरुआत अपने आपमें है और सम्पूर्ण ज्ञानोंका विकीर्ण परज्ञानमें है, अन्यज्ञानमें है, बाह्य ज्ञानमें है।

अच्छाजी, तो दो प्रक्रिया हैं, एकका नाम है 'लयप्रक्रिया' और दूसरीका नाम है 'बाधप्रक्रिया।' ये काहेके लिए हैं? ये अद्वैत ही है इस अनुभूतिके लिए है। अच्छा एक अद्वैतकी दृष्टि आप यह भी देखो! हे भगवान्! आप इस बातपर ध्यान देना कि जिसकी दृष्टिमें अद्वैत है,

उसके लिए वेदान्त-प्रचारकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों? उसकी दृष्टिमें तो सब अद्वैत है। जब वही आदमी संसारमें दुःखी हो जब उसको वैराग्य हो, जब उसको जिज्ञासा हो, जब वह महापुरुषके पास आवे तब उसको अद्वैतका उपदेश करेंगे। 'अरे! जैसे रहना चाहता है वह भी ठीक है। देखो, अद्वैतका मतलब यह है कि जैसे तू रहना चाहता है वह भी ठीक है और जैसे तू रह रहा है वह भी ठीक है। इसलिए तू जो घबड़ा रहा है, यह मेरी घबड़ाहट मूर्खतामूलक है। यह अद्वैत-ज्ञान हुआ।

और जब कहेंगे—'समाधि ठीक है, ध्यान ही ठीक है, हमारा चेला बनना ही ठीक है, उपासना करना ही ठीक है, संन्यासी होना ही ठीक है, तो यह अद्वैत काहेका हुआ? यह तो द्वैत हो गया।'

इसलिए महात्मा लोग पहले स्वयं उपदेश करनेके लिए, प्रचार करनेके लिए कहीं नहीं जाते थे। सब धर्मका उपदेश करेंगे, वह ठीक है, उपासनाका उपदेश करेंगे, वह भी ठीक है, योगका उपदेश करेंगे, वह भी ठीक है। परन्तु वेदान्तका उपदेश करनेके लिए किसीके पास नहीं जाते थे। जब स्वयं मनुष्य कीटसे लेकर ब्रह्म तक और एक कणसे लेकर प्रकृति पर्यन्त जब सबको हेय समझ करके अपने आत्माके स्वरूपकी जिज्ञासा करता था, तब उसको बताते थे कि—'जो कीट है, सो ही ब्रह्म है।' देखो, अद्वैत माने क्या? जो कीड़ा सो ब्रह्मा, जो ब्रह्मा सो कीड़ा। जो प्रकृति सो कण, जो कण सो प्रकृति। 'जो तू सो परमात्मा, जो परमात्मा सो तू।' यह सब-का-सब अद्वैत है। इसमें क्यों लू बेकली पैदा होना भी अद्वैत ही है। तो नारायण! अद्वैतका अनुभव प्राप्त करानेके लिए नहीं। यह नहीं कि—अद्वैत अन्तरमें मिलेगा, बाह्य जगत्में नहीं मिलेगा ध्यानमें मिलेगा, विचारमें नहीं मिलेगा।

असलमें भ्रान्ति तो विचारमें टूटती है। ध्यानमें टूटती नहीं। विचार माने जहाँ वृत्ति काम करती होती है वहाँ भ्रान्ति टूटती है। जहाँ वृत्ति काम करना बन्द कर देती है, वहाँ भ्रान्ति टूटती ही नहीं है। क्योंकि

शान्तिमें भ्रान्तिको तोड़नेका सामर्थ्य नहीं है। विचारमें भ्रान्तिको तोड़नेका सामर्थ्य है।

वस्तुसिद्धिर्विचारेण न क्वचित् कर्म कोटीभिः।

तो अब प्रारम्भ करते हैं—'लयप्रक्रिया' और 'बाधप्रक्रिया'। इसमें भी जिसको लयप्रक्रियाका ज्ञान पहले हो जाय, उसको बाधप्रक्रिया बतायी जाती है। यह नहीं कि बाधप्रक्रिया पहले बतायी और लयप्रक्रिया बादमें बतायी। वह उलटा होता है। पहले कौन-सी बतायी जाय? पहले बाधप्रक्रिया बतायी जायगी तो ज्ञानी विक्षिप्त रहेगा। और पहले लयप्रक्रिया बतायी जायगी तो ज्ञानी शान्त रहेगा।

देखो—एक बात आपको सुनाते हैं। इसका नाम 'सम्प्रदाय' हुआ। माने हमारे गुरुजनोंका सम्प्रदाय यह है। हमारा अद्वैत सम्प्रदाय, वेदान्त सम्प्रदाय यह है कि पहले धर्मानुष्ठान करके अधर्मको छोड़ दें। फिर उपासना करके वासनाको छोड़ दें। फिर योगाभ्यास करके वासनाको छोड़ दें, और फिर लयप्रक्रियासे सबको लीन करनेका अभ्यास कर लें। तब अद्वैतबोध प्राप्त करें। तो क्या होगा? किसी साधनका तो खण्डन नहीं होगा। सब उपयोगी हैं और सारी अवस्था ब्रह्म है। इसका नाम वेदान्त-सम्प्रदाय है। हम मजहब नहीं जानते हैं। अब इसीमें यदि उलट बाँसी कर दी जाय, उलट-फेरकर दिया जाय तो मामला गड़बड़ा जायेगा। नहीं, ज्ञानमें बाधा नहीं पड़ेगी। लेकिन सम्प्रदायकी जो रहनी है न, जिसके कारण सम्प्रदाय चलता है, यदि सम्प्रदायमें सत्पुरुष होंगे, अच्छे पुरुष होंगे तब तो सम्प्रदाय चलेगा। और, सम्प्रदायमें सब-के-सब बदमाश ही हो जायँ तो सम्प्रदाय खत्म हो जायेगा। सत् सम्प्रदाय चलता रहे, इसके लिए हम साधनाका एक क्रम स्वीकार करते हैं। वह तर्कसे सिद्ध नहीं होता। तो यह साधनाकी क्रम-स्वीकृति जो है, इसका नाम सम्प्रदाय होता है। एक क्रमसे साधनाको स्वीकार करेंगे तो भगवान्के विशेषण बनकर सायुज्य प्राप्त करेंगे। एक क्रमसे साधनाको स्वीकार करेंगे तो भगवान्का सामीप्य प्राप्त करके उनकी सेवा करेंगे। एक क्रमसे

साधनाको स्वीकार करेंगे तो अपने आपमें समाधिस्थ हो जायेंगे। एक क्रमसे साधनाको स्वीकार करेंगे तो सब शून्यवत् हो जायेगा। ये सब क्रम हैं।

इनमें जो हमारे वैदिक सम्प्रदायका जो क्रम है, वेद-वेदान्तके सम्प्रदायका क्रम है, वह सम्प्रदायका क्रम यह है कि पहले धर्म, फिर उपासना, फिर योग। किसी भी साधनका हम खण्डन नहीं करते। परन्तु तुम्हें यदि अद्वैतात्मबोध प्राप्त करना है, तो उसका सम्प्रदाय यह है—'सं' माने सम्यक्, 'प्र' माने प्रकृष्ट, और 'दाय' माने हकदारी। जैसे बापकी सम्पत्तिमें पुत्रका हक होता है, वैसे गुरुकी सम्पत्ति पर शिष्यका हक होता है। परन्तु वह सम्पत्ति माने धन नहीं, सम्पत्ति माने ज्ञान-सम्पत्ति। तो सम्यक् प्रकृष्ट और दाय माने हक। जो गुरुने भलीभाँति सर्वोत्तम ज्ञान अपने शिष्यको दिया, उसका नाम होता है 'सम्प्रदाय।' यह मजहबी बात हम नहीं जानते हैं। मजहब माने क्या होता है? 'रिलीजन' माने क्या होता है? वह सब हमको नहीं मालूम है। हम न रिलीजन जानते न मजहबको जानते हैं। अपने गुरुने अपने योग्य शिष्यको जो भलीभाँति उत्तम-से-उत्तम ज्ञान उत्तराधिकारमें दे दिया, उसका नाम होता है 'सत्सम्प्रदाय'। और यह बड़ी उत्तम वस्तु है। यदि आपको साधना करना है तो उसके लिए आपकी साधनामें कोई क्रम है कि नहीं है? तो क्या क्रम है?

देखो—लयके क्रमको देखो आप। अब एक बात आपको फिरसे तुलना करके सुनाते हैं। घड़ीमें-से मन आया आँखमें और आँखमें-से गया अन्तःकरणमें। और अन्तःकरणमें-से लीन हो गया बिलकुल। अब बाह्यभान नहीं हो रहा है। यह जो आपकी शान्ति हुई, यह केवल मानसिक और व्यक्तिगत हुई।

अब तत्त्वविचारमें जो लयप्रक्रिया है उसको देखो, उसमें मनीरामकी बात नहीं है। उसमें तत्त्वका लय है। यह संसारमें जितनी स्त्री हैं, जितने पुरुष हैं, पेड़-पौधे हैं, मकान हैं, उनकी अन्तिम निष्ठा कहाँ

है? पृथिवीमें है। माटीके बिना क्या हैं? माटीकी अन्तिम निष्ठा रस जलमें है। जलकी अन्तिम निष्ठा अग्निमें है। यह तत्त्व है। जैसा तुम ध्यान करते हो, वैसा नहीं है। जलकी अन्तिम निष्ठा अग्निमें है। अग्निकी अन्तिम निष्ठा वायुमें है। वायुकी अन्तिम निष्ठा आकाशमें है। यह नहीं कि अपने मनको बाहरसे आँखमें लिया और आँखसे मनमें लिया।

'देहोऽहं' यह तो पहलेसे बना हुआ है। तनकर बैठ गये कि क्या? हमारे ध्यानमें कुछ भासता ही नहीं है। तो वह चीज नहीं है यह। वह तो एक समझकी उत्पत्तिके लिए जो ध्यानकी प्रक्रिया है, वह दूसरी है। एक वस्तु ठोस है धरती। दूसरी वस्तु तरल है जल। तरल माने गीला, बहता हुआ। तीसरी वस्तु अग्नि है—गैस! चौथी वस्तु गति है वायु और पाँचवीं वस्तु अवकाश है आकाश। आपका ज्ञान इस अवकाशसे भी सूक्ष्म है, जो अवकाशको प्रकाशित करता है। आप वह ज्ञान हैं जो आकाशको प्रकाशित करता है।

अवकाशमें गति है, गतिमें उष्णता है, उष्णतामें सरसता है, सरसतामें फिर ठोस द्रव्यरूपता है। अब लीन जब करते हैं तो मिट्टी और मिट्टीसे बनी चीज पानीमें है और पानी और पानीसे बने हुए सारे स्वाद और सारे पदार्थ अग्निमें और अग्नि और अग्निसे बने हुए सारे पदार्थ वायुमें। वायु और वायुसे बने सारे पदार्थ—अलग-अलग शरीरमें अलग-अलग प्राण-प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाम, कर्म कृण्मला देवदत्त, धनञ्जय, ये सब-के-सब कहाँ?

बोले—ये सब अवकाशमें और अवकाश कहाँ? आपके ज्ञानमें। और आपका ज्ञान क्या? आपका आत्मा! अब यह जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है, यह आपसे न्यारी नहीं है।

देखो, दूसरी तरहसे देखो—आँखसे न्यारा रूप नहीं है, मनसे न्यारी आँख नहीं है, बुद्धिसे न्यारा मन नहीं है और आत्मासे न्यारी बुद्धि नहीं है। तो इस लय-प्रक्रियामें विशेषता क्या है? यह ध्यान-प्रक्रियावाला लय नहीं है। तत्त्वकी अद्वैतता बोध करानेके लिए लय-

अवस्था नहीं है यह! आप फिरसे सावधान! यह लय-चिन्तन है। इसका नाम लय-अवस्था, लीन-अवस्था नहीं है। यह लयका चिन्तन है। किसलिए? इस प्रक्रियासे आत्माकी अद्वैतताका बोध हो जाता है। बोधके लिए वृत्तिको बन्द करनेकी, ठप्प करनेकी, शून्य करनेकी जरूरत नहीं पड़ती है। बोधके लिए वृत्तिके जागरणकी आवश्यकता पड़ती है। यह लयका चिन्तन है। आप क्या करना चाहते हो?

मुख्य प्रक्रिया जो वेदान्तकी है यह लयप्रक्रिया नहीं है, यह जो आपको सुनायी, मुख्य प्रक्रिया बाध-प्रक्रिया है, उसको अब कल सुनावेंगे!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 18 :

वेदान्तकी लय-प्रक्रिया और बाध प्रक्रिया-इन दोनोंकी समीक्षा थोड़ी करते हैं।

उन लोगोंको दूसरे सम्प्रदायके खण्डनकी बहुत आवश्यकता होती है, जो लोग नये सम्प्रदायका प्रवर्तन करते हैं। जिनको नया पन्थ चलाना हो, नया मत चलाना हो तो वे अपने अतिरिक्त दूसरे मतोंका, पन्थोंका, सम्प्रदायोंका खण्डन करना आवश्यक समझते हैं। और जिनको किसी पूर्वसिद्ध सम्प्रदायमें चलना होता है, उनको अपनी निष्ठाकी दृढ़ताके लिए भले अपने सम्प्रदायको श्रेष्ठ समझनेकी आवश्यकता हो, परन्तु दूसरोंके खण्डनकी आवश्यकता नहीं होती है।

यह बात हमको जबसे मैं साधन क्षेत्रमें आया, तभीसे मालूम है कि हम दूसरेके मतमें, पन्थमें, सम्प्रदायमें दोष तभी निकालते हैं, जब अपने सम्प्रदायके प्रवर्तनकी या परिवर्द्धनकी वासना मनमें बहुत अधिक होती है। तो खण्डन करनेवालोंसे सावधान! क्योंकि वे तो अपनी वासनापूर्तिके लिए करते तो हैं खण्डन और साधकके चित्तको बिगाड़ देते हैं। वे अपने मनमें राग-द्वेष रखें, दूसरोंके मनमें रागद्वेषमूलक स्थापनाओंकी प्रतिष्ठा करनेकी क्या आवश्यकता है? असलमें साधक तो तभी होगा जब वह रागद्वेषसे रहित सम, शान्त अन्तःकरणमें अपने प्रतिबिम्बको देखेगा। तो बिना शान्तिके कोई साधना नहीं होती। यह आपको एक मौलिक बात सुनायी। यह हमारा अनुभव है कि जिनको नया पन्थ चलाना होता है, वे दूसरोंका खण्डन अधिक करते हैं और जिस मतकी वे स्थापना करते हैं, वह भी उतना ही कमजोर होता है। उसमें भी उतनी ही कमजोरियाँ होती हैं, जितनी उन पन्थोंमें जिनका वे खण्डन करते हैं। वे दूसरोंके खण्डनमें बहादुर होते हैं। परन्तु उनका जब कोई खण्डन करने लग जायँ तो वे भीगी बिल्ली बन जायेंगे भला!

अब पन्थका क्या अर्थ है? देखो—हम साधनामें एक क्रमको

स्वीकार करते हैं। जैसे 'सन्ध्यावन्दन' होगा। तो पहले—'**ॐ अपवित्रः पवित्रो वा**' ऐसा कहते हैं।

ॐ आपोहिष्ठामयो भुवः।

यह उसमें क्रम हुआ। और यदि हम इस क्रमका ठीक-ठीक पालन नहीं करेंगे तो '**सन्ध्यावन्दन**' नहीं होगा। तो क्रम माने—क्या पहले और क्या पीछे। पहले हाथ जोड़ना है कि पहले सिर झुकाना है, कि पहले मन्त्रका जप करना है? क्या करना है? यह क्रम माने पहले क्या, पीछे क्या इसका विचार कर लेना।

अब हम यह सुनाना चाहते हैं कि लय-प्रक्रिया पहले है और बाध-प्रक्रिया बादमें है। औरोंसे तो हमारा मतलब क्या है। यह वेदान्त सम्प्रदाय है। इसका नाम है 'वेदान्त-सम्प्रदाय।' पहले भक्ति पीछे ज्ञान-यह बोलो तो वेदान्त-सम्प्रदाय हो जायेगा; '**अद्वैतसम्प्रदाय**' और पहले ज्ञान और पीछे भक्ति ऐसा बोलो तो '**विशिष्टाद्वैत**' हो जायेगा। दोनों वेदान्त हैं, पर जिस ज्ञानके बादमें भक्ति होती है, वह ज्ञान '**विशिष्टा-द्वैतज्ञान**' है। क्योंकि अपनेसे विशिष्ट ईश्वरको समझोगे और भक्ति करोगे उसकी और निर्विशेष ज्ञानमें ज्ञानके बाद भक्ति होगी नहीं। की नहीं जायगी। और, अपने आप आ जाय तो उसकी कोई बात नहीं है। माने **अद्वैत सम्प्रदाय यह है कि भक्ति पहले, ज्ञान बादमें और सच्चा ज्ञान जब मिल जायेगा भक्ति करनी नहीं पड़ेगी। आवे तो विरोध नहीं है और न आवे तो अनुरोध नहीं है। ऐसा यह अद्वैत-सम्प्रदाय हो गया। और, विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय यह हुआ कि ईश्वरके स्वरूपका, भजनीय स्वरूपका ज्ञान सबसे विशेष है। और ज्ञान होनेके बाद उसकी प्रीति, उसकी भक्ति—यह विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय है।**

देखो, क्रममें यह भेद होनेसे सम्प्रदायमें भेद हो गया। अच्छा, तो लयप्रक्रियाका उपयोग क्या है, पहले यह आपको सुनाते हैं।

लयप्रक्रिया—माने लीन होना। डूब जाना, गर्क हो जाना, तन्मय होना मशगूल होना, तन्मय होना। कार्यका कारणमें लय होना—यह

तात्त्विक लयकी प्रक्रिया है। तो पहले इससे जो फायदा होता है वह सुना दें।

व्यक्तिगत फायदा भी होता है और सामुदायिक, सामाजिक लाभ भी होता है। जैसे एक आदमी अपने प्रान्तके बाहरसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता है, तो अगर प्रान्तका एक गाँव दूसरे प्रान्तमें मिलाया जाय तो बिलकुल लड़ जायेगा और एक आदमी समग्र राष्ट्रको अपना समझता है तो उसके लिए यह समस्या कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होगी कि यह गाँव इस प्रान्तमें रहे कि उस प्रान्तमें? यही लयप्रक्रियाका अभिप्राय है। आप प्रान्तका प्रान्तमें लय करोगे तो लड़ाई होगी। लेकिन प्रान्तका राष्ट्रमें लय करोगे तो लड़ाई नहीं होगी तो कार्यका कारणमें लय करनेका क्या अर्थ है?

केवल दैहिक अथवा मानसिक वृत्तियोंका लय नहीं। समग्र भेदके मूलभूत तत्त्वोंका लय। एक जाति दूसरी जातिसे लड़ती है। यह नहीं जानती है कि दोनों जातियाँ माटीमें कल्पित हुई हैं। यह उनको मालूम नहीं है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायसे लड़ता है। परन्तु उनको यह मालूम नहीं है कि दोनों सम्प्रदाय संयमकी दृष्टिसे ही उदय हुए हैं। दोनों ही मनुष्यकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको स्वच्छन्द आचरणको रोकना चाहते हैं। सम्प्रदाय तो तभी होगा जब स्वच्छन्द आचरणमें मर्यादा बनावेगा। तो व्यक्तिगत दृष्टिसे आपको संयमी और सामाजिक दृष्टिसे बिलकुल मर्यादित बनानेके लिए लयप्रक्रियाका बड़ा भारी उपयोग है।

मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें हवा आकाशमें और संसारमें जितने गाँव हैं, पहाड़ हैं, पेड़ हैं, पौधे हैं, शरीर हैं, सब पञ्चभूतसे बड़ा है मन। और मनसे बड़ी होती है बुद्धि। यह आपको अनुभवमें आता हो कि न आता हो। यह नहीं कि मन कहता जहर खा लो और उसको बुद्धि रोक देती है यह नहीं। इतनी छोटी बुद्धि नहीं है।

जरा बड़ी बुद्धिकी तरफ ध्यान दो। किसी भी अज्ञात पदार्थके सम्बन्धमें आपका मनोराज्य हो ही नहीं सकता। यह आपको मालूम है

न! जिस चीजको आप नहीं जानते हैं, उसके बारेमें आप कोई कल्पना कोई संकल्प नहीं कर सकते। तो बुद्धि ज्ञानप्रधान है और मन संकल्पप्रधान है। संकल्प ज्ञानके आश्रित है। हम अच्छा सोचें या बुरा सोचें या मन यों ही भटक जाय, परन्तु जानी हुई वस्तुके बारेमें ही वह जा सकता। इसका अर्थ क्या हुआ?

इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश तभी भासता है जब मन हो और मन लीन हो जाय निद्रामें तो आकाशका प्रकाश नहीं होता। मनके रहने-पर आकाश भासता है और मनके न रहनेपर आकाश नहीं भासता है।

पानी हो, तब मिट्टी हो, पानी नहीं हो तब मिट्टी नहीं हो। गरमी हो तब पानी हो, गरमी न हो तब पानी न हो। गति हो तो गरमी हो, गति न हो तो गरमी न हो। अवकाश हो तो गति हो, अवकाश न हो गति न हो। मन हो तो पञ्चभूत मालूम पड़े और मन न हो तो पञ्चभूत मालूम न पड़े। इसलिए जिसके रहनेपर जो भासता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। और जिसके न रहनेपर भी वह भासता है, वह उससे अलग होता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् विवेकेनोसतात्मनाम्।

जाति-जातिकी लड़ाई जो है, वह यह जाने बिना है कि बुद्धि, मन और पञ्चभूतमें ही सारी जातियाँ कल्पित हुई हैं। सम्प्रदाय-सम्प्रदायकी लड़ाई उन्हींके लिए हैं, प्रान्त-प्रान्तकी लड़ाई उन्हींके लिए है, राष्ट्र-राष्ट्रकी लड़ाई उन्हींके लिए है और ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्डकी लड़ाई उन्हींके लिए है। सम्पूर्ण लड़ाइयोंसे मुक्त हो जाओगे तुम, जब सम्पूर्ण भेदोंको पञ्चभूतमें और पञ्चभूतको मनमें और मनको ज्ञानात्मक बुद्धिमें डाल दोगे।

यह बुद्धि महत्तत्त्वरूपा है और यह मनस्-तत्त्व, भूतसूक्ष्मरूप है। स्थूलभूत है पञ्चभूत-पञ्चभूतमें आकृतियोंकी कल्पना है। इससे जातियाँ, प्रान्त, सम्प्रदाय, ब्रह्माण्ड बनते हैं। अब ज्ञानकी निष्ठा ज्ञानकी परिसमाप्ति कहाँ है? भिन्न-भिन्न जो ज्ञानकी वृत्तियाँ होती हैं, वे अपने आपको ही मालूम पड़ती है। अपने आपके बिना किसी भी वृत्तिज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए आत्मज्ञानसे ही सारे ज्ञान हैं और सारे ज्ञानोंके

न रहनेपर भी आत्मज्ञान है। सबमें आत्मज्ञानका अन्वय और सब वृत्तिज्ञानोंसे आत्मज्ञानका व्यतिरेक। तो जब अन्वय हो तो यह समग्र सृष्टि अपने आपमें भास रही है। चाण्डाल भी और ब्राह्मण भी और भोगी भी और संन्यासी भी और कीड़ा भी और ब्रह्मा भी और कण भी और प्रकृति भी। कहीं राग-द्वेष, कहीं पक्षपात करनेकी जरूरत नहीं है। जीवन भी इसीमें और मरण भी इसीमें। एक ही वस्तु जीवन और मरण दोनोंके रूपमें भास रही है।

तो, पहले आप इस ज्ञानको स्वीकार कीजिये। तो शान्ति आवेगी, समता आवेगी, राग-द्वेष मिटेगा, वैराग्य होगा। अन्तःकरणशुद्धि होगी और अपनेको जहाँ एक घेरेमें लिया कि 'मैं संन्यासी' तो फिर भोगीसे द्वेष हुआ। और जहाँ मान लिया अपनेको भोगी, वहाँ संन्यासीसे द्वेष होगा। आप नाराज नहीं होना। ये गृहस्थ लोग जिन सम्प्रदायोंका सञ्चालन करते हैं, उसमें कहीं-न-कहीं साधुकी निन्दा जरूर होती है। उनकी गृहस्थताका अभिमान ही इसमें हेतु है। और साधुओंके द्वारा जिन सम्प्रदायोंका सञ्चालन होता है, उसमें कहीं-न-कहीं भोगीकी निन्दा, संग्रहीकी निन्दा अवश्य रहती है। क्योंकि ऐसा नहीं करेंगे तो अपने सम्प्रदायका प्रवर्तन, सम्वर्धन कैसे होगा?

तो, सत्यके ज्ञानीके लिए इन सबको शान्त दशामें लीन करना पड़ता है। विशेषता यही है अद्वैत-सम्प्रदायकी कि यह सब काम आप पहले कर लो। जब बाध हो जायेगा तब यह सब करनेकी जरूरत नहीं रहेगी। बोधसे बाध होता है।

यह बाध भी दो प्रकारका है—1. बाध भावना और 2. अधिष्ठान बोधसे बाध। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके बोधसे बाध अथवा केवल भावनासे सबका बाध। अभी बाधकी बात मैं बादमें करूँगा। लेकिन लयकी उपयोगिता देखो। सर्वधर्मसमन्वय आपको प्राप्त हो जायेगा। लयकी भावनासे सर्वप्रान्त समन्वय हो जायेगा। सर्वराष्ट्रसमन्वय हो जायेगा। सर्वजाति समन्वय हो जायेगा। सर्वभाषा-समन्वय हो जायेगा।

जीवनमुक्तिके सुखमें तीन सुखकी विशेष चर्चा है। देहाभिमान माने (i) जात्याभिमान और (ii) शास्त्राभिमान और (iii) लोकाभिमान— जीवनमुक्त पुरुषके जीवनमें ये तीनों अभिमान नहीं रहते हैं। देहाभिमानमें तो जाति गयी और लोकाभिमानमें प्रान्त, राष्ट्र गया और शास्त्राभिमानमें भाषा गयी। तीनोंसे मुक्त यह पूर्णताका ज्ञान है। इसको हम केवल हिन्दुस्तानके लिए क्यों समझते हैं? समग्र विश्वके लिए समझिये न! इसको आप दो हजार-पाँच हजार वर्षकी संस्कृति क्यों समझते हैं? इसको शाश्वत समझिये न!

इसको दिक्‌से परिच्छिन्न मत कीजिये। इसको कालसे परिच्छिन्न मत कीजिये। इसको जातिसे परिच्छिन्न मत कीजिये। यह लय प्रक्रिया आपके हृदयको शान्ति देगी और शान्तिमें शक्ति संचित होती है। इस शान्तिको ऐसा मत समझना कि यह कोई निष्क्रिय पदार्थ है। जहाँ शान्ति है, वहीं शक्तिका संचय होता है और वह शक्ति दो प्रकारसे फूटती है।

वह दो प्रकार क्या है? 1. प्राणबल और 2. प्रज्ञाबल। प्राणबलके रूपमें फूटेगी तो सिद्धियाँ आ जायेंगी। आप बड़े हो जाओ, आप छोटे हो जाओ, उड़ जाओ, बैठ जाओ शान्तिसे। यदि प्राणबलके रूपमें फूट जायगी तो सिद्धियाँ आ जायेंगी। और यदि शक्ति प्रज्ञाबलके रूपमें फूट निकलेगी तो अविद्याके ध्वंसका सामर्थ्य उसमें आ जायेगा। परन्तु वह सामर्थ्य जब महावाक्यके द्वारा उसमें बीज डाला जायेगा तो मूलाविद्याको ध्वंस करेगा। और नहीं तो सर्वज्ञता ला देगा। इसमें मूल बात इतनी है। सर्व विषयका ज्ञान हो जाय।

प्रज्ञा जाग्रत हो गयी। सर्व विषय माने सर्व ऐन्द्रियक विषय, सर्व मानसिक विषय, सर्व कार्यकारण विषय—इनके ज्ञानका सामर्थ्य हो जायेगा, परन्तु—'मैं अधिष्ठान चेतनसे अभिन्न हूँ'—यह ज्ञान तो ऐन्द्रियक ज्ञानके अन्तर्गत नहीं है। मानसज्ञानके अन्तर्गत नहीं है। कभी अनुभव किया हुआ नहीं है। इसलिए इस ज्ञानका बीज प्रज्ञामें डालनेके

लिए महावाक्य चाहिए। बिना बीजके किसी ज्ञानका उदय नहीं होगा। अच्छा भाई! बीज होवे तब न अंकुर उदय हो।

देखो, शान्ति किसीको नहीं काटती। शान्तिमें जो संचय होता है, उससे प्राणबलकी वृद्धि होकरके सिद्धि और प्रज्ञाबलकी वृद्धि होकरके ज्ञान–और उसमें कौन–कौनसे ज्ञान? जिनके बीज होंगे अनादिकालसे अबतक जिस संसारका अनुभव करते आये हैं, तद्विषयक ज्ञानकी वृद्धि हो जायगी। प्रज्ञाबल आ जायेगा। परन्तु यदि महावाक्यार्थका अनुसंधान होगा तो उसें प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मबोधक अद्वैतार्थका, अखण्डार्थका स्फुरण हो जायेगा। यह वेदान्तकी प्रक्रिया है। तो जो लोग कायदेसे इस मार्गमें नहीं चलते हैं, उनके लिए यह थोड़ी कठिन पड़ती है।

अब देखो, लयप्रक्रियाका चिन्तन ही अन्तःकरणको शुद्धकर देता है। असलमें लयप्रक्रिया अन्तःकरणकी शोधक है, तत्त्वबोधक नहीं है। शोधक प्रक्रिया और बोधक प्रक्रिया। शोधन और बोधन और योगकी जो प्रक्रिया है, वह रोधन है भला! और भक्तिकी प्रक्रिया है, वह अनुरोध है और धर्मकी जो प्रक्रिया है वह विरोधन प्रक्रिया है। विशेष रोध पैदा करती है। तो विरोधन–धर्म, अनुरोधन–भक्ति और उपसर्गरहित रोधन योगकी प्रक्रिया है। और लयकी प्रक्रिया है शोधन और वेदान्तकी असली प्रक्रिया है बोधन।

अब इस लय प्रक्रियासे प्रज्ञा शुद्ध करके—लयके कार्य और कारणकी अभेदावस्था लय है और इस लयदशामें जब वृत्ति स्नान कर लेती है, लयसिन्धुमें स्नान करके वृत्ति जब उठी निर्मल हो करके, तो आओ, बाध करें। पर एक बात और कि बोध, बाधके लिए लयकी प्रक्रिया अनिवार्य हो, सो बात नहीं है। नहीं तो शर्त लग जायगी, कि बिना इसके ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके पहले कोई शर्त लगाना ज्ञानका तिरस्कार हैं। ज्ञानके अनन्तर भी कोई शर्त लगाना ज्ञानका तिरस्कार है। इसलिए ज्ञानके पहले कर्त्तव्यताकी शर्त नहीं है और ज्ञानके उत्तरकालमें भी कर्त्तव्यताकी शर्त नहीं है। यही उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य है। यह अद्वैत–

सम्प्रदाय है। इसका नाम अद्वैत-सम्प्रदाय है। बिना क्रमको स्वीकार किये कोई सम्प्रदाय नहीं चलेगा।

देखो—पहले स्नान करना, फिर स्वच्छ वस्त्र-धारण करना, फिर तिलक करना, फिर उसके बाद भगवान्‌को नमस्कार करना, उसके बाद माला हाथमें लेकरके—एकके बाद एक—इसीका नाम सम्प्रदाय होता है। तो जब विचारकी परिणतिमें हम कोई क्रम स्वीकार कर लेते हैं, तो उसका नाम सम्प्रदाय हो जाता है।

आओ, हम आपको अद्वैतकी चर्चा सुनावें। असलमें यह बात—जो राग-द्वेषसे युक्त हैं, उनके लिए कठिन है? क्योंकि जिससे राग होता है, उसका होता है पक्षपात। तो उसको छोड़ नहीं सकेंगे। और, जिससे होता है द्वेष, उसको ग्रहण नहीं कर सकेंगे। तो द्वेष और राग होनेपर सत्यको स्वीकार करनेका जो सामर्थ्य है, वह अन्तःकरणमें नहीं रहता है। आपके हजार ज्ञान बतावें। मुट्ठी तो बिलकुल बँधी हुई है कि हम इसको नहीं छोड़ें। बुद्धिकी मुट्ठी बँधी हुई है, मनकी मुट्ठी बँधी हुई है। तो जितना भी ज्ञान हो उसको स्वीकार करनेको तैयार हैं जिससे मुट्ठी खुलने न पावे। परन्तु ऐसा ज्ञान जो आवेगा जो आपकी पकड़को तोड़ना चाहेगा, उस ज्ञानको आप अन्तरसे स्वीकार नहीं करेंगे। क्योंकि विपर्ययमें दुराग्रह है।

बद्ध अवस्थामें आपके अन्तःकरणमें विषयासक्ति है अथवा विपर्ययमें दुराग्रह है? 'इदम्' पदार्थमें आग्रहका नाम 'विषयासक्ति' है और 'अहम्' पदार्थमें दुराग्रहका नाम 'विपर्यय' है और अग्रहणका नाम 'प्रज्ञामांद्य' है, और विपरीत ग्रहणका नाम 'कुतर्क' है। (i) विषयासक्ति और (ii) विषर्ययमें (iii) दुराग्रह कुतर्क और (iv) प्रज्ञामांद्य-इन चारों दोषोंसे ग्रस्त होनेके कारण आपका अन्तःकरण सत्यको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है। इन दोषोंके नाम पुराने हैं, उनकी व्याख्या हमने नये ढंगसे की है। प्रज्ञामांद्य माने अग्रहण और कुतर्क माने अन्यथा ग्रहण। विषयासक्ति माने इदंग्रह और विपर्यय माने अहंग्रह।

इदंग्रह और अहंग्रह, अग्रह और अन्यथाग्रह—ये चार जो पापग्रह हैं, ये चारों पापग्रह, जिसके ऊपर अरिष्ट है, अनिष्टकारी है। उनके लिए सत्यका साक्षात्कार कठिन है। तो यह सब झूठ और सच, यह सब कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, ये सच, यह सब कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, ये सब भाव और अभाव—ये सब बहुत-बहुत स्थूल सृष्टिकी वस्तु हैं। इतना उत्तम शास्त्रीय विवेचन है, नारायण! यह तो वस्तुको पकड़कर लोग दु:खी हो रहे हैं, क्रियाको पकड़कर दु:खी हो रहे हैं, भावको पकड़कर दु:खी हो रहे हैं। और इसीसे तत्त्वका अग्रहण हो रहा है।'

इस वेदान्त प्रक्रियाको थोड़ा आप समझिये। नहीं तो—जन्माद्यस्य यत:से वेदान्तदर्शनका प्रारम्भ नहीं होता। जिससे इस सृष्टिका जन्म, स्थिति और प्रलय हो रहा है, वह है ब्रह्म और वही है आत्मा, भला! एक शरीरमें, एक अन्त:करणमें जो ज्ञानका बिन्दु है, उसको आत्मा जान लेनेसे आप पापसे मुक्त हो सकते हैं। भला! पापसे मुक्त हो सकते हैं और आप पापके फल दु:खसे भी मुक्त हो सकते हैं। मैं सुखवाली बात जरा जान-बूझकर नहीं कह रहा हूँ। क्योंकि उसके बारेमें दर्शनोंका मतभेद है।

ज्ञानबिन्दु जाननेसे कोई सुखसे मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु आप यह देखो कि यह जो देह और अन्त:करण हैं, वे आपके ज्ञानबिन्दुका आधार है कि ज्ञानबिन्दु आपके देह और अन्त:करणका आधार है? ज्ञानबिन्दुमें देह, अन्त:करण और पञ्चभूत है कि पञ्चभूतोंमें देह और अन्त:करण और फिर अन्त:करणमें ज्ञानबिन्दु? जैसे एक बूँद एक ड्रापरसे कहीं रख दिया जाय, वैसे एक ज्ञानबिन्दु भगवान्ने प्रकृतिने आपके इस शरीरको बनाया? आपके अन्त:करणमें एक जरा-सी प्याली रखी और उसमें ज्ञानका एक बिन्दु रख दिया। चमचम चमकता हुआ आपका यह ज्ञानबिन्दु जो है, इसका आधार अन्त:करण और देहके प्यालेका भान जिसको होता है वह आधार है? ज्ञानबिन्दु आधार है कि अन्त:करण आधार है। यह पञ्चभूत आधार है कि पञ्चभूत जिसको भास

रहे हैं, सो आधार है? और आधार ही नहीं है, कारण भी है। अविनाशी भी है, परिपूर्ण भी है।

तो यह जो आपके ज्ञानबिन्दुमें परिच्छिन्नता है, उस ज्ञानके स्वरूपका विवेक जानना आवश्यक होता है। और यहाँ वेदान्तकी, अद्वैतवेदान्तकी बाधप्रक्रिया प्रारम्भ होती है। लयप्रक्रिया साधन और बाधप्रक्रिया साध्य। और अद्वैत न साध्य है न साधन। और आगे है कि बाध भी एक प्रक्रिया है, वह भी एक साधन है। अब बारम्बार हम बाधका नाम ले रहे हैं। तो जरा उसके बारेमें बताना पड़ेगा कि बाध क्या है? यह वध है कि बाधा है? कि बाध है?

इसमें न तो किसीका वध है और न किसीके प्रति बाधा है। बाधा डालनेका नाम, अरे! ओ दृश्य! तू न आ, मेरे साथ मत मिल। ओ दृश्य! तू मत भास।' योगी कहता है कि—'ओ दृश्य! तू मत भास!' भक्त कहता है कि—'तू मेरे अनुकूल होकर भास। सुख, अप्सरा होकर भास।' आराधना कहती है—'ओ दृश्य! तू मेरा भगवान् होकर, मेरा इष्टदेव होकर भास।' तो वेदान्तमें इस दृश्यका वध करना है कि इसके यथावत् भानमें बाधा डालनी है?

बोले—बाध माने दोनोंसे विलक्षण। न तो दृश्यका वध करना है और न तो दृश्यको अमृत-अप्सरा-नन्दनवन बनाना है। अनुकूल बनाना भी नहीं है और न तो इसको श्रीकृष्णरूप बनाना है, इष्टरूप बनाना है। इसके ज्यों-का-त्यों भानमें न वध है न बाध है। न बाध है, न बाधा है। तो फिर बाधके माने क्या है?

'तेरी जैसी मौज हो, वैसे भास?' 'मैं अद्वय, परिपूर्ण, अखण्ड ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हूँ।' ब्रह्म माने 'ब्रह्मराक्षस' नहीं समझना। 'ब्रह्म' शब्दका एक अर्थ होता है। वह अर्थ होता है कि जिसमें किसी प्रकारका परिच्छेद न हो वह। वह भी नहीं, लो। परिच्छेदके अभावका नाम ब्रह्म नहीं है। शून्य-फून्यकी कोई गति नहीं है वहाँ।

परिच्छेदके अभावका नाम ब्रह्म नहीं है। हमारा कोई भी

वेदान्तविद् पुरुष परिच्छेदके अभावको ब्रह्म नहीं बोलता है। परिच्छेदके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित-उपलक्षित माने परिच्छेदका अत्यन्ताभाव जिसका इशारा है, उपलक्षण माने इशारा, स्वरूपलक्षण नहीं है, तटस्थलक्षण है, माने अभाव जिसमें भास कर अपने भासकको सिद्ध करता है; शून्य जिसके द्वारा भासकर शून्यके भासकको सिद्ध करता है, जिसके होनेसे ही शून्य मालूम पड़ता है, वह।

उसमें न कालपरिच्छेद है न कालपरिच्छेदका अभाव है। न देश-परिच्छेद है, न देश-परिच्छेदका अभाव है। न वस्तु-परिच्छेद है, न वस्तु-परिच्छेदका अभाव है। ऐसा जो सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश कालरहित होनेसे अविनाशी कहा जाता है, देशरहित होनेसे परिपूर्ण कहा जाता है, वस्तुरहित होनेसे अद्वय कहा जाता है और ऐसा अद्वय कौन? दूसरा कोई नहीं, अपना आपा। यह जो अपने आपका बोध है कि—'मैं ही परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वय ब्रह्म हूँ।' अब देखो, बाधकी प्रक्रिया। माया मालूम पड़ रही है। परन्तु मालूम पड़ते हुए भी मुझमें है नहीं। बेध भी मालूम पड़ता है और बाधा भी मालूम पड़ती है। परन्तु न वध है न बाधा है। यह तो प्रतीति-मात्र है। अपना स्वरूप ही प्रतीत हो रहा है, मायाके रूपमें। जब माया ही नहीं है तो महत् तत्त्व कहाँ? जब महत्तत्त्व नहीं है तो अहंतत्त्व कहाँ? और जब अहंतत्त्व ही नहीं है तो भूतसूक्ष्म पञ्चतन्मात्रा कहाँ? और जब भूतसूक्ष्म ही नहीं है तो मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ कहाँ? और जब ये ही नहीं हैं तो द्रव्य कहाँ? देहादि रूप द्रव्य कहाँ? मुझ अद्वैतस्वरूपमें दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसका नाम हुआ बाध-प्रक्रिया। प्रक्रिया नहीं छोड़ना। प्रक्रिया माने प्रकार, ढंग, शैली तरीका, तरकीब।

तो, जहाँ हम देहमें बैठे हैं, वहाँसे लय करते-करते कारणाद्वैतमें पहुँच कर शान्त हो जाना और उससे प्रज्ञाशक्ति प्राप्त करके महावाक्यार्थरूप बीजका उसमें आधान करके अद्वैतबोध प्राप्त करना। यह ब्रह्मज्ञान फिटकरीका चूरा है, जो अज्ञानको मिटाता है। अब यदि

कहो हम पहले बाधप्रक्रिया कर लें, कि मेरे सिवा दूसरा कुछ नहीं है, और उसके बाद फिर लय करें—मिट्टी पानीमें, पानी मिट्टीमें—यह मौजकी बात दूसरी है। एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे मैंने पूछा—कि 'साधन क्या करना चाहिए?'

तो बोले—'जिस समय जो दुःख आवे उसके निवारणका उपाय करना चाहिए।' सीधी बात। भूख लगी हो तो खा लिया, प्यास लगी हो तो पानी पी लिया। थकान लगी हो तो विश्राम कर लिया। और कहीं जंगलमें चोर डाकू मालूम पड़ते हों, तो पुलिसको पुकार लिया। ऐसे कहीं भय मालूम पड़ता हो तो ईश्वरको पुकार लिया। इसमें हमारा कोई मतभेद नहीं है।

हमारे एक मित्र हैं। उनके घरमें आये डाकू। चढ़ने लगे। चढ़ने लगे तो वे बोले—'अरे ओ बेटा!' 'हाँ पिताजी!' 'जरा हमारी पिस्तौल तो देना।' 'कहाँ है पिताजी!' 'वह भरी हुई रखी है, देना तो हमको।' अब वह महाराज! जो चढ़ रहे थे ऊपर, वे गिर पड़े नीचे। और, उनके घरमें पिस्तौल तो था ही नहीं। अब वह चोरको यह बात मालूम नहीं थी कि इनके घरमें पिस्तौल है कि नहीं है?

तो इसी तरहसे दुनियामें महाराज! जब जैसा चोर आवे, जैसा डाकू आवे, उससे बचनेकी युक्ति कर लेना—यह बाधप्रक्रिया इसका विरोध तो करती नहीं। कभी निर्बलता मालूम पड़ती हो तो ईश्वरको पुकार लो। विक्षेप मालूम पड़ता हो, समाधि लगा लो। अधर्मकी वासना जोर मारती हो तो धर्मकी याद करो। असद्वासना आती हो तो सद्वासनाको ले लो।

येन केन प्रकारेण क्षुधामपि निमीषति।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

: 19 :

ध्यानम् व्याख्यास्यामः।

कई दिन हो गये, थोड़ा-थोड़ा ध्यानकी बात सुना रहे थे। प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान-मात्रसे ही ध्यान हो सकता है? तो आओ, आपको इसका रहस्य सुनावें।

पहली बात तो यह है कि ज्ञान माने यहाँ निर्विशेष अद्वितीय प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मका ज्ञान-ध्यानका हेतु है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि; उसमें हेतुफलभाव नहीं है। ज्ञान-ब्रह्म जो होता है, वह न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है।

यावद्धेतु फलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते॥

साधन-साध्यभाव, कार्य-कारणभाव यह सब अद्वैत ब्रह्मज्ञानमें बाधित हो जाता है। तो ध्यानकी प्रतीति हो सकती है! परन्तु; वह बाधित होती है। और विक्षेपकी भी प्रतीति होती है; परन्तु वह बाधित होतीं है। सबेरे आपको 'बाध' शब्दका अर्थ बताया था—

न प्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यासु मिथ्यायाः।

अच्छा, तो निर्विशेष ज्ञानको तो एक ओर आदरार्थ सिंहासन पर बैठा दीजिये। वह न ध्यानका बाप है और न ध्यानका बेटा है। न ध्यानका भाई है, न ध्यानका दुश्मन है, न ध्यानका पति है, न ध्यानकी पत्नी है। जैसे अध्यस्तका अधिष्ठानका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता है वैसे

ध्यान और ज्ञान-ब्रह्मका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। प्रातीतिक सम्बन्ध है। तो उसमें सम्बन्धता नहीं है। अब ईश्वरकृपासे आओ, सविशेष ध्यानकी चर्चा करें।

क्योंकि; ध्यान हमेशा विशेषका ही होगा। यहाँ मन, जैसे दो चीज सामने हो, तो ध्यान गुलाबके फूलका मत करो। ध्यान मोरपंखका करो। और मोरपंखका मत करो, गुलाबका करो। यदि दोनोंसे एककी छटौंती न करनी हो तो ध्यान करनेका कोई अर्थ नहीं होता है। दोनोंमें विशेष है— मोरपंखमें फँस जायेंगे और गुलाबमें मुग्ध हो जायेंगे। और गुलाबमें फँस जायेंगे और मोरपंखमें मुग्ध हो जायेंगे। यदि विशेष नहीं रखेंगे तो ध्यानका कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा। तो चूँकि ध्यान एक विशेष स्थिति है, अन्तरदेशमें है, मूलाधारमें है, सहस्रारमें है, अनाहतमें है, नाभिचक्रमें है-विशेषप्रदेशमें है, विशेषकालमें है। एक मिनट, दो मिनट, पाँच मिनट और विशेष आकारमें या विशेष निराकारमें। निराकार भी विशेष होता है। साकारकी अपेक्षा निराकारमें विशेषता होती है।

तो; ध्यान कहीं-न-कहीं—जो अद्वय ब्रह्म है, उसमें साकार-निराकारका विशेष भी नहीं है। उसमें निर्विशेषता भी कोई विशेषता नहीं है। निर्विशेषता भी कोई वैशिष्ट्य नहीं है। अच्छा, तो ध्यानमें विशेषकी जरूरत है। इसलिए ज्ञानमात्रसे ध्यान नहीं होता, ज्ञान-विशेषसे ध्यान होता है। यह देखो, एक दूसरा सिद्धान्त आया। एक खास तरहका जब ज्ञान होता है, तब खास तरहका ध्यान होता है। माने ज्ञानमें किस्म जोड़नी पड़ेगी। किस किस्मका ज्ञान तुमको हुआ?

देखो, हम सड़क पर चलते हैं—मोटरसे, पैदल, कभी-कभी कोई ऐसा दृश्य सामने आजाता है कि हम आँख बन्द करते हैं, तब भी वह वही-का-वही सामने आजाता है। तो मनको कुछ अच्छा लग गया और कभी-कभी महाराज, मोटरसे चलते हैं और कुत्ता आगया बीचमें और वह पिस गया, खून-ही-खून हो गया। तो अब वह मोटर तो आगे बढ़ जाती है; लेकिन आँखके सामने वह मरा हुआ कुत्ता आने

लगता है। वैसे 'कालबादेवी रोड' पर चलते हैं—हजारों आदमी आते हैं, हजारों जाते हैं, किसका ध्यान आता है? इसका अर्थ हुआ—हेयबुद्धि, उपादेयबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि, 'कालबादेवी रोड' पर चलनेवाले लोगोंकी उपेक्षा होती है। किसी सुन्दरको! प्रियको देखकर उपादेयबुद्धि होती है। किसी सुन्दरको, प्रियको देखकरके अपेक्षाबुद्धि होती है, उपादेयबुद्धि होती है। और किसी दुःखद दृश्यको देखकर, दुश्मनको देखकर हेयबुद्धि होती है।

तो उपेक्षाबुद्धिसे तो चित्तमें संस्कार नहीं आता है। और जहाँ त्याज्यबुद्धि और ग्राह्यबुद्धि होती है जहाँ यह दुश्मन है या दोस्त है, प्रिय है—अप्रिय है, हित है—अहित है—यह बुद्धि जहाँ होती हैं, वहाँ वह चीज मनमें अंकित होती है। यदि अंकित होने पर यदि उपेक्षा कर दी जाय तो फिर नहीं आवेगी। गहराईमें अंकित हो जाय तो फिर सपना-वपना आजायेगा। और गहराईसे अंकित नहीं हो तो देखी हुई चीजका फिर ध्यान नहीं आवेगा। वह छूट गयी। कितने लोगोंको देखा।

तो ध्यान करना है तो क्या करना पड़ेगा? प्रियबुद्धि होनी चाहिए हितबुद्धि होनी चाहिए। प्रियबुद्धिका क्या अर्थ हुआ? यदि तत्काल आपको प्यारा लगता है और यदि बादके लिए डर हो जाता है कि इसके साथ सम्बन्ध रखेंगे तो बड़े चक्करमें फँस जायेंगे तो तत्कालकी प्रियता हो जायगी? त्याज्यबुद्धि हो जायगी। इसलिए एक तो महत्त्वबुद्धि चाहिए कि जिसका मैं ध्यान कर रहा हूँ, वह सर्वश्रेष्ठ है और आगेके लिए हितकारी है। वर्तमानमें प्रिय है। ऐसी बुद्धि करोगे तो ध्यान हो जायेगा। पर ध्यान जमेगा—ऐसा नहीं।

कुम्हारकी दुकान पर, बजाजकी दुकान पर, पर्सकी दुकान पर हजारों पर्स देखे होंगे, पर किनका ध्यान आता है? तो एक तो मांगलिक हो। पता लग जाय महाराज! कि यह पर्स किसके घर रहता है रुपयासे भरा रहता है। आप देखना, उसकी बार-बार याद आवेगी।

हमारे घरमें एक बैल था। हमको यह ख्याल हो गया था कि इसका मुँह हम सबेरे देखते हैं तो रुपया जरूर मिलता है। जब हमारे एक रिश्तेदारको मालूम हो गया तो वे माँगकर ले गये उसको।

ध्यान करनेके लिए एक तो यह चाहिए कि जिसका हम ध्यान कर रहे हैं वह सर्वश्रेष्ठ है दुनियामें। और दूसरे, परिणाममें हमारे लिए हितकारी है। और वर्तमानमें इसके ध्यानसे दुःखकी निवृत्ति होती है और इसके बाद आप अभ्यास कीजिये। माने दुहराइये बारम्बार। उसको अपने मनमें ले आइये। कभी उसके पाँव धो लीजिये, चन्दन लगा दीजिये, कभी उसको माला पहना दीजिये, कभी उसको भोजन करा दीजिये, कभी उसके हृदयसे लग जाइये। आप निश्चय समझिये, ईश्वर डरनेके लिए नहीं होता है। ईश्वर प्रेम करनेके लिए होता है। ईश्वर कोई शैतान नहीं है। ईश्वर कोई भूत-प्रेत-पिशाच नहीं है। ईश्वरसे डरना नहीं चाहिए। ईश्वरसे निडर होकर प्रेम करना चाहिए।

हम तो सइयाँसे नेहा लगैवै।
हम तो अपने सांईसे नेहरा लगावेंगे
हमार कोई का करिहैं।

तो निडर होकर ईश्वरसे प्रेम करना चाहिए। ईश्वर महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर परम सुन्दर है। ईश्वर परम हितकारी है। ईश्वर अपना है। ऐसा समझ करके बारम्बार, बारम्बार ईश्वरके लिए चलिये। ईश्वरके लिए बैठिये कि आता होगा। ईश्वरके लिए सो जाइये कि तुम आँख बन्द करके सोवेंगे तो आकर हमारे पलंग पर वह भी सो जायेगा।

ईश्वरके लिए सो जाइये, ईश्वरके लिए बैठकर इन्तजार कीजिये और ईश्वरकी ओर चलिये। और थालीमें भोजन रखकर इन्तजार कीजिये, उसको खिलाइये और उसके हाथसे खाइये।

तो यह जो उपादेयताका ज्ञान है, अभी देखो—हम बमगोला फेंकनेवाले हैं-डरना नहीं। तो इससे क्या हुआ? आपका मन स्थूलरूपमें रमना और विचरना छोड़करके मानसलोकमें ही—

आत्मन्नेवात्मनात्मनि।

अपने आपमें ही रमने लगेगा और विचरने लगेगा। अब आप अपने मनको बिलकुल अपने इष्टदेवके साथ, प्रियतमके साथ, परमेश्वरके साथ जो आपके दिलमें ही हैं—मनको छोड़ दीजिये उसके साथ।

जो लोग वेदान्तकी दृष्टिसे 'भागवत'को नहीं देखते हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती है। 'भागवत'का सिद्धान्त यह नहीं है कि हम मनको अपने साथ जोड़ें। 'भागवत'का सिद्धान्त है कि मनको प्यारेके साथ फेंक दें।

सुस्मितं भावयेन्मुखम्।

आकृष्य व्योम्नि धारयेत्।

तच्च त्यक्त्वामदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

सारे शरीरमें मन गया। मुस्कुराते हुए मुखारविन्दमें मन गया। वहाँसे आकाशमें मन आया। आकाशात्मक मन हुआ और वहाँसे अपने स्वरूपमें स्थित होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित होकर कुछ भी संसारका चिन्तन-मनन नहीं करता है। और इस ध्यानका फल क्या होगा?

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।

संयास्यत्याश्पनिर्वाणं द्रव्यज्ञान-क्रियाभ्रमः॥

यह क्या आश्चर्य कि ज्ञान-किया निर्गुणका और मिल गया सगुण। आप 'गीता'में देख लेना—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अव्यभिचारी भक्तियोगसे कृष्णकी सेवा करो और 'ब्रह्म भूयाय कल्पते' ब्रह्म हो जाओगे। और—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

निर्गुणका करो ध्यान और मिल जायेगा सगुण। बात हमको क्या कहनी है कि असलमें मनको आत्माके साथ जोड़ना नहीं है, इसको तो छोड़ना ही है। तो जब मनको छोड़ना ही है तो आप देखें—

औत्कण्ठ्यवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
तच्चापि चित्तबडिशं शनिकैर्वियुङ्क्ते ॥ 3.28.34

ये तीसरे स्कन्धमें है। क़हते हैं—'सगुणका खूब ध्यान किया'—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावः ।

भगवान्‌में खूब भक्तिभावकी प्राप्ति हुई।

भक्त्याद्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।

भक्तिसे हृदय गल गया। बहने लगा और खूब आनन्दसे रोमाञ्च होने लगे। उत्कण्ठा हुई। आँखोंसे खूब आँसू गिरे। ऐसा जब मन हो गया तो ऐसे चित्तरूपी वंशीको—**चित्तबडिशं**

मछलीको फँसानेके लिए जैसे वंशी होती है, काँटा-काँटा! उस 'चित्तवडिश'को ही आप फेंक दीजिये। मनको निकालकर आप फेंक दीजिये।

बोले—'बाबा, यही करना था तो पहले ही क्यों नहीं करवा दिया कि फेंक दो?'

एकने कहा—'लकड़ी ले आओ! केरोसिनका तेल ले आओ। दियासलाई ले आओ। आग जलाओ। बटलोईमें पानी भरो। उसमें चावल चढ़ाओ। हाँ! जब चावल पक जाय तब उतार लेना और देखना, आग बुझा देना। रहेगी तो घरमें लग जानेका डर है। तो बुझा देना!'

तो उसने कहा—'अच्छा! भात बनानेके बाद आग बुझानी पड़ेगी?' 'सो तो बुझानी पड़ेगी।' तो लो, अभी हम सब दियासलाई, लकड़ी और तेलमें पानी डाल देते हैं। आखिरमें बुझाना ही है, तो हम पहले ही, आज ही बुझा देते हैं।' तो 'ठीक है, आग तो आप बुझा देंगे, लेकिन चावल खानेको मिलेगा?' जब पहले भात पक जाय, तब न आग बुझा लेनेकी है?

तो नारायण! पहले भातको खूब बढ़िया पका लीजिये। *अथवा*

पक जाय देय ओकरे बाद अगिया बुताय देय। (चावल पक जाने दो उसके बाद आग बुझा दो) लेकिन हाँड़ी आयी नहीं, पानी गरम नहीं हुआ, भात चढ़ाया नहीं, पका नहीं और पहले आगमें पानी डाल दिया तो आपको भात खानेको नहीं मिला। तो आप पहले अपने मनको अपने प्यारेके साथ मिला दीजिये। प्रेयाकार कर दीजिये।

योगी कहते हैं—'अपने मनको समाधिमें दफना दीजिये। जिन्दा न रहे, मर जाय।' एक आदमीने आज पूछा था कि—'यह 'शून्य' क्या होता है? महाराज! अब वह यहाँ बैठे हैं कि नहीं, वह तो हमको ख्याल नहीं है। तो हमने कहा—'सोते हुए भगवान्‌का नाम 'शून्य' है। जागते हुए भगवान्‌का नाम 'आत्मा' है। यह स्वयंप्रकाश चैतन्य है, यह कभी सोता नहीं—'अलुप्त दृक्' माने इसकी आँख कभी मिचती नहीं। जागते हुए परमात्माका नाम है आत्मा और सोते हुए परमात्माका नाम है शून्य।' तो एक गाली भी मैंने सुना दी। तो यहाँ तो बहुत लोग बैठे होंगे, तरह-तरहके। उनको अच्छी नहीं लगेगी। माने साम्प्रदायिक विद्वेष होता है उसको मैंने दूसरे ढंगसे सुनाया था। तो शून्यका ध्यान मत करो। आत्मचिन्तन करो। ब्रह्मचिन्तन करो।

तो पहले भी सम्प्रदायका विद्वेष था कि शून्यका ध्यान करनेवाले अवैदिक हैं। तो हमारे वैयाकरणोंने क्या गाली बनायी? 'शून्य' शब्दकी व्युत्पत्ति आप नहीं जानते होंगे। 'पाणिनीय' व्याकरणकी रीतिसे शून्य शब्दकी व्युत्पत्ति है, सुना ही देते हैं—माफ करना भाई बुरा मत मानना। शून्यका ध्यान करनेवाले—जैसा पाणिनीय व्याकरणमें-साम्प्रदायिक आक्षेप तो होता ही है।

श्वोभ्यो हितं शून्यम्।

जो कुत्तोंको भला लगे, उसका नाम है शून्य। आप जरा विचार करके देखो, उसको खट्पट् भी अच्छी नहीं लगती है। पत्ता खड़क जाय तो अच्छा नहीं लगे, चिड़िया अच्छी न लगे, आदमी अच्छा न लगे, एकान्त ही अच्छा लगता है। एकान्त हो तो कुत्ता खूब आनन्दसे

साँस लेता है और सोता है। तो परमात्माका शयनस्थान शून्य और जागरण स्थान है प्रत्यगात्मा। स्वयंप्रकाश! कभी उसकी दृष्टि लुप्त नहीं होती।

जो शून्यका साक्षी है, जो शून्यका द्रष्टा है, उसका नाम है आत्मा। तो असलमें करना क्या है? मनको फेंकना है। तो देखो—भलेमानुस जो होते हैं, उनके फेंकनेकी प्रक्रिया भली होती है। आप किसी धर्मशालामें ठहरे हैं?

हम एक सज्जनके साथ गये थे। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके बड़े भक्त थे और उनके साथ मैं यात्रामें गया था। 'ज्वालामुखी' गया, 'कांगड़ा' गया धर्मशालेमें जगह-जगह उनके साथ रहना पड़े। तो महाराज, जायें तो धर्मशालाकी सफाई करे और जब निकलने लगे वहाँसे तो बिलकुल अपने हाथसे झाड़ू लगाकर और पानीसे कमरेको धोकर कि हमारे बाद जो आवेगा सो कैसे ठहरेगा? यह करके फिर तब कमरेसे निकलें। यह नहीं कि हमको तो जाना है सो अब कमरेको गन्दा छोड़कर ही चले चलो।

जो भलेमानुस लोग होते हैं, जिसको छोड़ते हैं उसको भी भला बनाकर छोड़ते हैं। तो यह समझ लो कि मनको छोड़ देना है। बिलकुल फेंक देना है, उठाकर फेंक दिया चिदाकाशमें; लेकिन पहले भाई समाधिमें पहुँचा दो इसको, तब छोड़ो। इससे अलग हो जाओ, द्रष्टा हो जाओ। और, चाहे भगवान्‌में इसको मिला दो, तब छोड़ो कि तुम्हारे छोड़नेके बाद भी यह भगवदाकार रहे, वासनाकार अन्धविषयाकार न हो। अरे! इस छोड़ी जानेवाली चीजको भी भला मान लो। आपके घर कोई लड़का आकर बस गया और आप सोचते हैं कि आखिरमें इसको निकाल देना है। तो आपका क्या कर्त्तव्य है? उसको योग्य बनाकर निकालिये कि आपके घरसे निकलनेके बाद वह जहाँ जाय वहाँ स्वावलम्बी हो। डाकू न हो, चोर न हो, उपद्रवी न हो। ऐसा करके मनको छोड़ना चाहिए।

तो इस मनको भाई, भगवदाकार कर दो पहले—

तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुक्ते।

उस भगवदाकार चित्तको जो भगवान्‌के लिए प्रवाहित हो रहा है, आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं, शरीरमें रोमाञ्च हो रहा है, वृत्ति हो रही है भगवदाकार। ऐसे चित्तको छोड़ते कि 'यह न मैं, न मेरा'। तब क्या होगा? यह देखो! यह भक्तलोग सुनाते नहीं हैं, जो मैं आप लोगोंको सुना रहा हूँ—

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषये विरक्तं।
निर्वाणमृच्छति मनोसहसायथार्चिः॥

'मुक्ताश्रयं यर्हिनिर्विषये विरक्तम्' तीन चीज मनमें नहीं रहीं। एक तो आश्रय नहीं रहा। माने 'मैं मनका मालिक हूँ, मन मेरा है', ऐसा कहनेवाला जो ज्ञाता था—'अहं' परिच्छिन्न, वह नहीं रहा। मुक्ताश्रयं। 'निर्विषयं'—घट-पट, स्त्री-पुत्र, स्रक्, चन्दन आदि विषय उसमें नहीं रहे और 'विरक्तं'—कहीं राग-द्वेष नहीं रहा। अब मनकी क्या दशा हुई?

निर्वाणमृच्छति मनोसहसायथार्चिः।

जैसे अग्निज्वाला बुझ जाती है, ऐसे मन बिलकुल बुझ गया। यह देखो, यह ध्यानका फल हुआ। वहाँ तो भगवदाकार वृत्ति थी, आँखसे आँसू गिर रहे थे, रोमाञ्च हो रहा था, उत्कण्ठा थी। उधर चित्तको उठाकर फेंक दिया और आश्रय-रहित विषयरहित, राग-द्वेषरहित होकरके चित्त बुझ गया। इसके बाद क्या हुआ?

आत्मानमत्रपुरुषो व्यवधानमेकम्।

अब अन्तःकरणरूप जो उपाधि व्यवधान डाल रही थी, आत्मा और परमात्मामें वहीं फेंक दी गयी। वह फेंक दी गयी तो आत्मा हो गया अव्यवधान; देश, काल, वस्तु-कल्पनासहित जो चित्त था वह फेंक दिया गया और रह गया व्यवधानरहित अपना आत्मा।

बोले—'सुख-दुःख?'

बोले—सुख-दुःखका हेतु है वह असत्-कर्त्तामें फेंक दिया गया। यह बात साफ है बिलकुल ही—

सोप्येतयाचरमया मनसो निवृत्या।
हेतुत्वमव्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्।

सुख-दुःखका कर्त्ता जो है, असत् कर्त्ता, उसके अन्दर उसका हेतुत्व फेंक दिया और अपने सिद्ध हो गये—जीवन्मुक्त महापुरुष। देह है कि छूट गया? इसका कोई ख्याल नहीं। यह ध्यानका फल क्या हुआ? ध्यानका फल यह हुआ कि मनको ध्यानस्थ करके छोड़ दिया।

लड़कीका व्याह करना—मालूम है कि वह घरसे जायगी। घरसे निकालना ही तो है न? मालूम है कि निकालना है। जायगी-कहीं न कहीं देना ही पड़ेगा, जाना ही पड़ेगा। लेकिन योग्य बनाकर देंगे? कि अयोग्य बनाकर देंगे? उसको घरमें व्यभिचारिणी हो जाने दें, वेश्या हो जाने दें और कहें—'हम इसका दान करते हैं', तो बात बनेगी? तो हम इसको घरसे अलग करते हैं, तो बात बनेगी? नहीं।

लड़कीको सुयोग्य बना करके और उससे ममता छोड़ दो, आत्मीयता छोड़ दो और जाने दो उसको संसारमें। इसीप्रकार पहले मनोवृत्तिको शुद्ध कर लो। चाहे वह भगवदाकार हो जाय, चाहे वह समाधिमें जाय, चाहे धर्मानुशिष्ट हो जाय! धर्मानुशिष्ट हो, भगवदाकार हो, अथवा समाधिस्थ हो! जब ऐसी मनोवृत्ति हो जाय, बोले—'स्वयंप्रकाश साक्षी द्रष्टा असङ्ग कूटस्थ तटस्थ अद्वय ब्रह्म मैं—इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध? इसलिए महाराज! ध्यानका क्या फल हुआ?'

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।

ध्यान क्या है? अपनी लड़कीको सुयोग्य बनाना है। अपनी मनोवृत्तिको सुयोग्य बनाना है कि यह जिसके सामने जाय, वह देखकरके मुग्ध हो जाय। भगवान् कहे कि—'बस, बस! आओ, तुम

हमारे हृदयसे लग जाओ। हम एक मिनटके लिए तुमको अपनेसे अलग नहीं करेंगे।'

पहले ऐसी मनोवृत्ति बना लो। फिर अपने पाससे दूर भेज दो। प्रकृतिमें लीन कर दो, समाधिमें स्थित कर दो। भगवान्‌के साथ मिला दो। धर्मानुशिष्ट करके व्यवहारमें छोड़ दो। जब ब्रह्मचर्य-व्रतका अभ्यास हो जाय, तब उसको 'ब्रह्मवादिनी' कहकर कह दो कि 'जाओ दुनियामें विचरण करो। ब्रह्मवादिनी हो जाओ।' लेकिन योग्य तो बना लो। आजकल क्या होता है कि भात तो पका नहीं और आग बुझा ली। वृत्तिमें तो किसी प्रकारकी योग्यताका तो उदय हुआ नहीं और कह दिया कि जहाँ जाती है वहाँ जाने दो।

हमारे एक मित्र हैं। वे एक दिन किसी डॉक्टरके पास गये थे। तो डॉक्टरने उसको यह सलाह दी कि—'जो बात मनमें आती है, सो-सो कर लिया करो। रोको मत।' कोई मनोवैज्ञानिक होगा। आजकलका तो मनोविज्ञान ही मालूम नहीं है। डॉक्टरने कह दिया—'जो-जो मनमें आवे सो-सो कर लिया करो।'

तो उस भलेमानुससे डॉक्टरसे पूछा कि—'डॉक्टर साहब! आपकी बेटी जो-जो करना चाहेगी, सो-सो करनेकी इजाजत देंगे?'

बोले कि—'नहीं।'

—'अच्छा, आपकी पत्नी जो-जो करना चाहेगी, सो-सो इजाजत देंगे?'

तो बोले कि—'बेटी और पत्नी तो रहती हैं घरमें और यह हमारी मनोवृत्ति रहती है हमारे हृदयमें। इसको हम चाहे जो करनेकी इजाजत कैसे देंगे? यह तो हमारी अपनी हैं। हम बेटीको नहीं बिगड़ने देते हैं। तो अपने मनकों कैसे बिगड़ने देना चाहिए?'

डॉक्टर बोले—'बाबा! हार मान लिया। तुमको जैसे रहना हो, वैसे रहो।'

नारायण, पहले बेटीको योग्य बनाकर ससुराल भेज दो। समाधिमें

स्थित करके असङ्ग हो जाओ। पहले पत्नीको इतनी शिक्षा दे लो कि वह भी संयमसे, ब्रह्मचर्यसे रह ले। तब वानप्रस्थका व्रत धारण कर लो। यह मतलब है इसका।

तो, ध्यानका मतलब यह है कि अपने मनको योग्यसे योग्यतर बनाना। ध्यान जो है, यह निर्माण-विभागमें है और ज्ञान जो है, वह प्रमाण विभागमें है। वह वस्तुके स्वरूपको ज्यों-का-त्यों बताता है। तो ध्यानमें हेतु है विशेष प्रकारकी बुद्धि। यह जगत्का ईश्वर है, यह परम सुन्दर है। यह परम हितकारी है। यह हमारा आत्मा है। आत्मीय है—इस प्रकारका ज्ञान ध्यानमें हेतु होता है। और मैं असङ्ग, चिद्रूप, कूटस्थ, तटस्थ, असङ्ग, अद्वय हेतु होता है और अपना जो स्वरूप है, विलक्षण है।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण ध्यायतो योगिनो मनः।
संयास्यत्थासुनिर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥

एक बात उनके लिए और है जो ध्यान चाहते हैं। असलमें जो श्रोतावर्ग होते हैं, वे न तो शुद्ध-ध्यान चाहते हैं न तो शुद्ध-ज्ञान चाहते हैं। उनकी स्थिति तो वैसी है—कैसी? एक दिन सुनाया था—एक श्रीमती थीं। बहुत मोटी हैं। तो वह गयीं डॉक्टरके पास। तो डॉक्टरने बताया कि—'तुम हरी-हरी सब्जी खाया करो, फल खाओ, सेव खाओ, संतरा खाओ, सब खाओ, सब्जी खाओ। ठीक हो जायेगा। तुम्हारा वजन घट जायेगा।' अब घर आयीं तो नौकरको सब लिखा दिया। 'हमको यह-यह चाहिए।' नौकर ले आया। खा लिया। फिर उसके बाद रोज खानेवाली थाली मँगायी और वह भी खाया। महीने भर बाद जब डॉक्टरके पास गयीं, तो वजन तो बढ़ा हुआ उनका मिला। पाँच पाउण्ड और बढ़ गया था। 'अरे डॉक्टर! तुमने जैसा बताया, वैसा मैंने किया। वजन क्यों बढ़ गया?' डॉक्टर भी सोचमें पड़ गया कि बात क्या है? उसने पूछा—'तुमने सब्जी खायी?' 'खूब खायी।' 'सेव खाया?' 'खाया।' 'संतरा खाया?' 'खाया।' 'पत्ते चबाये। तो वजन क्यों बढ़ा?'

रोज जो भोजन खाती थीं उसको भी खा लिया। सो उतना और बढ़ गया। आया आपके ध्यानमें?

तो, ये संसारी लोग जो हैं, वे जब महात्माओंके पास जाते हैं, और महात्मा लोग बताते हैं कि 'थोड़ा भजन करो, थोड़ा ध्यान करो, थोड़ा जप करो।' बहुत बढ़िया! तो होता क्या है कि पैसा तो हमारे पास ज्यों-का-त्यों बना रहे। हमारा भोग ज्यों-का-त्यों बना रहे। कुर्सी ज्यों-की-त्यों! रोजका जो भोजन है, ज्यों-का-त्यों बना रहे और यह जो शौकिया सब्जी है, यह जो ध्यान है, यह जो भजन है, यह सब्जी है, वह भी खा ली। माला फेरते हैं सब्जीकी तरह। माला फेरते हैं फलकी तरह! माला फेरते हैं सलादकी तरह और रोजका भोजन तो ज्यों-का-त्यों! उसमें तो कोई फर्क नहीं। अरे भाई! रोजके भोजनमें थोड़ा फर्क करो। उसको थोड़ा कम करो और फिर सब्जी खाओ, तो देखो तुम्हारा वजन घटता है कि नहीं? कम होता है कि नहीं? तो ये जो संसारी लोग हैं, वे अपनी वासनाको घटावेंगे नहीं। भोगको घटावेंगे नहीं। 'ब्लैक-मार्केट' रोज बढ़ता जायेगा। चिन्ता रोज बढ़ती जायेगी। बोले—'हमने इतना भजन किया। हमको तो कोई फायदा नहीं हुआ। हमारा मन नहीं टिका।'

तो, ध्यानको शौककी सब्जी मत बनाओ। अपने कर्ममें, अपने भोगमें, अपने संग्रहमें, अपने वचनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर डालते जाओ! और फिर देखो भजनका प्रभाव! भजन माने है मनका निर्माण। और, खूब निर्मित बेटीकी तरह योग्य बना हुआ, समाधिस्थ महात्माकी तरह योग्य बना हुआ और धर्मानुशिष्ट ब्रह्मचारीकी तरह योग्य बना हुआ यह जो मन है, इस मनको कह दो—'जाओ बेटा! अब तुम स्वतन्त्र हुए। जहाँ तुम्हारी मौज हो, वहाँ तुम घूमो। अब तुम्हारे लिए छुट्टी है।' स्वतन्त्र स्वावलम्बी मन बनाया जाता है और उसके बाद तुम बिलकुल असङ्ग, चिद्रूप। और यह जो महाराज! तुम्हारे घरमें ऐसी सलाह देनेवाले आते हैं, 'भात बननेके पहले आग बुझा दो।' ये कहते हैं—'अपने मनको

चाहे जहाँ जाने दो।' तो तुम्हारा मेरापन बना रहेगा और उनकी भ्रष्टता तुम्हारे सिरपर सवार हो जायगी।

मनकी भ्रष्टता तुम्हारे सिरपर सवार हो जायेगी। इसलिए आओ, करो अभ्यास-ध्यान!

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण।

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्ध चिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृति मधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दः
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोयमाला॥

जिनको ध्यानातीत, भावातीत चाहिए वे ध्यानातीतका ध्यान करते हैं, भावातीतका भाव करते हैं। क्या होता है ध्यानातीत? किस चिड़ियाका नाम है? पता ही नहीं है। आँख बन्द कर लिया। बोले—'ध्यानातीतमें स्थित हो गये।' भावातीत क्या होता है? किस मर्जका नाम है भावातीत? यह तो पता ही नहीं है। भावातीतका भाव कर रहे हैं? ध्यानातीतका ध्यान कर रहे हैं।

बात दो-टूक करते हैं।

योगिनो बिभ्यति यस्माद् अभये भयदर्शिनः।
अस्पर्शयोगो नामैष दुःस्पर्शः सर्वयोगिभिः॥

इसका नाम अस्पर्शयोग है। कोई योगी इसको छू नहीं सकता। टच् नहीं कर सकता। किसीकी हिम्मत है? किसीकी मजाल है कि जो इसमें आकर हाथ लगा दे! और अपनी नजरसे देख सके इसको!

अस्पर्शयोगो नामैष दुःस्पर्शः सर्वयोगिभिः।

योगिनो बिभ्यति यस्माद्—'ये योगी लोग जो हैं, डरते हैं इससे।'

'अभये भयदर्शिनः।' वे इस अभयपदमें भयका दर्शन करते हैं। आप अपने मनको सचमुच कृष्ण बनाकर कृष्णके साथ जोड़ दो।

देवो भूत्वा देवं यजेत्।

और फिर कह दो कि—'जा रे मेरे मन! अब मैंने कृष्णको तुम्हें दे

दिया। अब उनके साथ जा। अब तेरी जो मौज हो सो कर।' ऐसे कह दो। 'चाहे धूलमें लोट चाहे जूठा खा। चाहे माखनचोरी कर, चाहे चीरहरण कर! जा, तू कृष्णके साथ जा!' पहले कृष्णके साथ कर दो। 'राम' बना दो, धर्मात्मा बना दो! समाधिस्थ कर दो। तीव्र ध्यानके द्वारा मनको तदाकाराकारित कर दो। और उसके बाद—

संयास्यत्यासु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः।

द्रव्यका भ्रम, क्रियाका भ्रम और ज्ञानका भ्रम। ज्ञानका भी एक भ्रम है। हमारे एक मित्र थे। बार-बार पहले पूछा करते थे कि— 'स्वामीजी! हमको एक महात्माने कहा था कि ज्ञानका भ्रम होता है। तो वह क्या है?'

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं करम दियो छटकाय।

सुना होगा। यह दोहा तो बहुत मशहूर है। ये जो लोग ब्रह्मज्ञान हुए बिना ही योगको, भक्तिको, धर्मको छोड़ देते हैं—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं करम दिये छटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा घोर नरकमें जाय॥

अपना जो कर्त्तव्य है, अपना जो साधन है, उसको छोड़ना नहीं चाहिए। करते जाना चाहिए और इसीमें इतना सामर्थ्य है कि आपको जो यह मालूम पड़ता है कि चेतन वस्तुमें चेतनके अतिरिक्त कोई और वस्तु है, यह भ्रम है। चेतनमें कोई क्रिया और उसको संस्कार है—यह भी भ्रम है। और चेतनमें ज्ञानकी विविधता है—ज्ञानकी विविधता भी भ्रम है और क्रिया भी भ्रम है, और द्रव्य भी भ्रम है। एक अखण्ड अद्वय ज्ञान है। तो वह कैसे प्रकट हो? बोले—

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण।

बाबा! आप चाहते हैं कि हमारा मन पवित्र हो जाय—

कथं विना रोमहर्षं।

किसीके नामकी याद आते ही आपके शरीरमें रोमाञ्च होता है? किसीसे मिलनेके लिए आपका हृदय कलेजेमें-से निकलकर गलेमें

कभी आकर लगता है? किसीके लिए आपकी आँखमें दो बूँद आँसू आते हैं? 'कथं बिना रोमहर्षं'? शरीरमें रोमाञ्च नहीं हुआ और हृदय द्रवित नहीं हुआ—

द्रवता चेतसा बिना

चित्त द्रवित नहीं हुआ और किसीका नाम लेते ही, स्मरण करते ही, ध्यान करते ही—आपको क्या इतना आनन्द रस आता है कि आनन्द रस धारा आँखोंसे बहने लगे? ठण्डे-ठण्डे आँसू बीच आँखमें-से निकल आवे, गरमागरम आँसू नहीं। ठण्डे आँसू और कोनेमें-से नहीं, बिलकुल बीचमें-से और हृदय रससे तृप्त हो। कभी ऐसा होता है?

कथं शुद्धि भक्त्या विनाशयः

बिना भक्तिके क्या आपका अन्तःकरण शुद्ध होगा?

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यति च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

जिसकी वाणी गद्‌गद है, चित्त द्रवित हो रहा है, कभी रोता है, कभी हँसता है, ज्यादा करके रोता है, कभी कसके हँसता है, निर्लज्ज होकर अपने प्यारेके नामको पुकारता है, कभी नाचने लगता है—

मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।

जिसके हृदयमें भक्ति आजाती है, तुम कहते हो न वासना! वासना कभी वशमें नहीं होती है। अरे बाबा! भगवान्‌से प्रेम नहीं है,

नर राँची मैं न लख्यो।

एक मुल्ला साहब नमाज पढ़ रहे थे। एक स्त्री अपने प्रियसे मिलनेके लिए जा रही थी। उसका लग गया पाँव। पाँव लग गया तो मुल्लासाहब नाराज हो गये। नाराज हो गये तो बोली—

नर राँची मैं न लखी।

मैं तो एक मनुष्यके प्रेममें पागल होकर जा रही थी, मैंने तुमको नहीं देखा और तुम ईश्वरके प्रेममें पागल हो और मुझको देखते हो? क्या है तुम्हारा पागलपन?

विलज्ज उद्गायति नृत्यति च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनातिं।

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजाती है, भक्ति गंगाकी धारा है। नदी जब चलती है तो उसमें एक तरंग होती है और शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही हो और नदी धीरे-धीरे बह रही हो तो क्या तरङ्गायमान होती है। प्रत्येक तरङ्गकी एक ही आकृति होती है। तो आपकी हृदयवृत्तिके तरङ्गमें एक ही आकृति हो! आप नहीं, सम्पूर्ण भुवन, सम्पूर्ण विश्व पवित्र हो सकता है। आप साबुनसे वासना धोने चले हैं। कहते हैं—'वासना नहीं धुलती है।' अरे! उपासना तो चार दिन नहीं की। वासना कहाँसे धुले? आप साबुनसे वासना धोने चले हैं। साबुनसे वासना नहीं धुलेगी। उपासनासे वासना धुलेगी। वासना धोनेका उपाय है उपासना। पहले मैंने आपको बताया था कि मनको अपने साथ नहीं मिलाना है। मनको तो डाल देना है। बेटीको अपने साथ नहीं रखना है, किसीको देना है। परन्तु भाई! बेटीको जरा योग्य बना लो और फिर दे दो। तुम बिलकुल बेफिक्र रहो। निश्चिन्त रहो। यह ध्यानकी पद्धति है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

ईश्वरकृपासे जब कोई कहता है न, कि—'तुम वही हो'—तो जितने सुननेवाले होते हैं वे सब बोलनेवालेको भी कहते हैं कि 'तुम वही हो।' है कि नहीं? अगर वक्ता बोले कि 'देखो—तुम वही हो' तो सब लोग उसकी बातको दुहरायेंगे कि 'तुम वही हो।' सबको—तुम वही, तुम वही। और सब श्रोताओंने मिलकर कहा—कि 'तुम वही हो।' तो वक्ता जो है, वह तो द्विबल-त्रिबल वही हो गया।

असलमें यह जो सर्वनाम होते हैं, उनकी महिमा है कि जब हम कहते हैं कि तुम वही हो, तो मेरा नाम 'तुम' है न? तो 'मैं वही हूँ' ऐसा बोलते हैं. और जब बोलते हैं कि 'मैं वही हूँ' तो आप सोचो कि आप लोगोंका नाम 'मैं है कि नहीं?'

आप लोग अपने लिए तो अपना नाम 'मैं'में रख छोड़ा और दूसरेका नाम 'तुम-तुम' रख छोड़ा है। तो सबका नाम 'तुम' और सबका नाम 'मैं' और सबका नाम 'वही'। तो जो तुम है, सो 'मैं' है सो 'वही' है। यह सर्वनामके अन्तर्गत जो नाम होता है, वह एकका वाचक नहीं होता, सबका वाचक होता है। मैं, तुम, यह, वह—ये सब सर्वनाम हैं। सर्वनाम माने जिसका प्रयोग सबके लिए किया जा सके। यह मैं, यह तुम-ऐसा! और परमेश्वर ही सर्वनाम है।

इदम् अहम् तत्।

अब आज एक बात आपको और सुना दूँ। वह यह है कि मनुष्यकी मनोवृत्ति कभी धर्म-प्रधान होती है, कभी अर्थप्रधान होती है, कभी कामप्रधान होती है, कभी मोक्षप्रधान होती है। त्यागकी मनोवृत्ति भी सबके अन्दर होती है। कहीं-कहीं हम जब दोस्त और दुश्मन दोनोंकी उपेक्षा कर देते हैं तो वह जो उपेक्षादृष्टि होती है, वह त्यागकी उपेक्षादृष्टि होती है। तो त्याग भी सुखका साधन है। कहीं भोग सुखका साधन है, कहीं संग्रह सुखका साधन है। कहीं धर्म सुखका साधन है।

तो एक समय ऐसा था—ऐसी हम कल्पना करते हैं कि जब लोगोंकी वृत्तिमें धर्मकी प्रधानता थी, उन्होंने आकर प्रश्न किया।

हमसे नहीं किया, हमारे दादागुरुसे किया कि—'स्वामीजी महाराज'! 'हमारे मनमें वासनाएँ हैं और दुश्चरित्रकी ओर प्रवृत्ति होती है, तो हम क्या करें?'

स्वामीजीने कहा—'अरे भाई! तेरे बाप धर्मात्मा, तेरे दादा धर्मात्मा। तूने भी संस्कार कराकर सुसंस्कृत होकर अपना नाम 'द्विज' रखा है। ऐसे समझो, 'मनुष्य' रखा है। अच्छा, मनमें वासनाएँ बहुत हैं। दुश्चरित्र बहुत हैं। तो जरा यज्ञशालामें बैठकर समय व्यतीत करो, हवन करो, व्रत करो, दान करो, धर्मके द्वारा दुश्चरित्र और दुर्वासनाओंको मिटाओ।'

आजके मनुष्योंके विषयमें यह बात आना मुश्किल है। देखो, हमसे हमारा अन्तर्यामी, हमारा ईश्वर यह बात बोलता है। कुछ यज्ञयाग करनेवाले हैं, वेदपाठ करनेवाले हैं। पाठशालाओंमें पढ़ने-पढ़ानेवाले हैं या घरोंमें ऐसे प्राचीन संस्कार हैं। तो उन लोगोंसे कह दें कि यज्ञमें, व्रतमें, जपमें, दानमें अपने मनको लगाओ तो तुम्हारी दुर्वासना धीरे-धीरे कमजोर पड़ेगी और दुश्चरित्रकी ओर तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी। परन्तु उसके मनमें दुश्चरित्रसे बचनेकी सच्ची इच्छा होनी चाहिए और धर्मके संस्कार होने चाहिए।

अब आज एक आदमी हमारे सामने आता है। धर्म पर तो उसकी आस्था नहीं है और, कहीं अन्तरङ्गमें पण्डित लोग कल्पना करते हों कि बिना धर्मकी आस्थाके कोई व्यक्ति नहीं होता है। तो वह कल्पना पण्डितके मनमें रहती है। वे बिचारे पूछनेवाले तो समझते ही नहीं है।

अब जिसकी दृष्टिमें शरीरका स्वास्थ्य ही सबसे बड़ी चीज है, उसके मनमें दुर्वासना आयी, दुश्चरित्रकी ओर प्रवृत्ति हुई, उनका नींदका आना बन्द हो गया! तो वह पण्डितजीसे या स्वामीजीसे तो पूछने जायेगा नहीं कि हमारे इस रोगकी क्या चिकित्सा है? वह तो जायेगा डॉक्टरके

पास। तो अब डॉक्टर धर्मकी दृष्टिसे उसको सलाह कहाँसे दे सकता है? वह तो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे सलाह देगा और वह संग्रहकी पूर्ति, सम्भोगकी पूर्ति इसको ध्यानमें रखकर उसको सलाह देगा। तो उसको कहीं-कहीं धर्मका उल्लंघन भी होगा। क्योंकि वह धर्माचार्य तो है नहीं और वह धर्मप्रेमी नहीं है। तो इसके सम्बन्धमें यह ज्ञात होना चाहिए कि पुराने संस्कारसे अत्यन्त अभिभूत है। तो बुरा मत मानना।

पुराने जमानेमें भी जब केवल शारीरिक दृष्टिसे वैद्यसे सलाह ली जाती थी, तो वह धर्मकी दृष्टिसे औषधकी सलाह नहीं देता था। सब आयुर्वेदके विद्वान् यह जानते हैं कि औषधियोंमें ऐसी-ऐसी वस्तुओंका प्रयोग होता है, जो धर्मके अनुरूप नहीं होती हैं। परन्तु औषधके रूपमें उनके ग्रहणकी व्यवस्था है और धर्माचार्योंने भी उसके लिए अनुमति दी है। हम एक खास बात आपसे कह रहे हैं।

तो; यदि अधिकारी धार्मिक मनोवृत्तिका न हो और सलाह धार्मिक आचार्यसे न ली जाय; अधिकारी केवल दैहिकदृष्टिवाला हो और केवल देहके चिकित्सकसे सलाह ली जाय तो वह अपने अनुरूप ही सलाह देगा। वह दूसरे प्रकारकी सलाह न देगा।

अब आप अपनी दुश्चरित्रताके बारेमें एक वकीलके पास जाइये— 'हमारे मनमें चोरी करनेकी वासना उदय होती है। धनकी वासना है और चोरीमें प्रवृत्ति होती है।' तो वकील आपको क्या सलाह देगा? वह कहेगा—भाई! यह कानूनके खिलाफ है। तुम कानूनके अन्दर रहकर चाहे जो कर लो। पकड़े मत जाना। बस! पकड़े जाओगे कोई दस्तावेज मिलेगा, कोई निशान मिलेगा, कोई गवाह मिलेगा और तुम न्यायालय जाओगे तो तुमको दण्ड जरूर मिलेगा। यह तो वह बता देगा; लेकिन वह केवल क़ानूनसे ही आपको बचानेकी सलाह दे सकता है। वह पुनर्जन्ममें आपको क्या होगा, परलोकमें क्या होगा, इसके बारेमें वह आपको कोई सलाह नहीं दे सकता। इसलिए जब आप अपनी रहनीके बारेमें किसी वकीलसे सलाह लोगे तो वह न्यायकी दृष्टिसे सलाह देगा; किसी

डॉक्टरसे सलाह लोगे तो वह आयुर्वेदकी दृष्टिसे सलाह दे देगा। अब मान लो, आपको कोई काम करना है कि नहीं करना है, इसकी सलाह आप राजनीतिक नेताकी दृष्टिसे जानना चाहें तो आप अपनी पार्टीके नेतासे पूछिये तो उसकी पार्टीकी इज्जत कैसे बढ़ेगी? और उसकी पार्टीका स्वार्थ सिद्ध कैसे होगा? इस दृष्टिसे वह आपको सलाह देगा। आपको ब्रह्मज्ञान कैसे हो जाय इस दृष्टिसे आपको सलाह नहीं देगा। या ईश्वरकी प्राप्ति कैसे हो जाय, इस दृष्टिसे सलाह नहीं देगा। आप तो जिससे सलाह लेंगे, वह अपनी दृष्टिके अनुरूप और आपकी दृष्टिके अनुरूप सलाह देगा।

तो जब मनुष्यके मनमें धर्मकी दृष्टिकी प्रधानता नहीं रही, केवल अर्थ और कामकी दृष्टिकी प्रधानता रह गयी, तो आप यह आग्रह क्यों करते हैं कि सबका अर्थ धर्म-नियन्त्रित ही हो? सबका काम धर्म-नियन्त्रित ही हो? और उसको राज्यकी दृष्टिसे न्यायनियन्त्रित, कानून-नियन्त्रित होने दीजिये। और डॉक्टरकी दृष्टिसे आयुर्वेद-नियन्त्रित होने दीजिये।

यह जो धर्मात्मापनेका संस्कार लेकर सबको धर्मात्मा बनाये रखना चाहते हैं, अन्तःकरणका एक आग्रह है, आपके अन्तःकरणकी एक बनावट है और आप यह चाहते हैं कि आपके विचारोंके अनुसार सारी सृष्टि चले। बाबा! इनको थोड़े दिन तक अर्थ-मार्ग पर चलने दीजिये। एक दिन एक सेठ मेरे पास आया। कोई दस-बीस वर्ष पहलेकी बात है। बोला कि—'इतने करोड़ रुपया इन्कमटेक्सके माँग रहे हैं हमसे।' 'हम कहाँसे देंगे इतने करोड़?'

तो अनुष्ठान बैठाया। बड़ा बारी अनुष्ठान बैठाया। एक सेठने कोई गड़बड़ की थी। सजा हो गयी चार महीने की। तो अपने यहाँ सहस्रचण्डीका पाठ हुआ, तो पचास-साठ हजार, रुपये खर्च हुए। लेकिन जब उसके मनमें गड़बड़ करनेकी थी, तब उसने वकीलसे सलाह ली थी? जब उसके मनमें गड़बड़ करनेकी थी तब उसने

डॉक्टरसे सलाह ली थी? जब उसके ऊपर मजिस्ट्रेटने सजा दी और जब अपीलमें जाना हुआ, तब उसका दृष्टिकोण जो है, धर्मकी ओर भी आकृष्ट हुआ।

उन करोड़ों रुपये इन्कमटेक्सका क्या हुआ? आपको क्या सुनावें? वह चारका दो हो गया, और दो का फिर लाखोंमें आगया और लाखोंका हजारोंमें आगया और छूट गया। अनुष्ठानसे छूटा, यह हम नहीं कहते हैं। उसने इतना उद्योग किया, इतना दबाव पहुँचाया, इतनी कोशिश की, यह बात है।

एक सज्जन थे, उन्होंने चालीस वर्ष, पैंतालीस वर्षकी उम्रमें शादी की और इतना स्त्री-सहवास किया कि पाँच-छह वर्षके भीतर ऐसी दुर्दशा उनकी हुई कि वे जवान स्त्रीको घरमें छोड़कर वृन्दावन आये और बोले—कि 'डॉक्टरोंने हमको टी. वी. बताया है। स्वामीजी! हमको कोई ऐसा अनुष्ठान बताओ कि हम बच जायँ!'

तो फिर भाई क्या हुआ? हमने कहा—'हमारे साथ रहो।' अपने साथ बैठाकर सुलाता था, अपने साथ बैठाकर खिलाता था। तो महीने-दो-महीनेमें उनको यह संविद् उत्पन्न की कि—'टी.वी. नहीं है। यदि होती तो भला, अपने साथ सुलाते? अपने साथ बैठाकर खिलाते?' उनको यह संविद् उत्पन्न की कि 'हमको टी. वी. बिलकुल नहीं है।' तो असलमें—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।

यह मनुजी बोलतें हैं कि जिसके हृदयमें अर्थासक्ति कम है, भोगासक्ति कम है, उसके लिए धर्मज्ञानका विधान है।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

धर्मकी जिज्ञासा होती है मनमें तब मनुष्यको श्रुतिकी शरणमें आना पड़ता है। आप खूब मनभर अर्थ कमाइये, आप मनभर भोग कीजिये। लेकिन जब मालूम पड़े कि इसमें तो बेरोकटोक हम काबूसे

बाहर होते जाते हैं और नियन्त्रणकी कहीं आवश्यकता है और वह डाक्टरके नियन्त्रणसे काम न चले, कानूनके नियन्त्रणसे काम न चले, तो आप आइये, धर्मके द्वारा अपने आपको नियन्त्रित कीजिये। यह मनुजीका ऐसा कहना है। यह श्लोक मनुस्मृतिका है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

तो हमारे आचार्योंका कहना है कि तुम घर-घर जाकर दवाई बेचनेवाले मत बनो। रास्तेमें चले गये और कहा—'देखो, तुमको एक रोग है। आजसे 'राम-राम' बोलो। नहीं तो मर जाओगे।' यह बतानेकी कोई जरूरत नहीं। मनुष्यके मनमें स्वयं मालूम पड़े कि अब अर्थ और सम्भोगसे, अब कुर्सी और कीर्तिसे, अब पार्टीसे, अब हमारा त्राण, कल्याण होनेवाला नहीं है, यह बात मनमें आनी चाहिए।

आपको धन कमाना हो तो अर्थाचार्यसे पूछिये। जैसे हमलोग ऋषिकेशमें, स्वर्गाश्रममें या वृन्दावनमें चलते हैं न, पचीस आदमी दाहिने-बाँये-पीछे, बल्कि धक्का लगता है कभी-कभी। बात सुननेके लिए पीछे-पीछे, दाहिने-बाँये चलते हैं और धक्का मारते हैं। ऐसे हमने देखा—'गोविन्दराम सेक्सरिया' जब 'मरीनड्राइव' पर चलते थे तो पचीस-पचास आदमी उनको घेर लेते थे और साथमें चलते थे और रुईका बाजार जैसे उनकी मुट्ठीमें रहता था। सारे हिन्दुस्तानमें चाहे दस रुपया बढ़ा दें भावका, चाहे दस रुपया गिरा दें। तो आपको यदि धन कमाना है तो किसी अर्थाचार्यकी संगति कीजिये।

और, आपको यदि सम्भोग ही करना है तो किसी सम्भोगाचार्यकी संगति कीजिये। परन्तु उधर आपको थोड़ा डर लगता हो तो, सचमुच अगर आपका अन्तर्मन कहता हो कि इसमें जानेके बाद निकल नहीं सकेंगे, कोई हमको सहारा चाहिए निकलनेके लिए, तो आपको धर्म और उपासनाकी शरण लेनी पड़ेगी। दुश्चरित्र छोड़नेमें क्रियात्मक धर्म बहुत सहायक है।

धर्ममें दो चीजका उपयोग बाह्यरूपसे होता है। जैसे देखो—हम आपको अपना सद्भाव देते हैं। 'अपने हृदयमें-से सद्भाव देते हैं।' ऐसे मैंने कह दिया। कहनेमें भी शब्दके द्वारा आपके कान तक, दिल तक कोई बात पहुँचायी। लेकिन फलमें अपना सद्भाव रखकर दे दूँ तो आपको साफ मालूम पड़ेगा कि हमको सद्भाव मिला। आपके प्रति हमारा सद्भाव है, लेकिन हाथ जोड़ लें तो आपको ज्यादा मालूम पड़ेगा कि सद्भाव हुआ। तो शब्दके द्वारा, क्रियाके द्वारा और वस्तुके द्वारा हम अपने भावको मूर्त बनाते हैं। मूर्त माने मूर्तिमान। हमारा भाव साकार होता है द्रव्यके रूपमें। फल दे दें आपको क्रियाके रूपमें और मुँहसे बोल दें। आइये-आइये! आप तो बहुत अच्छे हैं। यह हमारे सद्भावकी अभिव्यक्ति हुई।

तो; धर्मकी अभिव्यक्तिमें भी हमको द्रव्यका आश्रय लेना पड़ता है। और क्रियाका आश्रय लेना पड़ता है और शब्द माने मन्त्रका आश्रय लेना पड़ता है। इन तीनोंके द्वारा जैसे हम बाहर सद्भाव भेजते हैं, वैसे अपने हृदयमें भीतर सद्भाव भेजनेके लिए भी दूसरेको सद्भावना, सद्वासना देनेके लिए हम द्रव्य-क्रिया और शब्दका, मन्त्रका जैसे आश्रय लेते हैं, वैसे अपने हृदयमें सद्भाव भेजनेके लिए नहीं लेते तो केवल खयाली पुलाव रह जायेगा।

बलिया जिलेके पास सरयू नदी और गंगा नदी दोनों नदियाँ जहाँ मिलती हैं, उनके बीचोबीच सैंकड़ों मील भूमि बरसातके दिनोंमें पानीमें डूब जाती है। तो उसको बोलते हैं—'द्वाबा'—'दो आबा'—'दो पानी'। तो वहाँ अच्छा मकान नहीं बनाया जा सकता। सत्तू खाकर कई लोग अपना दिन व्यतीत करते हैं और रातको रोटी बनती है। एक दिन सब बच्चे मिलकर बैठे और बोले—'खेल खेलें।' तो एकने कहा—'आओ, मन-ही-मन सत्तू खायें, सत्तू!' आप लोग जानते हैं कि नहीं? यह हमारे पूर्वजोंको बड़ा सहारा देनेवाला था। वेदोंमें भी वर्णन है। सत्तू बाँधकर 'बद्रीनारायण' चले जाते थे खाते-खाते और वही खाते-खाते लौट आते

थे। छब्बीस दिन लगता था, हमारे गाँवसे बद्रीनाथ जानेमें। ट्रेनसे जाते हरिद्वार और हरिद्वारसे बद्रीनाथ सत्तू खाकर रहते थे। तो यह 'ऋग्वेद'में भी सत्तूका वर्णन है।

तो, उन्होंने कहा—'आओ, मन-ही-मन सत्तू खायें।' दूसरे लड़केने कहा—'जब मन-ही-मन खाना है, तो ऐसी कंजूसी क्यों करते हो कि सत्तू खायें? आओ, मन-ही-मन लड्डू खायें!'

जैसे अगर आपको किसीको देना हो तो दो रुपया दीजिये, बहुत बढ़िया। एक रुपया दीजिये, लेकिन जब मन-ही-मन देना हो तो आप हजार रुपया देनेमें क्यों संकोच करते हैं? तो कम-से-कम मन-ही-मन देनेमें तो उदारता बरतिये।

अच्छा, तो यह धर्म जो है, वह यदि दूसरोंके प्रति किया जाय तो दूसरोंके हृदयमें सद्भाव भरता है। और अपने प्रति किया जाय तो अपने हृदयमें सद्भावको भरता है। हमारे जीवनमें सेवा-सेवात्मक श्रमकी प्रतिष्ठा होवे—हमारा समय स्वार्थके श्रमसे भरना, यह दूसरी चीज है और सबकी सेवासे अपने जीवनको भरना यह दूसरी चीज है।

परन्तु, अपने मनमें सद्भावना कहाँसे भरें? उसके लिए थोड़ी क्रिया करके और थोड़ी वस्तुका उपयोग करके और थोड़े मन्त्र आदि बोल करके अपने हृदयमें सद्भावकी प्राणप्रतिष्ठा करें। यदि जरूरत हो तो—और इसके लिए गाँव-गाँवमें कहते फिरनेकी जरूरत नहीं है। तो दूसरोंको देखनेमें मनुष्य कभी-कभी अपने आपको भूल जाता है। यदि अपने आपको देखनेमें इतने प्रवीण, इतने निष्ठावान् हो चुके हैं कि दूसरोंको देखने-कहनेमें आप अपनेको नहीं भूल जाते, तो आप भले दूसरोंको देखिये, करिये। आपको यदि ऐसी वासना है तो उसको कौन रोक सकता है?

एक दूसरी बात है—सारी दुनियाका यह आक्षेप है—खास करके हमारे हँसिया-फावड़ावाले जो भाई हैं, आप जानते ही हैं—तो उन लोगोंका कहना है कि यह धर्म और अध्यात्म-यह व्यक्तिवादी वस्तु है।

जैसे एक धनी अपने लिए धन चाहता है और अपनेको बड़ा बनाता है। वैसे एक महात्मा अपने धर्मको अपने लिए चाहता है और अपनेको बड़ा बनाता है। तो जो चीज अपनेको बड़ा बनानेके लिए होती है, वह समाजके लिए जहर हो जाती है। तो वह खुले आम कहते हैं कि यह धर्म जो है, यह तो विष है। तो हम आपको इस बातके लिए सावधान-सावधान नहीं, एक दृष्टिकोण जो अपने यहाँ है, खास करके वह देते हैं।

आप जानते हैं कि 'ईसाई' धर्ममें ईश्वरको केवल निराकार माना जाता और सप्ताहमें एक बार भी यदि उसको हाजिरी दे दी जाय तो मनुष्यके कर्तव्य पूरे हो सकते हैं। उसका स्थूल जगत्से, साकार जगत्से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। उसने एक वार बना लिया। अब आप हफ्तेमें एक बार उसके लिए कृतज्ञ हो लें। हाजिरी दे दें।

आपको यह भी मालूम है कि 'इस्लाम' धर्ममें ईश्वरका जो स्वरूप है। वह इतना निराकार है कि यदि उसकी कोई मूर्ति बना दी जाय तो वह मूर्ति बनानेवालेको काफिर कहकर मार डालते हैं। यह उस मजहबमें ईश्वरको मूर्ति देना कुफ्र है, कुफ्र! कुफ्र माने अपराध। जो कुफ्र करे सो काफिर। माने, जुर्म किया—तुमने मूर्ति-पूजा की। माने तुमने कुफ्र किया। तुम काफिर हो और काफिरको सजा देना भी उचित है—उनके धर्ममें।

देखो—आप धर्मकी तरफ एक दृष्टि डालो। कह सकते हैं कि जो ईश्वर स्थूलताका स्पर्श नहीं करता है, वह ईश्वर व्यक्तिका हितकारी हो सकता है? यदि हम उसका ध्यान करें, भजन करें, उपासना करें तो हम केवल व्यक्तिलीन-व्यक्तिनिष्ठ होकरके और वहाँ उसको पा सकते हैं। पाने पर भी व्यक्तिनिष्ठ रह सकते हैं। हम आपका ध्यान इधर आकृष्ट करते हैं। यह असलमें ध्यान देनेकी वस्तु है।

सब धर्म सबका भला चाहते हैं, समान हैं। हम सबका समन्वय भी करना चाहते हैं। किसी राग-द्वेषका प्रचार-प्रसार हम नहीं करना चाहते हैं। परन्तु जब विवेक करना पड़ता है, तो यह बात देखनी पड़ती

है कि 'वैदिक' धर्ममें—'वैदिक' कहनेमें अगर आपको आपत्ति हो तो 'सनातन धर्म'में—'सनातन धर्म' कहनेमें भी यदि आपको आपत्ति हो तो 'भारतीय धर्म'में और आपको 'भारत'से भी कुछ लेना-देना न हो तो कहो—'हमारे धर्म'में। हमको भाषासे उतना लगाव नहीं है। जहाँ गलत होती हो, वहाँ उसको सुधार लीजिये। हमारे यहाँ तो कोटि पर कोटि परिष्कार करते जाते हैं एक शब्दका प्रयोग गलत होता है तो दूसरा करते हैं। वह गलत होता है तो तीसरा करते हैं। हमारे पण्डितोंमें यह रिवाज है। पर आप इस बातको न भूलें कि हमारा संस्कार यह है कि—

जन्माद्यस्य यतः।

यह सारी सृष्टि ईश्वरसे ईश्वरमें पैदा हुई है। ईश्वरके प्रकाशसे ईश्वरमें रह रही है। ईश्वरके प्रकाशसे ईश्वरमें लीन हो जाती है।

अर्थात् समग्र सृष्टि ईश्वरसे भिन्न नहीं है। इस सृष्टिके रूपमें जगदीश्वर ही है। आप यदि विलायतसे धर्म सीखेंगे—हम सीधी बात आपको बोलते हैं। तो यह जो हमारे परमेश्वरकी अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता है, दूसरे लोग जहाँ ईश्वरको कुम्हार मानते हैं। घड़ा नहीं, वहाँ हमारा धर्म-कुम्हारके रूपमें भी ईश्वर और घड़ेके रूपमें भी ईश्वर मानता है।

बौद्ध और जैन कुम्हार नहीं मानते हैं। देखो, चार्वाक् जो है वह घड़ा मानता है, कुम्हार नहीं और बौद्ध कुम्हार और घड़ा दोनों नहीं मानते। जैन चेतन और घड़ा जीव-घड़ेमें पानी पीनेवाला और घड़ा दोनोंको तो मानते हैं, लेकिन कुम्हारको नहीं मानते हैं। ईसाई-धर्म कुम्हारको मानता है; परन्तु घड़ेके साथ क्या सम्बन्ध है? अभिन्ननिमित्तोपादान वह घड़ेका—वह घड़ेके रूपमें ही—स्वयं कुम्हार ही घड़ेके रूपमें दीख रहा है। यह बात हमारे—

जन्माद्यस्य यतः।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

इसके सिवाय और कहीं नहीं है। क्या संसारमें ऐसा कोई मजहब,

ऐसा कोई धर्म, ऐसा ही कोई धर्म पुस्तक है जो आत्माको देहनिष्ठासे निकालकर, देहके गड्ढेमें गिरा हुआ, देहके जेलखानेमें बन्द, देहकी रस्सीसे बँधा हुआ जो 'मैं' है, उस देहको 'मैं'से छुड़ाकर परमात्मासे एक कर दे और परमात्मासे एक होनेके बाद दुनियाके सारे शरीर एक हो जायें।

वेदान्तकी महिमा आप जरा देखो। केवल इस देहको बचा लेना—वेदान्तका इतना ही अभिप्राय नहीं है। वेदान्तका अभिप्राय है कि एक देहमें-से 'मैं'पनेको निकालकर और ब्रह्ममें-अद्वितीय ब्रह्ममें 'मैं'को प्रतिष्ठित करके और फिर ब्रह्मसे भिन्न जगत् कुछ नहीं है—अर्थात् सब वही है। हमारा चलना-फिरना-बोलना, हमारा पड़ोसी, एक चाण्डाल और ब्राह्मण, एक कीड़ा और ब्रह्मा—

चाण्डालोस्तु शतोद्विजोस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।

स्वर्ग देवता और मर्त्यलोकका प्राणी, ब्रह्मलोकका ब्रह्मा और नरकका कीड़ा—दोनों जिस दृष्टिसे एक हो जाता है—एक होनेका अर्थ मटियामेट होना नहीं है।

हमारे व्यवहारमें इतना सद्भाव, इतनी सेवा--जैसे हम अपने शरीरकी सेवा करते हैं, वैसे हम समग्र विश्वकी सेवा करते हैं। आप ध्यान देना। आप उस दोषारोपणको अपने ऊपर स्वीकार करते हैं जो नास्तिक लोग, जो कम्युनिस्ट लोग, मार्क्सवादी लोग, चार्वाक-मतानुयायी लोग जो आपके ऊपर डालते हैं, क्या आप उस दोषारोपणको स्वीकार करते हैं कि अध्यात्मकी स्थिति माने 'मैं'की एक व्यक्तिगत एकान्त कमरेमें स्थिति? यदि आप यह स्वीकार करते हैं तो उनके आक्षेपको स्वीकारते हैं और तब आप सचमुच व्यक्तिवादी धर्मात्मा हो जाते हैं और तब आप सचमुच व्यक्तिवादी धर्मके अन्दर हो जाते हैं और व्यक्तिवादी अध्यात्मके अन्तर्गत हो जाते हैं। और यह धर्म? हम घोषणा करते हैं, भरी सभामें बोलते हैं भविष्य बताते हैं कि जिन धर्मोंकी निष्ठा व्यक्तिमें ही है, अपनी परिच्छिन्नतामें ही है—वे

धर्म अबसे दस वर्षके बाद नहीं रहनेवाले हैं। हमको भविष्य सूझता है। आप उस धर्मको स्वीकार कीजिये जो आपको व्यक्तिगत अहंतासे मुक्त करके अद्वय सत्यसे एक करके और आपको सबके साथ एक कर देता है।

आज समस्याएँ जगत्में आगयी हैं जो इससे पहले कभी आयी होंगी। प्रागैतिहासिक अनुसन्धान करनेवाले लोग माने भूतकी कल्पना करनेमें निपुण जो लोग हैं वे उसका अनुसन्धान करें कि पहले भी ऐसी स्थिति-परिस्थिति आयी और इतिहास आवृत्ति करता है—

संवत्सरेण धर्माणां परिवर्तनं भवति।

वह सब ठीक है महाराज! वह सब करते रहें। यह धर्म अमुक देशमें पैदा हुआ और वहाँसे यहाँ आया। यहाँ पैदा हुआ, वहाँ गया। यह सब आप भौगोलिक अनुसन्धान करते रहें। आपको छुट्टी है। क्योंकि आपको पी-एच. डी. करना है। तो ऐसा कुछ-न-कुछ अनुसन्धान तो करना ही पड़ेगा।

इसका पहला आचार्य कौन है? और उसका चेला कहाँ हुआ? और उसने किस कन्दरामें बैठकर इस धर्मका आविर्भाव किया था? और कितने बजकर कितने मिनट पर? और वह गोरा था कि काला था? वह चाण्डाल था कि ब्राह्मण था? यह अनुसन्धान आप करते रहें। लेकिन यह सब हम नहीं जानते। न हम आचार्यको जानते हैं और, सनातनका आचार्य क्या होता है?

न हम आचार्यको जानते हैं, न हम भूगोलको जानते हैं, न हम इतिहासको जानते हैं। हम यह जानते हैं कि जिस धर्ममें द्वैतकी प्रतिष्ठा होगी, और जिसमें अपने-परायेका भेद होगा, अब वह अपनी असलियत रखनेमें समर्थ नहीं होगा। अब वह युग आगया। यह वैज्ञानिक उन्नति हमको दिन-दिन, रात-रात इसकी चेतावनी देती है। तो ऐसी स्थितिमें आप सब धर्मोंकी कल्पनाके समान इस धर्मकी कल्पनाको भी समझ करके कि यह धर्म भी व्यक्तिवादी है, केवल इस आचार्यकी

मान्यता है, केवल इस सम्प्रदायकी रहनी है, केवल इस कालकी उद्भावना है—ऐसा मान करके इस धर्मको व्यक्तिनिष्ठ न बनावें। इस उपासनाका फल व्यक्तिवादमें न मानें। उसको अव्यक्तमें लीन करके बैठ जाना वैसा ही है, जैसे कमरेके किवाड़ोंको बन्द करके बैठ जाना। और यह सोचना कि अब दुश्मन हमारे पास नहीं आवेंगे। या हमारे कमरेमें आग नहीं लगेगी। भले गाँव जल जाय तो जल जाय! यह जो आँख बन्द करके बैठना है ठीक ऐसा ही है जैसे आपने अपना रूम बन्दकर लिया और सोच लिया कि अब पुलिस हमारे पास तक नहीं आ सकती। डाकू हमारे पास तक नहीं आ सकता। आग हमारे पास तक नहीं आ सकती। अब हम बिलकुल सुरक्षित हो गये।

यह जो हमारी परिच्छिन्नताके रहते भीतरके रूपके बीचके माँय बन्द होना है, यह बन्द होना व्यक्तिधर्म है, परिच्छिन्न धर्म है और कोई भी परिच्छिन्न वस्तु शाश्वत नहीं होती है। तो ऐसी स्थितिमें एक ऐसा दिव्य प्रकाश चाहिए कि जो इतना तेज, इतना-इतना उज्ज्वल, इतना घना हो कि उसमें समग्र-सृष्टि प्रकाशसे जुदा न रहे। एक बार आप उस बिजलीको देख लीजिये जिससे अलग पदार्थ नहीं होते हैं। एक बार उस पदार्थको देख लीजिये जिससे अलग बिजली नहीं होती।

ईषेत्वा ऊर्जेत्वा।

यजुर्वेद संहिताका पहला मन्त्र—'ईषेत्वा ऊर्जेत्वा'—ऊर्जा जिसको आप लोग 'एनर्जी' बोलते हैं, एनर्जी—इसके लिए शब्दका प्रयोग करता है 'ऊर्जा'। तो एक जहाँ पदार्थ और शक्तिका भेद नहीं रहता, लेकिन फिर भी वह पदार्थ और शक्ति ज्ञानात्मक ही है कि नहीं? शक्तिका विवर्त पदार्थ है, पदार्थका विवर्त शक्ति है। लेकिन ये दोनों उस शक्तिके विवर्त हैं। उस स्वरूपके विवर्त माने जिस अखण्ड अद्वय घनतत्त्वमें—घन माने ठसाठस, भला! अब जिसमें कील न ठोंकी जा सके, जिसमें अवकाश न हो। उसको बोलते हैं 'घन'। उस सच्चिदानन्द घनतत्त्वमें यह पदार्थ और शक्ति—यह ऊर्जा! यह ऊर्जा

और द्रव्य—ये दोनोंके दोनों ऐसे विवर्त हैं, ऐसे विवर्त हैं और इस विवर्तका अर्थ बिलकुल आँख बन्द करके बैठना नहीं है।

इसका अर्थ है कि इस ज्ञानसे—इस ज्ञानको जिसने प्राप्त कर लिया, जिसका अज्ञान इस सम्बन्धमें मिट गया, वह शूद्रकी तरह सफाईका काम कर सकता है। वह वैश्यकी तरह व्यापार कर सकता है। क्षत्रियकी तरह युद्धभूमिमें गोली मार सकता है, वह ब्राह्मणकी तरह वेदपाठ कर सकता है। वह संन्यासीकी तरह पहाड़की चोटियों पर चढ़ सकता है। वह वानप्रस्थकी तरह निवृत्ति-परायण जीवन व्यतीत कर सकता है। वह गृहस्थकी तरह बाल-बच्चे पैदाकर सकता है और वह ब्रह्मचारीकी तरह सेवापरायण हो सकता है। वह अद्वैत जो किसीका विरोधी नहीं है, उस अद्वैतका बोध बुर्जुआ धर्म नहीं है। वह धर्म विष नहीं है। वह धर्म संसारकी किसी भी परिस्थितिका विरोधी नहीं है।

यह आप लोग जो धर्मको खींच-खींच करके धर्मकी मिट्टी पलीद कर रहे हैं कि अद्वैतके साथ जो उसका सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको ही काट देते हैं। इसी धर्मको आजकलके लोग कहते हैं कि विष है। इसी धर्मको लोग कहते हैं—'आत्मलीन है।' यदि आप धर्मको बचाना चाहते हैं तो धर्मका जो अद्वैत-अद्वैतानुकूल, अद्वैतानुगुण जो धर्म है और ध्यानका जो अद्वैतानुगुण जो धर्म है और उपासनाका जो अद्वैतानुगुण धर्म है और जहाँ ज्ञान और अद्वैतमें ज्ञान ही अद्वैत है, अद्वैत ही ज्ञान है। ज्ञान अद्वैतके अनुगुण नहीं होता। ज्ञान अद्वैत-स्वरूप है क्योंकि आत्मा अद्वैत-स्वरूप है।

ध्यान अद्वैतके अनुगुण होता है। अभ्यास अद्वैतके अनुगुण होता है। उपासना अद्वैतके अनुगुण होती है। धर्म अद्वैतके अनुगुण होता है जिससे सर्वात्मा विश्वात्मा सबके साथ कीट-पतंगके साथ भी, ब्रह्मा-विष्णु-महेशके साथ भी एकात्मकी प्राप्ति होती है और व्यवहारमें कोई परिवर्तन-परिवर्धन, निरोध-विरोध-अनुरोध किसीकी जरूरत नहीं रहती। उस वस्तुके साथ, उस अद्वय ज्ञानके साथ मिलाकर आपका ज्ञान-

ध्यान चलेगा तो वह व्यक्तित्वका पोषक नहीं होगा, पार्टीका, दलका पोषक नहीं होगा। फिर भौगोलिक झगड़े, नहीं हैं, ऐतिहासिक संस्कृतिके झगड़े नहीं हैं। आचार्यमूलक पन्थ-ग्रन्थके झगड़े नहीं हैं।

यह अद्वैतानुगुण धर्म ही शाश्वत और सनातन रह सकता है और ये छोटे-छोटे घेरेके जो धर्म हैं, ये शाश्वत और सनातन नहीं हो सकते।

तो नारायण, साधना? आपकी साधना यदि राग-द्वेषसे ऊपर उठती है, व्यक्तित्वसे ऊपर उठती है और वर्तमान कालमें जो ईश्वर पर आक्षेप किये जा रहे हैं, उनसे मुक्त होना है, तो अब वह आँख बन्द करके और बिल्लीके आक्रमणसे बचनेवाली बात नहीं चल सकती। अब तो बिल्ली भी महाराज! मुट्ठीमें होनी चाहिए। हमारी मुट्ठी इतनी बड़ी होनी चाहिए कि हम आँख बन्द करके उससे नहीं बचें। बल्कि उसका भी अन्तर्भाव हमारे स्वरूपमें हो जाना चाहिए। हमारा धर्म, हमारा ध्यान, हमारा अभ्यास, हमारी उपासना, हमारा ज्ञान अद्वय तत्त्वसे एक होना चाहिए और उसमें सब पार्टियोंका सब सम्प्रदायोंका अपने-अपने स्थान पर समावेश होना चाहिए। हमारा अद्वैत व्यक्तित्वका पोषक नहीं, व्यक्तित्वको अव्यक्तमें, अव्यक्तमें नहीं, सर्वात्मामें, सर्व द्रव्यमें, सर्व कर्ममें, सर्वभाव, सर्व अभ्यासमें, सर्व ध्यानमें, सर्व तत्त्वमें मिला देनेवाला है। और, यह जो हमारा धर्म है, यह कभी न कम्युनिजमका शिकार होगा, न नास्तिकताका शिकार होगा। उनकी सिद्धि भी इसके बिना नहीं हो सकती।

इसलिए अपने धर्मोंमें जो दकियानूसी विचारधारा है, यह जो संकीर्ण पन्थाई पोंगापन्थी कपोलकल्पित दृष्टिकोण है, इस दृष्टि-कोणको छोड़ करके परम उदार अपने स्वरूपमें स्थित होकर इसको व्यवहारमें उतरने दीजिये।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

●

ध्यान और ज्ञान

योग, सांख्य, भक्ति, मीमांसा, वेदान्त सभी की ध्यान की अपनी-अपनी परिभाषाएँ हैं। वेदान्तमें कहते हैं जो ध्यान लगानेसे लगता है और छूट जाता है वह अपना स्वरूप नहीं होगा। आइये सभी मतोंके 'ध्यानका पारिभाषिक रूप जानें।...

ज्ञान न आकृति है, न आचार्यमें, न सम्प्रदायमें, न इतिहासमें, न भूगोलमें। ज्ञान स्वरूप तो अखण्ड है, अद्वय है।

ध्यान ज्ञानमें अन्य विषयोंको हटानेके द्वारा सहायक है, और ज्ञान ध्यानमें कैसे सहायक है?

अच्छा! ध्यान और ज्ञान साथ-साथ रहते हैं? यह स्थिति कौन-सी है?

आइये! इन प्रश्नोंको विविध प्रकारसे समझने और अपने जीवनमें उतारनेके लिए पढ़ें-ध्यान और ज्ञान!

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337